

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५६

सम्पादक

प्रो० सागरमल-जैन



जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन



डॉ० शिवप्रसाद

सच्चं लोगमि सारमूयं



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५६

संपादक :

प्रो. सागरमल जैन

जैन तीर्थों का ऐतिहासिक अध्ययन (विविध तीर्थकल्प के संदर्भ में)

लेखक :

डा० शिवप्रसाद

रिसर्च एसोसिएट

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

पार्श्वनाथ विद्याश्रम ग्रन्थमाला : ५६
ग्रन्थमाला सम्पादक :
प्रो० सागरमल जैन

Parshvanath Vidhyashram Series : 56
Jain Tīrthon kā Aitihāsika Adhayayana
Dr. Shiva Prasad

Published by :
P. V. Research Institute
Varanasi-221005

First Edition : 1991
Price : Rs. 100.00

©
प्रकाशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-२२१००५

मुद्रक
प्रथम संस्करण : १९९१ डिवाइन प्रिंटर्स
मूल्य : १००.०० वाराणसी-१

प्राच्य जैन विद्या के समुद्धारक
पद्मश्री मुनि जिनविजय जी
(१८८८ ई०—१९७६ ई०)
को
सादर समर्पित

प्रकाशकीय

तीर्थ किसी भी धर्मपरम्परा के प्राण माने जाते हैं। जैन धर्म में भी तीर्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है और तीर्थ सम्बन्धी अनेक रचनायें लिखी गयीं। आधुनिक काल में भी त्रिपुटी महाराज द्वारा लिखित **जैन तीर्थोन्नो इतिहास**, पं० अम्बालाल पी०शाह द्वारा लिखित **जैनतीर्थसर्वसंग्रह** तथा मद्रास की श्वेताम्बर जैन संस्था द्वारा प्रकाशित **तीर्थदर्शन** एवं दिगम्बर परम्परा में पं० बलभद्र जैन द्वारा लिखित **भारतवर्ष के दिगम्बर जैनतीर्थ** आदि कई ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। यद्यपि इन ग्रन्थों में तीर्थों के विवरण के साथ-साथ उनका संक्षिप्त इतिहास भी देने का प्रयास किया गया है, किन्तु उनमें इतिहास की अपेक्षा अनुश्रुतियों पर ही अधिक बल दिया गया है। वस्तुतः जैन तीर्थों के सम्बन्ध में शोधपरक दृष्टि से अभी तक कुछ लेखों को छोड़कर बहुत कम लिखा गया है। इस सम्बन्ध में डा० शिवप्रसाद ने **विविधतीर्थकल्प** को आधार बनाकर शोधपरक दृष्टि से जैन तीर्थों का विवेचन अपने शोधप्रबन्ध में किया था जिस पर उन्हें काशी हिन्दू विश्वविद्यालय द्वारा पीएच० डी० की उपाधि प्रदान की गई। उनके इस शोध निबन्ध को प्रकाशित करने में साम्प्रदायिक अभिनिवेशों के कारण कुछ बाधाएँ आती थी। चूँकि पार्श्वनाथ विद्याश्रम का प्रारम्भ से ही सम्प्रदायनिरपेक्ष और शोधपरक दृष्टिकोण रहा है, अतः हमने इसके प्रकाशन का निर्णय लिया। डा० शिवप्रसाद ने न केवल प्रकाशन हेतु ग्रंथ संस्थान को समर्पित किया अपितु उसके प्रकाशन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में भी वे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जुड़े रहे। उसके लिए हम उनके आभारी हैं। प्रकाशन प्रक्रिया में संस्थान के निदेशक प्रो० सागरमल जैन ने भी अपना पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। सुचारु रूप से मुद्रण के लिए डिवाइन प्रिन्टर्स के भी आभारी हैं।

भूपेन्द्रनाथ जैन

मन्त्री

पा०वि० शोध संस्थान, वाराणसी

आमुख

जैनधर्म भारतवर्ष के अतिप्राचीन और जीवन्त धर्मों में से एक है। ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म में भी तीर्थों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन तीर्थों के सम्बन्ध में श्वेताम्बर जैन परम्परा में आगमों, उनकी नियुक्तियों, चूर्णियों, भाष्यों और टीकाओं में तथा दिगम्बर परम्परा के विभिन्न ग्रंथों यथा—तिलोयपण्णत्ती, पुराण साहित्य एवं कथा ग्रंथों में बहुत कुछ सामग्री प्राप्त होती है। तीर्थों के सम्बन्ध में स्वतंत्र रचनाओं का प्रारम्भ ईसवी सन् की ११वीं शती से माना जाता है, इसके बाद से दोनों सम्प्रदायों में चैत्य परिपाटी, तीर्थयात्राविवरण, तीर्थमालाएँ, तीर्थस्तवन आदि अनेक रचनायें निर्मित हुईं। जिनप्रभसूरिकृत कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थ-कल्प इन सभी रचनाओं में सर्वश्रेष्ठ है। चूँकि जैन तीर्थों पर शोधपूर्ण दृष्टि से लेखनकार्य का प्रायः अभाव ही है। मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ इस अभाव की पूर्ति में सहायक सिद्ध होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे शोध प्रबन्ध का संशोधित रूप है। यह नौ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय विषयप्रवेश भूमिका स्वरूप है, जिसमें पूर्व के शोध कार्यों का सर्वेक्षण, स्रोत सामग्री और अध्ययन शैली आदि का विवेचन है। द्वितीय अध्याय में ग्रंथकार और ग्रंथ का विस्तृत परिचय दिया गया है। कल्पप्रदीप में तीर्थविषयक सामग्री के अध्ययन की आवश्यक पृष्ठभूमि के रूप में तृतीय अध्याय में ईसा पूर्व छठीं शती से लेकर चौदहवीं शती तक जैन धर्म के प्रचार-प्रसार का एक संक्षिप्त सर्वेक्षण प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ अध्याय में तीर्थों का परम्परागत एवं प्रदेशानुसार विभाजन किया गया है। परम्परागत विभाजन में तीर्थों को कल्याणक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशय क्षेत्र में बाँटा जाता रहा। प्रस्तुत ग्रंथ में प्रदेशानुसार विभाजनशैली को अपनाया गया है। इसके पाँच विभाग किये गये हैं—उत्तरभारत, पूर्व-भारत, मध्यभारत, पश्चिमभारत और दक्षिणभारत। आगे के शेष

पांच अध्यायों में इन्हीं विभागों के तीर्थों का वर्णक्रमानुसार अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

कल्पप्रदीप में कुछ ऐसे भी तीर्थों का उल्लेख आया है, जिनके बारे में हमें अन्य ग्रंथों से तो कोई मदद नहीं मिलती, परन्तु पुरा-तात्त्विक प्रमाणों से उनका जैनतीर्थ होना स्पष्ट है। इस सम्बन्ध में चन्देरी का विशेषरूप से उल्लेख किया जा सकता है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के लेखन में मुझे विभिन्न विद्वानों का जो सहयोग मिला है, उसके लिए मैं उनका अत्यन्त आभारी हूँ। उन विद्वानों का, जिनकी कृतियाँ इस रचना में सहायक रही हैं, ग्रंथ की पाद-टिप्पणियों में यथासंदर्भ उल्लेख है और ग्रंथ सूची में भी उनके नाम तथा उनकी कृतियों को समाविष्ट किया गया है। प्रस्तुत ग्रंथ के सुचारु रूप से लेखन और सम्पादन के सम्बन्ध में अपने पूज्य गुरु प्रो० जगदीश नारायण तिवारी, प्रो० सागरमल जैन और प्रो० एम०ए० ढाकी के प्रति कृतज्ञताज्ञापन उनके महत्त्व को कम करना होगा। शोधकार्य के समय मुझे अपने विभाग के सभी गुरुजनों और पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के अधिकारियों का सक्रिय सहयोग प्राप्त रहा और उनके द्वारा सदैव प्रोत्साहन मिलता रहा, जिसे मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ।

पूज्य पं० दलसुखभाई मालवणिया, प्रो० कृष्णदत्त बाजपेयी, डा० हरिप्रसाद शास्त्री, स्व० श्री अगरचन्द जी नाहटा, श्री भँवर लाल जी नाहटा, स्व० श्री कैलाशचन्द्र जी शास्त्री, पं० श्री जयराम शास्त्री, डा० हरिहर सिंह आदि का भी मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिन्होंने विभिन्न अवसरों पर तत्परतापूर्वक अपनी सहायता और परामर्श से मुझे लाभ पहुँचाया है। इस सम्बन्ध में मैं अपने वरिष्ठ मित्रों डा० रमेश चन्द्र गुप्त, डा० अरुण प्रताप सिंह, डा० रवीन्द्रनाथ मिश्र, डा० सीता राम दुबे और डा० जगदम्बा प्रसाद उपाध्याय के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिन्होंने मुझे विभिन्न प्रकार की सहायता प्रदान की।

इस ग्रन्थ के प्रकाशन का पूर्ण श्रेय पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान के प्राण प्रो० सागरमल जैन को है, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के उपरान्त भी इस प्रकाशन को संभव बनाया।

रामनवमी, २०४९

—शिव प्रसाद

विषयानुक्रमणिका

प्रकाशकीय (iii)

आमुख (iv)

प्राक्कथन (१)

प्रथम अध्याय : विषय प्रवेश : १-१३

पूर्व के अध्ययनों का सर्वेक्षण-४, जैन तीर्थों के इतिहास की स्रोत सामग्री-७, साहित्यिक साक्ष्य-७, पुरातात्विक साक्ष्य-१०, (i) अभिलेखीय साक्ष्य-१०, (ii) जैन पुरावशेष-११

द्वितीय अध्याय : ग्रन्थकार और ग्रन्थ का परिचय : १४-२५

जिनप्रभसूरि का संक्षिप्त जीवन परिचय-१४, विविधतीर्थकल्प का परिचय-१८

तृतीय अध्याय : जैन धर्म का प्रसार : ऐतिहासिक सर्वेक्षण : २६-६०

जैन धर्म का प्रारम्भिक प्रसार-२७, उत्तर भारत में जैन धर्म-३३ दक्षिण भारत में जैन धर्म-४१, गुजरात-काठियावाड़ में जैन धर्म-४५

चतुर्थ अध्याय : तीर्थों का विभाजन : ६१-७३

तीर्थ शब्द का अर्थ-६१ १. उत्तर भारत-६८, २. पूर्व भारत-६९, ३. मध्य भारत-६९, ४. पश्चिम भारत-७०, (अ) राजस्थान-७०, (ब) गुजरात-सौराष्ट्र-७०, ५. दक्षिणापथ और दक्षिण भारत-७१, (अ) महाराष्ट्र-७१, (ब) आन्ध्र प्रदेश-७२, (स) कर्णाटक-७२, (द) केरल-७२

पंचम अध्याय : उत्तर भारत के जैन तीर्थ : ७४-१२०

१. अयोध्यानगरीकल्प-७४, २. अहिच्छत्रानगरीकल्प-८१, ३. काम्पिल्यपुरकल्प-८५, ४. कौशाम्बीनगरीकल्प-८९, ५. चन्द्रावती-९२, ६. प्रयाग-९५, ७. मथुरापुरीकल्प-९८, ८. रत्नवाहपुरकल्प-१०३, ९. वाराणसीनगरीकल्प-१०४, १०. विन्ध्याचल पर्वत-११०, ११. श्रावस्तीनगरीकल्प-१११, १२. शौरीपुर-११५, १३. हस्तिनापुरकल्प-११७

(VIII)

षष्ठम अध्याय : पूर्व भारत :

१२१-१४६:

(अ) बिहार—१. कुण्डग्राम-१२१, २. कोटिशिलातीर्थ-१२३, ३. चम्पापुरीकल्प-१२५, ४. पाटलिपुत्रनगरकल्प-१२९, ५. पावा-पुरी-१३५, ६. मिथिलापुरीकल्प-१३७, ७. वैभारगिरिकल्प-१४०, ८. सम्मैतशिखर-१४३, (ब) बंगाल—१-२. पुण्ड्रपर्वत और कोटिभूमि-१४७, (स) उड़ीसा—१. कलिङ्गदेश-१४८, २. माहेन्द्र पर्वत-१४९

सप्तम अध्याय : मध्य भारत :

१५०-१७३

१. अवन्तिदेशस्थ अभिनन्दनदेवकल्प-१५०, २. ओंकारपर्वत-१५२ ३. कुंडुगेश्वरनाभेपदेवकल्प-१५३ ४. चन्देरी-१६०, ५. ढीपुरी तीर्थ-१६५, ६. दशपुर-१६९, ७. विदिशा-१७१

अष्टम अध्याय : पश्चिम भारत :

१७४-२६६

(अ) राजस्थान—१ अर्बुदगिरिकल्प-१७५, २. उपकेशपुर-१७९ ३. करहेटक-१८४, ४. नन्दिवर्धन-१८५, ५. नागहृद-१८९, ६. नाणा-१९१, ७. पाली-१९१अ, ८. श्रीफलवर्द्धिकापार्श्वनाथ कल्प-१९५, ९. मुण्डस्थल-१९८, १०. शुद्धदन्तीस्थितपार्श्वनाथ कल्प-२००, ११. सत्यपुरतीर्थ-२०२, (ब) गुजरात सौराष्ट्र— १ अजाहरा-२०७, २. अम्बुरिणीग्राम-२०८, ३. अणहिलपुर-स्थित अरिष्टनेमिकल्प-२०८ ४. अश्वाबबोधतीर्थ-२१२, ५. उर्ज-यन्तगिरि-२१६, ६. काशहृद-२२०, ७. कोकावसति पार्श्वनाथ कल्प-२२४, ८. खेटक-२२८, ९. खज्जारगढ़-२३०, १०. तारण (तारङ्गा) २३१, ११. द्वारका-२३५, १२. नगरमहास्थान-२३६, १३. पाटलानगर-२३८, १४. प्रभासपाटन-२४०, १५. मोढेरक (मोढेरा) २४३, १६. रामसैन-२४५, १७. वलभी-२४७ १८. वायड-२५०, १९. शत्रुञ्जयकल्प-२५२, २०. शंखेश्वर पार्श्वनाथकल्प-२५७, २१. सिंहपुर-२६१, २२. स्तम्भनक-कल्प-२६२, २३. स्तम्भतीर्थ-२६४

नवम अध्याय : दक्षिण भारत :

२६७-२८६

(अ) महाराष्ट्र—१. कोल्हापुर-२६७, २. डाकिनीभीमशंकर-२६९, ३. नासिक्यपुरकल्प-२७०, ४. प्रतिष्ठानपत्तनकल्प-२७२

(IX)

- ५ श्रीपुरअन्तरिक्षपाश्वर्नाथकल्प-२७६, ६. सूपारिक-२७९
(ब) आन्ध्रप्रदेश — १. आमरकोण्डपद्मावतीदेवीकल्प-२८१
२. कुल्पाकमाणिक्यदेवकल्प-२८३, ३. श्रीपर्वत-२८५,
(स) कर्णाटक— १. किष्किन्धा-२८६, २. दक्षिणापथ गोम्मटेश्वर
बाहुबलि-२८७, ३. शंखजिनालय-२८७।
(द) केरल — १. मलयगिरि ।

सहायक ग्रन्थ सूची

२६०-३१०

१. जैन आगम-२९०, २. अंगबाह्य जैन साहित्य २९२, प्रशस्तिया
२९५, ग्रन्थ सूची २९५, पट्टावलियाँ २९६, विदेशी यात्रियों के
विवरण २९६, जैन अभिलेख सम्बन्धी ग्रन्थ २९६, ब्राह्मणीयग्रन्थ
२९२, बौद्ध ग्रन्थ १९७, आधुनिक ग्रन्थ और लेख सूची २९८

अकरादि क्रमसूची

३११-३३६

१. मुनि आचार्यादि सूची-३११, २ गणगच्छ ३१७, ३. ग्रन्थ
नाम ३१७, ४. देवतादि ३२१, ५. राजा श्राववादि-३२४, ६. भौगो-
लिक नामसूची (क) नगर ग्रामादि-३२६ (ख) नदी पर्वत-३३४,
(ग) मंदिर चैत्यादि-३३५।

भूमिका

जैनधर्म में तीर्थ का महत्त्व

समग्र भारतीय परम्पराओं में 'तीर्थ' की अवधारणा को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है फिर भी जैन परम्परा में तीर्थ को जो महत्त्व दिया गया है वह विशिष्ट ही है, क्योंकि उसमें धर्म को ही तीर्थ कहा गया है और धर्म-प्रवर्तक तथा उपासना एवं साधना के आदर्श को तीर्थकर कहा गया है। अन्य धर्म परम्पराओं में जो स्थान ईश्वर का है, वही जैन परम्परा में तीर्थङ्कर का है। तीर्थङ्कर को धर्मरूपी तीर्थ का संस्थापक माना जाता है। दूसरे शब्दों में जो तीर्थ अर्थात् धर्म मार्ग की स्थापना करता है, वही तीर्थङ्कर है। इस प्रकार जैनधर्म में तीर्थ एवं तीर्थङ्कर की अवधारणाएँ परस्पर जुड़ी हुई हैं और वे जैनधर्म की प्राण हैं।

जैनधर्म में तीर्थ का सामान्य अर्थ

जैनाचार्यों ने तीर्थ की अवधारणा पर विस्तार से प्रकाश डाला है। तीर्थ शब्द की व्युत्पत्तिपरक व्याख्या करते हुए कहा गया है— तीर्थते अनेनेति तीर्थः^१ अर्थात् जिसके द्वारा पार हुआ जाता है वह तीर्थ कहलाता है। इस प्रकार सामान्य अर्थ में नदी, समुद्र आदि के वे तट जिनसे उस पार जाने की यात्रा प्रारम्भ की जाती थी तीर्थ कहलाते थे; इस अर्थ में जैनागम जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में मागध तीर्थ, वरदाम तीर्थ और प्रभास तीर्थ का उल्लेख मिलता है।^२

तीर्थ का लाक्षणिक अर्थ

लाक्षणिक दृष्टि से जैनाचार्यों ने तीर्थ शब्द का अर्थ लिया—जो संसार समुद्र से पार करता है, वह तीर्थ है और ऐसे तीर्थ की स्थापना करने वाला तीर्थङ्कर है। संक्षेप में मोक्ष-मार्ग को ही तीर्थ कहा गया है। आवश्यकनियुक्ति में श्रुतधर्म, साधना-मार्ग, प्रावचन, प्रवचन

१. (अ) अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ० २२४२

(ब) स्थानांग टीका ।

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ३।५७, ५९, ६२ (सम्पा० मधुकर मुनि)

और तीर्थ — इन पांचों को पर्यायवाची बताया गया है।^१ इससे यह स्पष्ट होता है कि जैन परम्परा में तीर्थ शब्द केवल तट अथवा पवित्र या पूज्य स्थल के अर्थ में प्रयुक्त न होकर एक व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। तीर्थ से जैनों का तात्पर्य मात्र किसी पवित्र स्थल तक ही सीमित नहीं है। वे तो समग्र धर्ममार्ग और धर्म-साधकों के समूह को ही तीर्थ-रूप में व्याख्यायित करते हैं।

तीर्थ का आध्यात्मिक अर्थ

जैनों ने तीर्थ के लौकिक और व्युत्पत्तिपरक अर्थ से ऊपर उठकर उसे आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया है। उत्तराध्ययनसूत्र में चाण्डाल-कुलोत्पन्न हरकेशी नामक महान् निर्ग्रन्थ साधक से जब यह पूछा गया कि आपका सरोवर कौन सा है? आपका शान्तितीर्थ कौन-सा है? तो उसके प्रत्युत्तर में उन्होंने कहा कि धर्म ही मेरा सरोवर है और ब्रह्मचर्य ही शान्ति-तीर्थ है जिसमें स्नान करके आत्मा निर्मल और विशुद्ध हो जाती है।^२ विशेषावश्यकभाष्य में कहा गया है कि सरिता आदि द्रव्यतीर्थ तो मात्र बाह्यमल अर्थात् शरीर की शुद्धि करते हैं अथवा वे केवल नदी, समुद्र आदि के पार पहुँचाते हैं, अतः वे वास्तविक तीर्थ नहीं हैं। वास्तविक तीर्थ तो वह है जो जीव को संसार-समुद्र से उस पार मोक्षरूपी तट पर पहुँचाता है।^३ विशेषावश्यक-

१. सुयधम्मतिथ्यमगो पावयणं पवयणं च एगट्ठा ।
सुत्तं तंतं गंधो पाढो सत्थं पवयणं च एगट्ठा ॥

विशेषावश्यकभाष्य, १३७८

२. के ते हरए ? के य ते सन्तित्थे ?
कहिंसि णहाओ व रयं जहासि ?

धम्मे हरये बंधे सन्तित्थे
अणाविले अत्तपसन्नलेसे ।

जहिंसि णहाओ विमलो विसुद्धो

सुसीइभूओ पजहामि दोसं ॥ उत्तराध्ययनसूत्र, १२।४५-४६

३. देहाइतारयं जं बज्झमलावणयणाइमेत्तं च ।
णेगंताणच्चंतियफलं च तो दब्बतित्थं तं ॥

इह तारणाइफलयंति ण्हाण-पाणा-ज्वगाहणईहिं ।

भवतारयंति केई तं नो जीवोवघायाओ ॥

विशेषावश्यकभाष्य १०२८-१०२९

भाष्य में न केवल लौकिक तीर्थस्थलों (द्रव्यतीर्थ) की अपेक्षा आध्यात्मिक तीर्थ (भावतीर्थ) का महत्त्व बताया गया है, अपितु नदियोंके जल में स्नान और उसका पान अथवा उनमें अवगाहन मात्र से संसार से मुक्ति मान लेने की धारणा का खण्डन भी किया गया है। भाष्यकार कहता है कि "दाह की शान्ति, तृषा का नाश इत्यादि कारणों से गंगा आदि के जल को शरीर के लिए उपकारी होने से तीर्थ मानते हो तो अन्य खाद्य, पेय एवं शरीर-शुद्धि करने वाले द्रव्य इत्यादि भी शरीर के उपकारी होने के कारण तीर्थ माने जायेंगे किन्तु इन्हें कोई भी तीर्थरूप में स्वीकार नहीं करता है"।^१ वास्तव में तो तीर्थ वह है जो हमारे आत्मा के मल को धोकर हमें संसार सागर से पार कराता है। जैन परम्परा की तीर्थ की यह अध्यात्मपरक व्याख्या हमें वैदिक परम्परा में भी उपलब्ध होती है। उसमें कहा गया है—सत्य तीर्थ है, क्षमा और इन्द्रिय-निग्रह भी तीर्थ है। समस्त प्राणियों के प्रति दयाभाव, चित्त की सरलता, दान, सन्तोष, ब्रह्मचर्य का पालन, प्रियवचन, ज्ञान, धैर्य और पुण्य कर्म—ये सभी तीर्थ हैं।^२

द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ

जैनों ने तीर्थ के जंगमतीर्थ और स्थावरतीर्थ ऐसे दो विभाग भी किये हैं।^३ इन्हें हम क्रमशः चेतनतीर्थ और जड़तीर्थ अथवा भावतीर्थ

१. देहोवगारि वा तेण तित्थमिह दाहनासणाईहि ।

महु-मज्ज-मंस-वेस्सादओ वि तो तित्थमावन्नं ॥

विशेषावश्यकभाष्य १०३१

२. सत्यं तीर्थं क्षमा तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः ।

सर्वभूतदयातीर्थं सर्वत्रार्जवमेव च ॥

दानं तीर्थं दमस्तीर्थं संतोषस्तीर्थमुच्यते ।

ब्रह्मचर्यं परं तीर्थं तीर्थं च प्रियवादिता ॥

तीर्थानामपि तत्तीर्थं विशुद्धिमनसः परा ।

शब्दकल्पद्रुम—'तीर्थ', पृ० ६२६

३. भावे तित्थं संघो सुयविहियं तारओ तहि साहू ।

नाणाइतियं तरणं तरियव्वं भवसमुद्दो यं ॥

विशेषावश्यकभाष्य १०३२

और द्रव्यतीर्थ भी कह सकते हैं। वस्तुतः नदी, सरोवर आदि तो जड़ या द्रव्य तीर्थ हैं, जबकि श्रुतविहित मार्ग पर चलने वाला संघ भाव-तीर्थ है और वही वास्तविक तीर्थ है। उसमें साधुजन पार कराने वाले हैं, ज्ञानादि रत्नत्रय नौका-रूप तैरने के साधन हैं और संसार-समुद्र ही पार करने की वस्तु है। जिन ज्ञान दर्शन-चारित्र्य आदि द्वारा अज्ञानादि सांसारिक भावों से पार हुआ जाता है, वे ही भावतीर्थ हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ आदि मल हैं, इनको जो निश्चय ही दूर करता है वही वास्तव में तीर्थ है।^१ जिनके द्वारा क्रोधादि की अग्नि को शान्त किया जाता है वही संघ वस्तुतः तीर्थ है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन जैन परम्परा में आत्मशुद्धि की साधना और जिस संघ में स्थित होकर यह साधना की जा सकती है, वह संघ ही वास्तविक तीर्थ माना गया है।

‘तीर्थ’ के चार प्रकार

विशेषावश्यकभाष्य में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख है, नाम-तीर्थ, स्थापनातीर्थ, द्रव्यतीर्थ और भावतीर्थ। जिन्हें तीर्थ नाम दिया गया है वे नामतीर्थ हैं। वे विशेष स्थल जिन्हें तीर्थ मान लिया गया है, वे स्थापनातीर्थ हैं। अन्य परम्पराओं में पवित्र माने गये नदी, सरोवर आदि अथवा जिनेन्द्रदेव के जन्म, दीक्षा, कैवल्य-प्राप्ति एवं निर्वाण के स्थल द्रव्यतीर्थ हैं, जबकि मोक्षमार्ग और उसकी साधना करने वाला चतुर्विधसंघ भावतीर्थ है।^२ इस प्रकार जैनधर्म में सर्वप्रथम तो जिनोपदिष्ट धर्म, उस धर्म का पालन करने वाले साधु-

१. जं माण-दंसण-चरितभावओ तव्विवक्खभावाओ ।
भव भावओ य तारेइ तेणं तं भावओ तित्थं ॥
तह कोह-लोह-कम्ममयदाह-तण्हा-मलावणयणाइ ।
एणंतेणच्चंतं च कुणइ य सुद्धिं भवोघाओ ॥
दाहोवसमाइसु वा जं तिसु थियमहव दंसगाईसु ।
तो तित्थं संघो च्चिचय उभयं व विसेसणविसेस्सं ॥
कोहग्गिदाहसमणादओ व ते चेव जस्स तिण्णत्था ।
होइ तियत्थं तित्थं तमत्थवहो फलत्थोऽयं ॥

विशेषावश्यकभाष्य, १०३३-१०३६

२. नामं ठवणा-तित्थं, दव्वतित्थं चेव भावतित्थं च ।

अभिधानराजेन्द्रकोष, चतुर्थ भाग, पृ० २२४२

साधवी, श्रावक और श्राविकारूप चतुर्विधसंघ को ही तीर्थ और उसके संस्थापक को तीर्थङ्कर कहा गया है। यद्यपि परवर्ती काल में पवित्र स्थल भी द्रव्य तीर्थ के रूप में स्वीकृत किये गये हैं।

तीर्थ शब्द धर्मसंघ के अर्थ में

प्राचीन काल में श्रमण परम्परा के साहित्य में 'तीर्थ' शब्द का प्रयोग धर्म संघ के अर्थ में होता रहा है। प्रत्येक धर्मसंघ या धार्मिक साधकों का वर्ग तीर्थ कहलाता था, इसी आधार पर अपनी परम्परा से भिन्न लोगों को तैथिक या अन्यतैथिक कहा जाता था। जैन साहित्य में बौद्ध आदि अन्य श्रमण परम्पराओं को तैथिक या अन्य-तैथिक के नाम से अभिहित किया गया है।^१ बौद्ध ग्रन्थ दीघनिकाय के सामञ्जसफलसुत्त में भी निर्ग्रन्थ ज्ञातपुत्र महावीर के अतिरिक्त मंखलि-गोशालक, अजितकेशकम्बल, पूर्णकाश्यप, पकुधकात्यायन आदि को भी तित्थकर (तीर्थकर) कहा गया है।^२ इससे यह फलित होता है कि उनके साधकों का वर्ग भी तीर्थ के नाम से अभिहित होता था। जैन परम्परा में तो जैनसंघ या जैन साधकों के समुदाय के लिए तीर्थ शब्द का प्रयोग प्राचीन काल से लेकर वर्तमान युग तक यथावत् प्रच-रित है। आचार्य समन्तभद्र ने महावीर की स्तुति करते हुए कहा है कि 'हे भगवन् ! आपका यह तीर्थ सर्वोदय अर्थात् सबका कल्याण करने वाला है।'^३ महावीर का धर्मसंघ सदैव ही तीर्थ के नाम से अभिहित किया जाता रहा है।

साधना की सुकरता और दुष्करता के आधार पर तीर्थों का वर्गीकरण

विशेषावश्यकभाष्य में साधना पद्धति के सुकर या दुष्कर होने के आधार पर भी इन संघरूपी तीर्थों का वर्गीकरण किया गया है।

१. 'परतित्थिया'—सूत्रकृतांग, १।६।१

२. एवं वुत्ते, अन्नतरो राजामच्चो राजानं मागधं अजातसत्तुं वेदेहि-पुत्तं एतदवोच—'अयं, देव, पूरणो कस्सपो सङ्घी चैव गणी च गणाघरियो च, नातो, यसस्सी, तित्थकरो, साधुसम्मतो बहु-जनस्स, रत्तन्नू, चिरपब्बजितो, अद्धगतो वयोअनुप्पत्तो।

दीघनिकाय (सामञ्जसफलसुत्त) २।२

३. सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव ॥६१
महावीर का सर्वोदय तीर्थ, पृ० १२

भाष्यकार ने चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है^१
कि—

१. सर्वप्रथम कुछ तीर्थ (तट) ऐसे होते हैं 'जिनमें प्रवेश भी सुखकर होता है और जहाँ से पार करना भी सुखकर होता है; इसी प्रकार कुछ तीर्थ या साधक-संघ ऐसे होते हैं, जिनमें प्रवेश भी सुखद होता है और साधना भी सुखद होती है। ऐसे तीर्थ का उदाहरण देते हुए भाष्यकार ने शैवमत का उल्लेख किया है, क्योंकि शैव सम्प्रदाय में प्रवेश और साधना दोनों ही सुखकर माने गये हैं।

२. दूसरे वर्ग में वे तीर्थ (तट) आते हैं जिनमें प्रवेश तो सुखरूप हो किन्तु जहाँ से पार होना दुष्कर या कठिन हो। इसी प्रकार कुछ धर्मसंघों में प्रवेश तो सुखद होता है किन्तु साधना कठिन होती है। ऐसे संघ का उदाहरण बौद्ध-संघ के रूप में दिया गया है। बौद्ध संघ में प्रवेश तो सुलभतापूर्वक सम्भव था, किन्तु साधना उतनी सुखरूप नहीं थी, जितनी कि शैव सम्प्रदाय की।

३. तीसरे वर्ग में ऐसे तीर्थ का उल्लेख हुआ है 'जिसमें प्रवेश तो कठिन है किन्तु साधना सुकर है।' भाष्यकार ने इस सन्दर्भ में जैनों के ही अचेल सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। इस संघ में अचेलकता अनिवार्य थी, अतः इस तीर्थ को प्रवेश की दृष्टि से दुष्कर, किन्तु अनुपालन की दृष्टि से सुकर माना गया है।

४. ग्रन्थकार ने चौथे वर्ग में उस तीर्थ का उल्लेख किया है जिसमें प्रवेश और साधना दोनों दुष्कर है और स्वयं इस रूप में अपने ही सम्प्रदाय का उल्लेख किया है। यह वर्गीकरण कितना समुचित है यह विवाद का विषय हो सकता है, किन्तु इतना

१. अहव सुहोत्तारूत्तारणाइ दध्वे चउव्विहं तित्थां ।

एवं चिय भावम्मि वि तत्थाइमयं सरक्खाणं ॥

विशेषावश्यकभाष्य, १०४०-४१

(भाष्यकार ने इस सूत्र की व्याख्या में चार प्रकार के तीर्थों का उल्लेख किया है।)

निश्चित है कि साधना-मार्ग की सुकरता या दुष्करता के आधार पर जैन परम्परा में विविध प्रकार के तीर्थों की कल्पना की गई है और साधना-मार्ग को ही तीर्थ के रूप में ग्रहण किया गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन परम्परा में तीर्थ से तात्पर्य मुख्य रूप से पवित्र स्थल की अपेक्षा साधना-विधि से लिया गया है और ज्ञान, दर्शन और चारित्र-रूप मोक्षमार्ग को ही भावतीर्थ कहा गया है, क्योंकि ये साधक के विषय कषायरूपी मल को दूर करके समाधि रूपी आत्मशान्ति को प्राप्त करवाने में समर्थ हैं। प्रकारान्तर से साधकों के वर्ग को भी तीर्थ कहा गया है। भगवतीसूत्र में तीर्थ की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से कहा गया है कि चतुर्विध श्रमणसंघ ही तीर्थ है।^१ श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविकायें इस चतुर्विध श्रमणसंघ के चार अंग हैं। इस प्रकार यह सुनिश्चित है कि प्राचीन जैन ग्रन्थों में तीर्थ शब्द को संसार समुद्र से पार कराने वाले साधन के रूप में ग्रहीत करके त्रिविध साधना मार्ग और उसका अनुपालन करने वाले चतुर्विध श्रमणसंघ को ही वास्तविक तीर्थ माना गया है।

निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ

जैनों की दिग्म्बर परंपरा में तीर्थ का विभाजन निश्चयतीर्थ और व्यवहारतीर्थ के रूप में हुआ है। निश्चयतीर्थ के रूप में सर्वप्रथम तो आत्मा के शुद्ध-बुद्ध स्वभाव को ही निश्चयतीर्थ कहा गया है। उसमें कहा गया है कि पंचमहाव्रतों से युक्त सम्यक्त्व से विशुद्ध, पांच इन्द्रियों से संयत निरपेक्ष आत्मा ही ऐसा तीर्थ है जिसमें दीक्षा और शिक्षा रूप स्नान करके पवित्र हुआ जाता है।^२ पुनः निर्दोष सम्यक्त्व,

१. तित्थं भंते तित्थं तित्थगरे तित्थं ? गोयमा ! अरहा ताव णियमर तित्थगरे, तित्थं पुण चाउव्वणाइणे समणसंघे । तं जहा—समणा, समणीओ, सावया, सावियाओ य ।

भगवतीसूत्र, शतक २०, उद्दे० ८,

२. 'बयसंमत्तविसुद्धे पंचेदियसंजदे णिरावेक्खो ।

ण्हाए उ मुणी तित्थेदिक्खासिक्खा सुण्हाणेण ॥'

बोधपाहुड, मू०।२६-२७

क्षमा आदि धर्म, निर्मलसंयम, उत्तम तप और यथार्थज्ञान—ये सब भी कषायभाव से रहित और शान्तभाव से युक्त होने पर निश्चय-तीर्थ माने गये हैं।^१ इसी प्रकार मूलाचार में श्रुतधर्म को तीर्थ कहा गया है,^२ क्योंकि वह ज्ञान के माध्यम से आत्मा को पवित्र बनाता है। सामान्य निष्कर्ष यह है कि वे सभी साधन जो आत्मा के विषय-कषाय-रूपी मल को दूर कर उसे संसार समुद्र से पार उतारने में सहायक होते हैं या पवित्र बनाते हैं, वे निश्चयतीर्थ हैं। यद्यपि बोधपाहुड की टीका (लगभग ११वीं शती) में यह भी स्पष्ट रूप से उल्लेख मिलता है कि 'जो निश्चयतीर्थ की प्राप्ति का कारण है ऐसे जगत्-प्रसिद्ध मुक्तजीवों के चरणकमलों से संस्पर्शित उर्जयंत, शत्रुञ्जय, पावागिरि आदि तीर्थ हैं और कर्मक्षय का कारण होने से वे व्यवहारतीर्थ भी वन्दनीय माने गये हैं।^३ इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में भी साधना-मार्ग और आत्म-विशुद्धि के कारणों को निश्चयतीर्थ और पंचकल्याणक भूमियों को व्यवहार तीर्थ माना गया है। मूलाचार में भी यह कहा गया है कि दाहोपशमन, तृषानाश और मल की शुद्धि ये तीन कार्य जो करते हैं वे द्रव्यतीर्थ हैं किन्तु जो ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य से युक्त जिनदेव हैं वे भावतीर्थ हैं। यह भावतीर्थ ही निश्चयतीर्थ है। कल्याणक भूमि तो व्यवहारतीर्थ है।^४ इस प्रकार श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों ही परम्पराओं में प्रधानता तो भावतीर्थ या निश्चयतीर्थ को ही दी गई है, किन्तु आत्मविशुद्धि के हेतु या प्रेरक होने के कारण द्रव्यतीर्थों या व्यवहारतीर्थों को भी स्वीकार किया गया है। स्मरण रहे कि अन्य धर्म परम्पराओं में जो तीर्थ की अवधारणा उपलब्ध है, उसकी तुलना जैनों के द्रव्य-तीर्थ से की जा सकती है।

१. बोधपाहुड, टीका २६।९।१।२१
२. सुदधम्मो एत्थ पुण तित्था । मूलाचार, ५५७
३. 'तज्जगत्प्रसिद्धं निश्चयतीर्थप्राप्तिकारणं
मुक्तमुनिपादस्पृष्टं तीर्थोर्जयन्तशत्रुञ्जयलाटदेशपावागिरि—।
बोधपाहुड, टीका, २७।९।३।७
४. दुविहं च होइ तित्थां णादव्वं दव्वभावसंजुत्तां ।
एदेसि दोण्हं पि य पत्तोय परूवणा होदि ॥

मूलाचार, ५६०

जैन परम्परा में तीर्थ शब्द का अर्थ-विकास

श्रमण-परम्परा में प्रारम्भ में तीर्थ की इस अवधारणा को एक आध्यात्मिक अर्थ प्रदान किया गया था। विशेषावश्यकभाष्य जैसे प्राचीन आगमिकव्याख्या ग्रन्थों में भी वैदिक परम्परा में मान्य नदी, सरोवर आदि स्थलों को तीर्थ मानने की अवधारणा का खण्डन किया गया और उसके स्थान पर रत्नत्रय से युक्त साधनामार्ग अर्थात् उस साधना में चल रहे साधक के संघ को तीर्थ के रूप में अभिहित किया गया है। यही दृष्टिकोण अचेल परम्परा के ग्रन्थ मूलाचार में भी देखा जाता है, जिसका उल्लेख पूर्व में हम कर चुके हैं।

किन्तु परवर्ती काल में जैन परम्परा में तीर्थ सम्बन्धी अवधारणा में परिवर्तन हुआ और द्रव्यतीर्थ अर्थात् पवित्र स्थलों को भी तीर्थ माना गया। सर्वप्रथम तीर्थङ्करों के जन्म, दीक्षा, कौत्व्य और निर्वाण से सम्बन्धित स्थलों को पूज्य मानकर उन्हें तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया। आगे चलकर तीर्थंकरों के जीवन की प्रमुख घटनाओं से सम्बन्धित स्थल ही नहीं अपितु गणधर एवं प्रमुख मुनियों के निर्वाण-स्थल और उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना से जुड़े हुए स्थल भी तीर्थ के रूप में स्वीकार किये गये। इससे भी आगे चलकर वे स्थल भी, जहाँ कलात्मक मन्दिर बने या जहाँ की प्रतिमाएँ चमत्कारपूर्ण मानी गयीं, तीर्थ कहे गये।

हिन्दू और जैनतीर्थ की अवधारणाओं में मौलिक अन्तर

यह सत्य है कि कालान्तर में जैनों ने हिन्दू परम्परा के समान ही कुछ स्थलों को पवित्र और पूज्य मानकर उनकी पूजा और यात्रा को महत्त्व दिया, किन्तु फिर भी दोनों अवधारणाओं में मूलभूत अन्तर है। हिन्दू परम्परा नदी, सरोवर आदि को स्वतः पवित्र मानती है, जैसे—गंगा। यह नदी किसी ऋषि-मुनि आदि के जीवन की किसी घटना से सम्बन्धित होने के कारण नहीं, अपितु स्वतः ही पवित्र है। ऐसे पवित्र स्थल पर स्नान, पूजा अर्चना, दान पुण्य एवं यात्रा आदि करने को एक धार्मिक कृत्य माना जाता है। इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थ स्थल को अपने आप में पवित्र नहीं माना गया, अपितु यह माना गया कि तीर्थंकर अथवा अन्य त्यागी-तपस्वी महापुरुषों के जीवन से

सम्बन्धित होने के कारण वे स्थल पवित्र बने हैं। जैनों के अनुसार कोई भी स्थल अपने आप में पवित्र या अपवित्र नहीं होता, अपितु वह किसी महापुरुष से सम्बद्ध होकर या उनका सान्निध्य पाकर पवित्र माना जाने लगता है, यथा—कल्याणक भूमियाँ; जो तीर्थाकर के जन्म, दीक्षा, कैवल्य या निर्वाणस्थल होने से पवित्र मानी जाती हैं। बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित स्थलों को पवित्र माना गया है।

हिन्दू और जैन परम्परा में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ हिन्दू परम्परा में प्रमुखतया नदी-सरोवर आदि को तीर्थ रूप में स्वीकार किया गया है वहीं जैन परम्परा में सामान्यतया किसी नगर अथवा पर्वत को ही तीर्थस्थल के रूप में स्वीकार किया गया। यह अन्तर भी मूलतः तो किसी स्थल को स्वतः पवित्र मानना या किसी प्रसिद्ध महापुरुष के कारण पवित्र मानना—इसी तथ्य पर आधारित है। पुनः इस अन्तर का एक प्रसिद्ध कारण यह भी है—जहाँ हिन्दू परम्परा में बाह्य शौच (स्नानादि शारीरिक शुद्धि) की प्रधानता थी, वहीं जैन परम्परा में तप और त्याग द्वारा आत्मशुद्धि की प्रधानता थी, स्नानादि तो वर्ज्य ही माने गये थे। अतः यह स्वाभाविक था कि जहाँ हिन्दू परम्परा में नदी-सरोवर तीर्थ रूप में विकसित हुए, वहाँ जैन परम्परा में साधना-स्थल के रूप में वन-पर्वत आदि तीर्थों के रूप में विकसित हुए। यद्यपि आपवादिक रूप में हिन्दू परम्परा में भी कैलाश आदि पर्वतों को तीर्थ माना गया, वहीं जैन परम्परा में शत्रुंजय नदी आदि को पवित्र या तीर्थ के रूप में माना गया है, किन्तु यह इन परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव का परिणाम था। पुनः हिन्दू परम्परा में जिन पर्वतीय स्थलों जैसे कैलाश आदि को तीर्थ रूप में माना गया उनके पीछे भी किसी देव का निवासस्थान या उसकी साधनास्थली होना ही एकमात्र कारण था, किन्तु यह निवृत्तिमार्गी परम्परा का ही प्रभाव था। दूसरी ओर हिन्दू परंपरा के प्रभाव से जैनों में भी यह अवधारणा बनी कि यदि शत्रुंजय नदी में स्नान नहीं किया तो मानव जीवन ही निरर्थक हो गया।

‘सतरूँजी नदी नहायो नहीं, तो गयो मिनख जमारो हार’ ॥

तीर्थ और तीर्थयात्रा

पूर्व विवरण से स्पष्ट है कि जैन परम्परा में 'तीर्थ' शब्द के अर्थ का ऐतिहासिक विकास-क्रम है। सर्वप्रथम जैन धर्म में गंगा आदि लौकिक तीर्थों की यात्रा तथा वहाँ स्नान, पूजन आदि को धर्म साधना की दृष्टि से अनावश्यक माना गया और तीर्थ शब्द को आध्यात्मिक अर्थ प्रदान कर आध्यात्मिक साधना-मार्ग को तथा उस साधना का अनुपालन करने वाले साधकों के संघ को ही तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया। किन्तु कालान्तर में जैन परम्परा में भी तीर्थ-ङ्करों की कल्याणक भूमियों को पवित्र स्थानों के रूप में मान्य करके तीर्थ की लौकिक अवधारणा का विकास हुआ। ई० पू० में रचित अति प्राचीन जैन-आगमों जैसे आचारांग आदि में हमें जैन तीर्थस्थलों का कोई उल्लेख नहीं मिलता है, यद्यपि उनमें हिन्दू परम्परा के तीर्थस्थलों पर होने वाले महोत्सवों तथा यात्राओं का उल्लेख मिलता है। परन्तु आध्यात्ममार्गी जैन परम्परा मुनि के लिए इन तीर्थमेलों और यात्राओं में भाग लेने का भी निषेध करती थी।^१ ईसा की प्रथम शताब्दी से पांचवीं शताब्दी के मध्य निर्मित परवर्ती आगमिक साहित्य में भी यद्यपि जैन तीर्थस्थलों और तीर्थयात्राओं के स्पष्ट संकेत तो नहीं मिलते, फिर भी इनमें तीर्थङ्करों की कल्याणकभूमियों-विशेष रूप से जन्म एवं निर्वाण-स्थलों की चर्चा है।^२ साथ ही तीर्थ-ङ्करों की चिता-भस्म एवं अस्थियों को क्षीरसमुद्रादि में प्रवाहित करने तथा देवलोक में उनके रखे जाने के उल्लेख इन आगमों में हैं। उनमें अस्थियों एवं चिता-भस्म पर चैत्य और स्तूप के निर्माण के उल्लेख भी मिलते हैं। जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति में ऋषभ के निर्वाण-स्थल पर स्तूप

१. से भिक्खु वा भिक्खु वा...थूभ महेसु वा, चेतिय महेसु वा तडाग महेसु वा, दहमहेसु वा णई महेसु वा सरमहेसु वा...णी पडिगाहेज्जा ।

आचारांग २।१।२।२४ (लाडनू)

२. (अ) समवायांग प्रकीर्णक समवाय २२५।१

(ब) आवश्यकनियुक्ति ३८२-८४

बनाने का उल्लेख है ।^१ इस काल के आगम ग्रन्थों में हमें देव-लोक एवं नन्दीश्वर द्वीप में निर्मित चैत्य आदि के उल्लेखों के साथ-साथ यह भी वर्णन मिलता है कि पर्व तिथियों में देवता नन्दीश्वरद्वीप जाकर महोत्सव आदि मनाते हैं ।^२ यद्यपि इस काल के आगमों में अरिहंतों के स्तूपों एवं चैत्यों के उल्लेख तो हैं किन्तु उन पवित्र स्थलों पर मनुष्यों द्वारा आयोजित होने वाले महोत्सवों और उनकी तीर्थ यात्राओं पर जाने का कोई उल्लेख नहीं है । विद्वानों से मेरी अपेक्षा है कि यदि उन्हें इस तरह का कोई उल्लेख मिले तो वे सूचित करें ।

यद्यपि लोहानीपुर और मथुरा में उपलब्ध जिन-मूर्तियों, आयाग-पटों, स्तूपांकनों तथा पूजा के निमित्त कमल लेकर प्रस्थान आदि के अंकनों से यह तो निश्चित हो जाता है कि जैन परम्परा में चैत्यों के निर्माण और जिन प्रतिमा के पूजन की परम्परा ई० पू० की तीसरी शताब्दी में भी प्रचलित थी । किन्तु तीर्थ और तीर्थयात्रा सम्बन्धी उल्लेखों का आचारांग, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक जैसे इस काल के प्राचीन आगमों में अभाव हमारे सामने एक प्रश्न चिह्न तो अवश्य ही उपस्थित करता है ।

तीर्थ और तीर्थयात्रा सम्बन्धी समस्त उल्लेख नियुक्ति, भाष्य और चूर्णी साहित्य में उपलब्ध होते हैं । आचारांग नियुक्ति में अष्टा-पद, उर्जयन्त, गजाप्रपद, धर्मचक्र और अहिच्छत्रा को वन्दन किया गया है ।^३ इससे स्पष्ट होता है कि नियुक्ति काल में तीर्थस्थलों के दर्शन, वन्दन एवं यात्रा की अवधारणा स्पष्ट रूप से बन चुकी थी और इसे पुण्य-कार्य माना जाता था । निशीथचूर्णी में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि तीर्थङ्करों की कल्याणक भूमियों की यात्रा करने से दर्शन की विशुद्धि होती है, अर्थात् व्यक्ति की श्रद्धा पुष्ट होती है ।^४

१. (अ) जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति २।१११ (लाडनू)

(ब) आवश्यकनियुक्ति ४५

(स) समवायांग ३५।३

२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति (जबुद्वीवपण्णत्ति) २।११४-२२

३. अट्टावय उज्जिते गयगपए धम्मचक्के य ।

पासरहावतनगं चमरुप्पायं च वंदामि

—आचारांगनियुक्ति, पत्र १८

४. निशीथचूर्णी, भाग ३, पृ० २४

इस प्रकार जैनों में तीर्थङ्करों की कल्याणक-भूमियों को तीर्थ-रूप में स्वीकार कर उनकी यात्रा के स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम लगभग छठीं शती से मिलने लगते हैं। यद्यपि इसके पूर्व भी यह परम्परा प्रचलित तो अवश्य ही रही होगी। इस काल में कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त वे स्थल, जो मन्दिर और मूर्तिकला के कारण प्रसिद्ध हो गये थे, उन्हें भी तीर्थ के रूप में स्वीकार किया गया और उनकी यात्रा एवं वन्दन को भी बोधिलाभ और निर्जरा का कारण माना गया। निशीथचूर्णी में तीर्थंकरों की जन्म कल्याणक आदि भूमियों के अतिरिक्त उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिमित्तस्तूप और कोशल की जीवन्तस्वामी की प्रतिमा को पूज्य बताया गया है।^१ इस प्रकार वे स्थल, जहाँ कलात्मक एवं भव्य मन्दिरों का निर्माण हुआ अथवा किसी जिन-प्रतिमा को चमत्कारी मान लिया गया, तीर्थ रूप में मान्य हुए। उत्तरापथ, मथुरा और कोशल आदि की तीर्थ रूप में प्रसिद्धि इसी कारण थी। हमारी दृष्टि में सम्भवतः आगे चलकर तीर्थों का जो विभाजन कल्याणकक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र के रूप में हुआ, उसका भी यही कारण था।

तीर्थ क्षेत्र के प्रकार—जैन परम्परा में तीर्थ स्थलों का वर्गीकरण मुख्य रूप से तीन वर्गों में किया जाता है—

१. कल्याणकक्षेत्र, २. निर्वाणक्षेत्र और ३. अतिशयक्षेत्र।

१. कल्याणकक्षेत्र—जैन परम्परा में सामान्यतया प्रत्येक तीर्थंकर के पांच कल्याणक माने गये हैं। कल्याणक शब्द का तात्पर्य तीर्थंकर के जीवनकी महत्त्वपूर्ण घटना से सम्बन्धित पवित्र दिन से है। जैन परम्परा में तीर्थंकरों के गर्भ-प्रवेश, जन्म, दीक्षा (अभिनिष्क्रमण), कैवल्य (बोधिप्राप्ति) और निर्वाण दिवसों को कल्याणकदिवस के रूप में माना जाता है। तीर्थंकर की जीवन की ये महत्त्वपूर्ण घटनाएँ जिस नगर या स्थल पर घटित होती हैं उसे कल्याणक-भूमि कहा जाता है। हम तीर्थंकरों की इन कल्याणक भूमियों का एक सक्षिप्त विवरण निम्नतालिका में प्रस्तुत कर रहे हैं—

१. उत्तरावहे धम्मचक्रं, महुर'ए देवणिम्मिय थूभो कोसलाए व जियंतपडिमा, तित्थकरण वा जम्मभूमीओ।

—निशीथचूर्णी, भाग ३, पृ ७९

का नाम	च्यवन	जन्म	दीक्षा	कैवल्य	निर्वाण
ऋषभ	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	पुरिमताल (प्रयाग?)	अष्टापद (कैलाश)
अजित	"	"	"	अयोध्या	सम्मेदशिखर
सम्भव	श्रावस्ती	श्रावस्ती	सहेतुक (अयोध्या)	श्रावस्ती	"
अभिनन्दन	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	"
सुमति	"	"	"	"	"
पद्मप्रभ	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	कौशाम्बी	"
सुपाश्व	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	"
चन्द्रप्रभ	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	चन्द्रपुर	"
पुष्पदन्त	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	काकन्दी	"
शीतल	भद्रिल	भद्रिल	भद्रिल	भद्रिल	"
श्रेयांस	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहपुर	सिंहपुर	"
वासुपूज्य	चम्पा	चम्पा	चम्पा	चम्पा	चम्पा

विमल	काम्पिल्य	काम्पिल्य	काम्पिल्य	काम्पिल्य	सम्मदेदशिखर
अनन्त	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	अयोध्या	"
धर्म	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	रत्नपुर	"
शान्ति	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	हस्तिनापुर	"
कुन्थु अर	"	"	"	"	"
मल्लि	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	"
मुनिसुव्रत	राजगृह	राजगृह	राजगृह	राजगृह	"
नमि	मिथिला	मिथिला	मिथिला	मिथिला	"
नेमि	शौरीपुर	शौरीपुर	शौरीपुर	उर्जयन्त	उर्जयन्त
पार्श्व	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	वाराणसी	सम्मदेदशिखर
वर्द्धमान	क्षत्रियकुण्ड	क्षत्रियकुण्ड	क्षत्रियकुण्ड	क्षत्रियकुण्ड	पावा

तीर्थङ्करों के कुल कल्याणकक्षेत्र निम्नलिखित हैं—अयोध्या, पुरिमताल, अष्टापद, सम्मदेदशिखर, श्रावस्ती, कौशाम्बी, वाराणसी, चन्द्रपुरी, काकन्दी, भद्विलपुर, सिहपुर, चम्पा, काम्पिल्य, रत्नपुर, हस्तिनापुर, मिथिला, राजगृह, शौरीपुर, उर्जयन्त, क्षत्रियकुण्ड, ऋजुवालिका और पावा ।

२. निर्वाणक्षेत्र

निर्वाणक्षेत्र को सामान्यतया सिद्धक्षेत्र भी कहा जाता है। जिस स्थल से किसी मुनि को निर्वाण प्राप्त होता है, वह स्थल सिद्धक्षेत्र या निर्वाणस्थल के नाम से जाना जाता है। सामान्य मान्यता तो यह है कि इस भूमण्डल पर ऐसी कोई भी जगह नहीं है जहाँ से कोई न कोई मुनि सिद्धि को प्राप्त न हुआ हो। अतः व्यावहारिक दृष्टि से तो समस्त भूमण्डल ही सिद्धक्षेत्र या निर्वाणक्षेत्र है। फिर भी सामान्यतया जहाँ से अनेक सुप्रसिद्ध मुनियों ने निर्वाण प्राप्त किया हो, उसे निर्वाण क्षेत्र कहा जाता है। जैन परम्परा में शत्रुजय, पावागिरि, तुंगीगिरि सिद्धवरकूट, चूलगिरि, रेशन्दागिरि, सोनागिरि आदि सिद्धक्षेत्र माने जाते हैं। सिद्धक्षेत्रों की विशिष्ट मान्यता तो दिगम्बर परम्परा में प्रचलित है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा में भी शत्रुजयतीर्थ सिद्धक्षेत्र ही है।

३. अतिशय क्षेत्र

वे स्थल, जो न तो किसी तीर्थङ्कर की कल्याणक-भूमि हैं, न किसी मुनि की साधना या निर्वाण-भूमि हैं किन्तु जहाँ की जिन-मूर्तियाँ चमत्कारी हैं अथवा जहाँ के मन्दिर भव्य हैं, वे अतिशय क्षेत्र कहे जाते हैं। आज जैन परम्परा में अधिकांश तीर्थ अतिशयक्षेत्र के रूप में ही माने जाते हैं। उदाहरण के रूप में आबू, राणकपुर, जैसलमेर, श्रवणबेलगोला आदि इसी रूप में प्रसिद्ध हैं। हमें स्मरण रखना चाहिए कि जैनों के कुछ तीर्थ न केवल तीर्थङ्करों की मूर्तियों के चमत्कारिक होने के कारण, अपितु उस तीर्थ के अधिष्ठायक देवों की चमत्कारिता के कारण भी प्रसिद्ध हैं। उदाहरण के रूप में नाकोड़ा और महुडी की प्रसिद्धि उन तीर्थों के अधिष्ठायक देवों के कारण ही हुई है। इसी प्रकार हुम्मच की प्रसिद्धि पार्श्व की यक्षी-पद्मावती की मूर्ति के चमत्कारिक होने के आधार पर ही है।

इन तीन प्रकार के तीर्थों के अतिरिक्त कुछ तीर्थ ऐसे भी हैं जो इस कल्पना पर आधारित हैं कि यहाँ पर किसी समय तीर्थङ्कर का पर्दापण हुआ था या उनकी धर्मसभा (समवसरण हुई थी। इसके साथ-साथ आज कुछ जैन-आचार्यों के जीवन से सम्बन्धित स्थलों पर गुह-मन्दिरों का निर्माण कर उन्हें भी तीर्थ रूप में माना जाता है।

तीर्थ यात्रा—

जैन परम्परा में तीर्थयात्राओं का प्रचलन कब से हुआ, यह कहना अत्यन्त कठिन है, क्योंकि चूर्णीसाहित्य के पूर्व आगमों में तीर्थ स्थलों की यात्रा करने का स्पष्ट उल्लेख कहीं नहीं मिलता है। सर्वप्रथम निशीथचूर्णी में स्पष्ट रूप से यह उल्लेख है कि तीर्थकरों की कल्याणक भूमियों की यात्रा करता हुआ जीव, दर्शन-विशुद्धि को प्राप्त करता है।^१ इसी प्रकार व्यवहारभाष्य और व्यवहार चूर्णी में यह उल्लेख है कि जो मुनि अष्टमी और चतुर्दशी को अपने नगर के समस्त चैत्र्यों और उपाश्रयों में ठहरे हुए मुनियों को वन्दन नहीं करता है तो वह मासलघु प्रायश्चित्त का दोषी होता है।^२

तीर्थयात्रा का उल्लेख महानिशीथसूत्र में भी मिलता है। इस ग्रन्थ का रचना काल विवादास्पद है। हरिभद्र एवं जिनदासगणि द्वारा इसके उद्धार की कथा तो स्वयं ग्रन्थमें ही वर्णित है। नन्दीसूत्रमें आगमों की सूची में महानिशीथ का उल्लेख अनुपलब्ध है। अतः यह स्पष्ट है कि इसका रचना काल छठीं से आठवीं शताब्दी के मध्य ही होगा। इस आधार पर भी कहा जा सकता है कि जैन परम्परा में तीर्थ यात्राओं को इसी कालावधि में विशेष महत्त्व प्राप्त हुआ होगा।

महानिशीथ में उल्लेख है कि 'हे भगवन् ! यदि आप आज्ञा दें तो हम चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन कर और धर्मचक्र की तीर्थयात्रा कर वापस आये।'^३

१. निशीथचूर्णी, भाग ३, पृ० २४

२. निस्सकडमनिस्सकडे चेइए सव्वहिं थुईं तिन्नि । वेलंब चेइआणि व नाउं रक्किक्किक आववि, 'अट्टमीचउदसी सुं चेइय सव्वाणि साहुणो सव्वे वन्देयव्वा नियमा अवसेस—तिहीसु जहसत्ति ।'

एएसु अट्टमीमादीसु चेइयाइं साहुणो वा जे अणणाए वसहीए ठिआते न वंदंति मास लहु ॥

व्यवहारचूर्णी—उद्धृत जैनतीर्थोन्नो, इतिहास भूमिका, पृ० १०

३. जहल्लया गोयमा ते साहुणो तं आयरियं भणंति जहा—णं जइ भयवं तुमे आणावेहि ताणं अम्हेहि तित्थयसां करि (२) या चंदप्पहसामियं वंदि (३) या धम्मचक्रं गंतूणमागच्छामो ॥

—महानिशीथ, उद्धृत, वही, पृ० १०

जिन-यात्रा के सन्दर्भ में हरिभद्र के पंचाशक में विशिष्ट विवरण उपलब्ध होता है। हरिभद्र ने नवें पंचाशक में जिन—यात्रा के विधि विधान का निरूपण किया है किन्तु ग्रन्थ को देखने से ऐसा लगता है कि वस्तुतः यह विवरण दूरस्थ तीर्थों में जाकर यात्रा करनेकी अपेक्षा अपने नगर में ही जिन-प्रतिमा की शोभा—यात्रा से सम्बन्धित है। इसमें यात्रा के कर्तव्यों एवं उद्देश्यों का निर्देश है। उसके अनुसार जिन-यात्रा में जिनधर्म की प्रभावना के हेतु यथाशक्ति दान, तप, शरीर-संस्कार, उचित गीत-वादित्र, स्तुति आदि करना चाहिए।^१ तीर्थ यात्राओं में श्वेताम्बर परम्परा में जो छह-री पालक संघ यात्रा की जो प्रवृत्ति प्रचलित है, उसके पूर्व-बीज भी हरिभद्र के इस विवरण में दिखाई देते हैं। आज भी तीर्थयात्रा में इन छह बातों का पालन अच्छा माना जाता है—

१. दिन में एकबार भोजन करना (एकाहारी)
२. भूमिशयन (भू-आधारी)
३. पैदल चलना (पादचारी)
४. शुद्ध श्रद्धा रखना (श्रद्धाधारी)
५. सर्वसत्त का त्याग (सत्त परिहारी)
६. ब्रह्मचर्य का पालन (ब्रह्मचारी)

तीर्थों के महत्त्व एवं यात्राओं सम्बन्धी विवरण हमें मुख्य रूप से परवर्ती काल के ग्रन्थों में ही मिलते हैं। सर्वप्रथम 'सारावली' नामक प्रकीर्णक में शत्रुंजय — 'पुण्डरीक तीर्थ' की उत्पत्ति कथा उसका महत्त्व एवं उसकी यात्रा तथा वहाँ किये गये तप, पूजा, दान आदि के फल विशेष रूप से उल्लिखित हैं।^२

१. श्री पंचाशक प्रकरणम्—हरिभद्रसूरि जिनयात्रा पंचाशक पृ० २४८-६३
(अभयदेव सूरि की टीका सहित-प्रकाशक-ऋषभदेव केशरीमल श्वे, संस्था, रतलाम)
२. पइण्यसुत्ताइं—सारावली पइण्यं पृ० ३५०-६०
सम्पादक— मुनिपुण्यविजयजी, प्रकाशक श्री महावीर विद्यालय
बम्बई ४०००३६

इसके अतिरिक्त विविधतीर्थ-कल्प (१३वीं शती) और तीर्थ मालायें भी जो कि १२वीं-१३वीं शताब्दी से लेकर परवर्ती काल में पर्याप्त रूप से रची गयीं; तीर्थों की महत्त्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती हैं। जैन साहित्य में तीर्थयात्रा संघों के निकाले जाने सम्बन्धी विवरण भी १३वीं शती के पश्चात् रचित अनेक तीर्थमालाओं एवं अभिलेखों में यत्र-तत्र मिल जाते हैं, जिनकी चर्चा आगे की गयी है।

तीर्थयात्रा का उद्देश्य न केवल धर्म साधना है, बल्कि इसका व्यावहारिक उद्देश्य भी है, जिसका संकेत निशीथचूर्णी में मिलता है। उसमें कहा गया है कि जो एक ग्राम का निवासी हो जाता है और अन्य ग्राम-नगरों को नहीं देखता वह कूपमंडूक होता है। इसके विपरीत जो भ्रमणशील होता है वह अनेक प्रकार के ग्राम-नगर, सन्निवेश, जनपद, राजधानी आदि में विचरण कर व्यवहार-कुशल हो जाता है तथा नदी, गुहा, तालाब, पर्वत आदि को देखकर चक्षु सुख को भी प्राप्त करता है। साथ ही तीर्थकरों के कल्याणकर्मियों को देखकर दर्शन विशुद्धि भी प्राप्त करता है। पुनः अन्य साधुओं के समागम का भी लाभ लेता है और उनके समाचारी से भी परिचित हो जाता है। परस्पर दानादि द्वारा विविध प्रकार के घृत, दधि, गुड़, क्षीर आदि नाना व्यंजनों का रस भी ले लेता है।^१

निशीथचूर्णी के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट होता है कि जैन-आचार्य तीर्थयात्रा की आध्यात्मिक मूल्यवत्ता के साथ-साथ उसकी व्यावहारिक उपादेयता भी स्वीकारते थे।

१ **अहाव**—तस्स भावं णाऊण भणेज्जा—‘सो वत्थव्वो एगगामणिवासी कूवमंडुक्को इव ण गामणगरादी पेच्छति । अम्हे पुण अणियतवासी, तुमं पि अम्हेहिं समानं हिंडंतो णाणाविध-गाम-णगरागर-सन्निवेश-रायहाणि जाणवदे य पेच्छंतो अभिधाणकुसलो भविस्ससि, तहा सर-वावि-वप्पिणि-णदि-कूव-तडाग-काणणुज्जाण कंदर-दरि-कुहर-पव्वते य णाणाविह-रक्खसोभिए पेच्छंतो चक्खुसुहं पाविहिसि, तित्थकराण य तिलोगवूइयाण जम्मण-णिक्खण-विहार—केवलुप्पाद-निव्वाणभूमिओ य पेच्छंतो दंसणसुद्धि काहिसि’ तहा अण्णोण्णसाहुसमागमेण य सामायारि-कुसलो भविस्ससि, सव्वापुव्वे य चेइए वंदंतो बोहिलाभं निज्जित्तेहिसि, अण्णोण्ण-सुय-दाणाभिगमसड्ढे सु संजमाविरुद्धं विविध-वंजणोववेयमण्यं घय-गुल-दधि-क्षीरमादियं च विगतिवरिभोगं पाविहिसि’ ॥२७१६॥

—निशीथचूर्णी, भाग ३, पृ० २४, प्रकाशक-सन्मतिज्ञानपीठ, आगरा

तीर्थविषयक श्वेताम्बर जैन साहित्य

तीर्थविषयक साहित्य में कुछ कल्याणक भूमियों के उल्लेख समवायांग, ज्ञाता और पर्युषणाकल्प में हैं। कल्याणक भूमियों के अतिरिक्त अन्य तीर्थक्षेत्रों के जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनमें श्वेताम्बर परम्परा में सबसे पहले महानिशीथ और निशीथचूर्णी में हमें मथुरा, उत्तरापथ और चम्पा के उल्लेख मिलते हैं। निशीथचूर्णि, व्यवहारभाष्य, व्यवहारचूर्णि आदिमें भी नामोल्लेख के अतिरिक्त इन तीर्थों के सन्दर्भ में विशेष कोई जानकारी नहीं मिलती; मात्र यह बताया गया है कि मथुरा स्तूपों के लिए, उत्तरापथ धर्मचक्र के लिये और चम्पा जीवन्तस्वामी की प्रतिमा के लिए प्रसिद्ध थे। तीर्थ सम्बन्धी विशिष्ट साहित्य में तित्थोगालिय प्रकीर्णक, सारावली प्रकीर्णक के नाम महत्त्वपूर्ण माने जा सकते हैं किन्तु तित्थोगालिय प्रकीर्णक में तीर्थस्थलों का विवरण न होकर के साधु, साध्वी, श्रावक एवं श्राविका रूप चतुर्विध तीर्थ की विभिन्न कालों में विभिन्न तीर्थकरों द्वारा जो स्थापना की गई, उसके उल्लेख मिलते हैं, उसमें जैनसंघरूपी तीर्थ के भूत और भविष्य के सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। उसमें महावीर के निर्वाण के बाद आगमों का विच्छेद किस प्रकार से होगा? कौन-कौन प्रमुख आचार्य और राजा आदि होंगे, इसके उल्लेख हैं। इस प्रकीर्णक में श्वेताम्बर परम्परा को अमान्य ऐसे आगम आदि के उच्छेद के उल्लेख भी हैं। यह प्रकीर्णक मुख्यतः महाराष्ट्री प्राकृत में उपलब्ध होता है, किन्तु इस पर शौरसेनी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। इसका रचनाकाल निश्चित करना तो कठिन है, फिर भी यह लगभग दसवीं शताब्दी के पूर्व का होना चाहिए, ऐसा अनुमान किया जाता है।

तीर्थ सम्बन्धी विस्तृत विवरण की दृष्टि से आगमिक और प्राकृत भाषा के ग्रन्थों में 'सारावली' को मुख्य माना जा सकता है। इसमें मुख्यरूप से शत्रुंजय अपरनाम पुण्डरीक तीर्थ की उत्पत्ति-कथा दी गई है। इस प्रकीर्णक में शत्रुंजय तीर्थ का निर्माण कैसे हुआ और उसका पुण्डरीक नाम कैसे पड़ा? ये दो बातें मुख्य रूप से विवेचित हैं और इस सम्बन्ध में कथा भी दी गई है। यह सम्पूर्ण ग्रन्थ लगभग ११६ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। यद्यपि यह ग्रंथ प्राकृत भाषा में लिखा

गया है, किन्तु भाषा पर अपभ्रंश के प्रभाव को देखते हुए इसे परवर्ती ही माना जायेगा। इसका काल दसवीं शताब्दी के लगभग होगा।

इस प्रकीर्णक में इस तीर्थ पर दान, तप, साधना आदि के विशेष-फल की चर्चा हुई है। ग्रन्थ के अनुसार पुण्डरीक तीर्थ की महिमा और कथा अतिमुक्त नामक ऋषि ने नारद को सुनायी, जिसे सुनकर उसने दीक्षित होकर केवल ज्ञान और सिद्धि को प्राप्त किया। कथानुसार ऋषभदेव के पौत्र पुण्डरीक के निर्वाण के कारण यह तीर्थ पुण्डरीक गिरि के नाम से प्रचलित हुआ। इस तीर्थ पर नमि, विनमि आदि दो करोड़ केवली सिद्ध हुए हैं। राम, भरत आदि तथा पंचपाण्डवों एवं प्रद्युम्न, शाम्ब आदि कृष्ण के पुत्रों के इसी पर्वत से सिद्ध होने की कथा भी प्रचलित है। इस प्रकार यह प्रकीर्णक पश्चिम भारत के सर्वविश्रुत जैन तीर्थ की महिमा का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ माना जा सकता है। श्वेताम्बर परंपरा के प्राचीन आगमिक साहित्य में इसके अतिरिक्त अन्य कोई तीर्थ सम्बन्धी स्वतन्त्र रचना हमारी जानकारी में नहीं है।

इसके पश्चात् तीर्थ सम्बन्धी साहित्य में प्राचीनतम जो रचना उपलब्ध होती है, वह बप्पभट्टिसूरि की परम्परा के यशोदेवसूरि के गच्छ के सिद्धसेनसूरि का सकलतीर्थस्तोत्र है। यह रचना ई० सन् १०६७ अर्थात् ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध की है। इस रचना में सम्मत्तशिखर, शत्रुञ्जय, उर्जयन्त, अबुद, चित्तौड़, जालपुर (जालौर) रणथम्भौर, गंगालगिरि (ग्वालियर) मथुरा, राजगृह, चम्पा, पावा, अयोध्या, काम्पिल्य, भद्विलपुर, शौरीपुर, अंगइया (अंगदिका), कन्नौज, श्रावस्ती, वाराणसी, राजपुर, कुण्डनी, गजपुर, तलवाड़, देवराउ, खंडिल, डिण्डूवान (डिण्डवाना), नरान, हर्षपुर (षट्टउदेसे), नागपुर (नागौर-साम्भरदेश), पल्ली, सण्डेर, नाणक, कोरण्ट, भिन्नमाल, (गुर्जर देश), आहड़ (मेवाड़ देश) उपकेसनगर (किराडउए) जयपुर (मरुदेश) सत्यपुर (साचौर), गुह्यराय, पश्चिम वल्ली, थारा-प्रद, वायण, जलिहर, नगर, खेड़, मोढेर, अनहिल्लवाड़ (चड्ढावल्लि), स्तम्भनपुर, कयंवास, भरुकच्छ (सौराष्ट्र) कुंकन, कलिकुण्ड, मानखेड़, (दक्षिण भारत) धारा, उज्जैनी (मालवा) आदि तीर्थों का उल्लेख है।

सम्भवतः समग्र जैन तीर्थों का नामोल्लेख करने वाली उपलब्ध रचनाओं में यह प्राचीनतम रचना है ।^१ यद्यपि इसमें दक्षिण के उन दिगम्बर जैन तीर्थों के उल्लेख नहीं है । जो कि इस काल में अस्तित्व-वान् थे । इस रचना के पश्चात् हमारे सामने तीर्थ सम्बन्धी विवरण देने वाली दूसरी महत्त्वपूर्ण एवं विस्तृत रचना विविधतीर्थकल्प है, इस ग्रन्थ में दक्षिण के कुछ दिगम्बर तीर्थों को छोड़कर पूर्व, उत्तर, पश्चिम और मध्य भारत के लगभग सभी तीर्थों का विस्तृत एवं व्यापक वर्णन उपलब्ध होता है. यह ई०सन् १३३२ की रचना है । श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थ सम्बन्धी रचनाओं में इसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जा सकता है । इसमें जो वर्णन उपलब्ध है, उससे ऐसा लगता है कि अधिकांश तीर्थस्थलों का उल्लेख कवि ने स्वयं देखकर किया है । यह कृति अपभ्रंश मिश्रित प्राकृत और संस्कृत में निर्मित है । इसमें जिन तीर्थों का उल्लेख है वे निम्न हैं—शत्रुजय, रवतक गिरि, स्तम्भनकतीर्थ, अहिच्छत्रा, अर्बुद (आबू), अश्वावबोध (भड़ौच), वैमारगिरि (राजगिरि), कौशाम्बी, अयोध्या, आपापा (पावा), कलिकुण्ड, हस्तिनापुर, सत्यपुर (साचौर), अष्टापद (कैलाश), मिथिला, रत्नवाहपुर, प्रतिष्ठानपत्तन, (पैठन), काम्पलय, अणहिलपुर पाटन, शंखपुर, नासिकपुर (नासिक), हरिकञ्चीनगर, अवंतिदेशस्थ अभिनन्दनदेव, चम्पा, पाटलिपुत्र, श्रावस्ती, वाराणसी, कोटिशिला, कोकावसति, ढिपुरी, हस्तिनापुर, अंतरिक्षपार्श्वनाथ, फलवर्द्धिपार्श्वनाथ (फलौधी), आमरकुण्ड (हनमकोण्ड-आंध्रप्रदेश) आदि ।

१. सम्मेयसेल-सेत्तुञ्ज-उज्जते अब्बुयमि चित्तउडे ।
जालउरे रणथंभे गोपालगिरिमि वंदामि ॥१९॥
सिरिपासनाहसहियं रम्मं सिरिनिम्मयं महाथूभं ।
कलिकाले वि सुयिस्थं महुरानयरीउ (ए) वंदामि ॥२०॥
रायगिह-चम्प-पावा-अउज्झ-कंपिल्लट्टणपुरेसु ।
अहिलपुरि-सोरीयपुरि-अङ्गइया-कन्नउज्जेसु ॥२१॥
सावत्थि-दुग्गमाइसु वाणारसीपमुहपुव्वदेसंमि ।
कम्मग-सिरोहमाइसु भयाणदेसंमि वंदामि ॥२२॥
राजउर-कुण्हणीसु य वंदे गज्जउर पंच य सयाइं ।
सलवाड देवराउ रुउत्तदेसंमि वंदामि ॥२३॥

इन ग्रंथों के पश्चात् श्वेताम्बर परम्परा में अनेक तीर्थमालायें एवं चैत्यपरिपाटियाँ लिखी गईं जो कि तीर्थ सम्बन्धी साहित्य की महत्त्वपूर्ण अंग हैं। ये अधिकांशतः परवर्ती अपभ्रंश एवं प्राचीन मरु-गुर्जर में लिखी गई हैं। इन तीर्थमालाओं और चैत्यपरिपाटियों की संख्या शताधिक है और ये ग्यारहवीं शताब्दी से लेकर सत्रहवीं-अठारवीं शताब्दी तक निर्मित होती रही हैं। इन तीर्थमालाओं तथा चैत्यपरिपाटियों में कुछ तो ऐसी हैं जो किसी तीर्थ विशिष्ट से ही सम्बन्धित हैं और कुछ ऐसी हैं जो सभी तीर्थों का उल्लेख करती हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से इन चैत्यपरिपाटियों का अपना महत्त्व है, क्योंकि ये अपने-अपने काल में जैन तीर्थों की स्थिति का सम्यग् विवरण प्रस्तुत कर देती हैं। इन चैत्यपरिपाटियों में न केवल तीर्थक्षेत्रों का विवरण उपलब्ध होता है, अपितु वहाँ किस-किस मन्दिर में कितनी पाषाण और धातु की जिन प्रतिमाएँ

खंडिल-डिडूआणय नराण-हरसउर खट्टऊदेसे ।
 नागउरमुव्विदंतिमु संभरिदेसंमि वंदेमि ॥२४॥
 पल्ली संडेरय-नाणएमु कोरिट-भिन्नमाल्लेलेमु ।
 वंदे गुज्जरदेसे आहाडाईमु मेवाडे ॥२५॥
 उअएस-किराडए वि जयपुराईमु मरुमि वंदामि ।
 सच्चउर-गुडुरायमु पच्छिमदेसंमि वंदामि ॥२६॥
 थाराउह्य-वायड-जालीहर-नगर-खेड-मोढेरे ।
 अणहिल्लवाडनयरे वड्डावल्लीयं बंभाणे ॥२७॥
 निह्यकलिकालमहियं सायसतं सयलवाइथंभणए ।
 थंभणपुरे कयवासं पासं वंदामि भत्तीए ॥२८॥
 कच्छे भरुयच्छंमि य सोरट्ट-मरहट्ट-कुं कण-थलीमु ।
 कलिकुण्ड-माणखेडे दक्षि (क्खि) णदेसंमि वंदामि ॥२९॥
 धारा-उज्जेणीमु य मालवदेसंमि वंदामि ।
 वंदामि मणुयविहिंए जिणभवणे सव्वदेसेमु ॥३०॥
 भरहयि (म्मि) मणुयविहिया महिया मोहारिमहियमाहप्पा ।
 सिरित्तिद्धसेणसूरीहि संथुया सिव्वमुहं देतु ॥३२॥

—Discriptive Catalogue of Mss in the Jaina
 Bhandars at Pattan—G.O.S. 73, Baroda 1937
 p. 56

रखी गयी हैं, इसका भी विवरण उपलब्ध हो जाता है। उदाहरण के रूप में कटुकमति लाधाशाह द्वारा विरचित सूरतचैत्यपरिपाटीमें यह बताया गया है कि इस नगर के गोपीपुरा क्षेत्र में कुल ७५ जिनमंदिर, ५ विशाल जिन मंदिर तथा १३२५ जिनबिम्ब थे। सम्पूर्ण सूरत नगर में १० विशाल जिनमन्दिर, २३५ देरासर (गृहचैत्य) ३३ भर्गगृह, ३९७८ जिन प्रतिमाएँ थीं। इसके अतिरिक्त सिद्धचक्र कमलचौमुख, पंचतीर्थी, चौबीसी आदि को मिलाने पर १००४१ जिनप्रतिमाएँ उस नगर में थीं, ऐसा उल्लेख है। यह विवरण १७९३ का है। इस पर से हम अनुमान कर सकते हैं कि इन रचनाओं का ऐतिहासिक अध्ययन की दृष्टि से कितना महत्त्व है। सम्पूर्ण चैत्यपरिपाटियों अथवा तीर्थमालाओं का उल्लेख अपने आप में एक स्वतन्त्र शोध का विषय है। अतः हम उन सबकी चर्चा न करके मात्र उनकी एक संक्षिप्त सूची प्रस्तुतकर रहे हैं—

रचना	रचनाकार	रचनातिथि
सकलतीर्थस्तोत्र	सिद्धसेनसूरि	वि०सं० ११२३
अष्टोत्तरीतीर्थमाला	महेन्द्रसूरि	वि०सं० १२४१
कल्पप्रदीप अपरनाम		
विविधतीर्थकल्प	जिनप्रभसूरि	वि०सं० १३८९
तीर्थयात्रास्तवन	विनयप्रभ उपाध्याय	वि०सं० १४ वीं शती
अष्टोत्तरीतीर्थमाला	मुनिप्रभसूरि	वि०सं० १५ वीं शती
तीर्थमाला	मेघकृत	वि०सं० १६ वीं शती
पूर्वदेशीयचैत्यपरिपाटी	हंससोम	वि०सं० १५६५
सम्मेतशिखर तीर्थमाला	विजयसागर	वि०सं० १७१७
श्री पाश्र्वनाथ नाममाला	मेघविजय उपाध्याय	वि०सं० १७२१
तीर्थमाला	शीलविजय	वि०सं० १७४८
तीर्थमाला	सौभाग्य विजय	वि०सं० १७५०
शत्रुञ्जयतीर्थपरिपाटी	देवचन्द्र	वि०सं० १७६९
सूरतचैत्यपरिपाटी	घालासाह	वि०सं० १७९३
तीर्थमाला	ज्ञानविमलसूरि	वि०सं० १७९५
सम्मेतशिखरतीर्थमाला	जयविजय	—
गिरनार तीर्थ	रत्नसिंहसूरिशिष्य	—
चैत्यपरिपाटी	मुनिमहिमा	—

पार्वनाथ चैत्यपरिपाटी	कल्याणसागर	—
शास्वततीर्थमाला	वाचनाचार्य मेरुकीर्ति	—
जैसलमेरचैत्यपरिपाटी	जिनसुखसूरि	—
शत्रुञ्जयचैत्यपरिपाटी	—	—
शत्रुञ्जयतीर्थयात्रारास	विनीत कुशल	—
आदिनाथ रास	कविलावण्यसमय	—
पार्वनाथसंख्यास्तवन	रत्नकुशल	—
कावीतीर्थवर्णन	कविदीप विजय	वि०सं १८८६
तीर्थराजचैत्यपरिपाटीस्तवन	साधुचन्द्रसूरि	—
पूर्वदेशचैत्यपरिपाटी	जिनवर्धनसूरि	—
मंडपांचलचैत्यपरिपाटी	खेमराज	—

यह सूची 'प्राचीनतीर्थमालासंग्रह' सम्पादक—विजयधर्मसूरिजी के आधार पर दी गई है।

दिगम्बर परम्परा का तीर्थविषयक साहित्य

दिगम्बर परम्परा में प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुड, षट्खण्डागम, भगवतीआराधना एवं मूलाचार हैं। किन्तु इनमें तीर्थ शब्द का तात्पर्य धर्मतीर्थ या चतुर्विधसंघ रूपी तीर्थ से ही है। दिगम्बर परम्परा में तीर्थक्षेत्रों का वर्णन करने वाले ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ती को प्राचीनतम माना जा सकता है। तिलोयपण्णत्ती में मुख्य रूप से तीर्थङ्करों की कल्याणक-भूमियों के उल्लेख मिलते हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त उसमें क्षेत्रमंगल की चर्चा करते हुए पावा, उर्जयंत और चम्पा के नामों का उल्लेख किया गया है।^१ इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ती में राजगृह का पंचशैलनगर के रूप में उल्लेख हुआ है और उसमें पांचों शैलों का यथार्थ और विस्तृत विवेचन भी है। समन्तभद्र ने स्वयम्भूस्तोत्रमें उर्जयंत का विशेष विवरण प्रस्तुत किया है। दिगम्बर परम्परा में इसके पश्चात् तीर्थों का विवेचन करने वाले ग्रन्थों के रूप में दशभक्तिपाठ प्रसिद्ध हैं। इनमें संस्कृतनिर्वाणभक्ति और प्राकृतनिर्वाणकण्ड महत्त्वपूर्ण हैं। सामान्यतया संस्कृतनिर्वाणभक्ति के कर्ता 'पूज्यपाद' और प्राकृतभक्तियों के कर्ता 'कुंदकुंद' को माना

१. तिलोपण्णत्ति १।२१-२४

जाता है। पंडित नाथूराम जी प्रेमी ने इन निर्वाणभक्तियों के सम्बन्ध में इतना ही कहा है 'कि जब तक इन दोनों रचनाओं के रचयिता का नाम मालूम न हो तब तक इतना ही कहा जा सकता है कि ये निश्चय ही आशाधर से पहले की (अब से लगभग ७०० वर्ष पहले की हैं।' प्राकृत भक्ति में नर्मदा नदी के तट पर स्थित सिद्धवरकूट, बड़वानी नगर के दक्षिण भाग में चूलगिरि तथा पावागिरि आदि का उल्लेख किया गया है किन्तु ये सभी तीर्थक्षेत्र पुरातात्त्विक दृष्टि से नवीं-दसवीं के पूर्व के सिद्ध नहीं होते। इसलिए इन भक्तियों का रचनाकाल और इन्हें जिन आचार्यों से सम्बन्धित किया जाता है वह सदिग्ध बन जाता है। निर्वाणकाण्ड में अष्टापद, चम्पा, उर्जयंत, पावा, सम्मेदगिरि, गजपंथ, तारापुर, पावागिरि, शत्रुञ्जय, तुंगीगिरि, सवनगिरि, सिद्ध-वरकूट, चुलगिरि, बड़वानी, पावागिरि, द्रोणगिरि, मेढ़गिरि, कुंथु-गिरि, कोटशिला, रिसिदगिरि, नागद्रह, मंगलपुर, आशारम्य, पोदन-पुर, हस्तिनापुर, वाराणसी, मथुरा, अहिच्छत्रा, जम्बूवन, अर्गलदेश, णिवडकुंडली, सिरपुर होलगिरि, गोम्मटदेव आदि तीर्थों के उल्लेख हैं। इस निर्माणभक्ति में आये हुए चुलगिरि, पावागिरि, गोम्मटदेव, सिरपुर आदि के उल्लेख ऐसे हैं, जो इस कृति को पर्याप्त परवर्ती सिद्ध कर देते हैं। गोम्मटदेव (श्रवणबेलगोला) की बाहुबली की मूर्ति का निर्माण ई० स० ९८३ में हुआ। अतः यह कृति उसके पूर्व की नहीं मानी जा सकती और इसके कर्ता भी कुंदकुंद नहीं माने जा सकते।

पाँचवीं से दशवीं शताब्दी के बीच हुए अन्य दिगम्बर आचार्यों की कृतियों में कुंदकुंद के पश्चात् पूज्यपाद का क्रम आता है। पूज्यपाद ने निर्वाणभक्ति में निम्न स्थलों का उल्लेख किया है—

कुण्डपुर, जम्भिकाग्राम, वैभारपर्वत, पावानगर, कैलाशपर्वत, उर्जयंत, पावापुर, सम्मेदपर्वत, शत्रुञ्जयपर्वत, द्रोणीमत, सह्याचल आदि।

रविषेण ने 'पद्मचरित' में निम्न तीर्थस्थलों की चर्चा की है—
कैलाश पर्वत, सम्मेदपर्वत, वंशगिरि, मेघरव, अयोध्या, काम्पित्य, रत्नपुर, श्रावस्ती, चम्पा, काकन्दी, कौशाम्बी, चन्द्रपुरी, भद्रिका, मिथिला, वाराणसी, सिंहपुर, हस्तिनापुर, राजगृह, निर्वाणगिरि आदि।

दिगम्बर परम्परा के तीर्थ सम्बन्धी शेष प्रमुख तीर्थवन्दनाओं की सूची इस प्रकार है —

रचना	रचनाकार	समय
शासनचतुस्त्रिशिका	मदनकीर्ति	१२वीं-१३वीं शती
निर्वाणकाण्ड	—	”
तीर्थवन्दना	—	”
जीरावला पार्श्वनाथस्तवन	उदयकीर्ति	”
पार्श्वनाथस्तोत्र	पद्मनंदि	१४वीं शती
माणिक्यस्वामीविनति	श्रुतसागर	१५वीं शती
मांगीतुंगीगीत	अभयचन्द्र	”
तीर्थवन्दना	गुणकीर्ति	”
तीर्थवन्दना	मेघराज	१६वीं शती
जम्बूद्वीपजयमाला, तीर्थजयमाला	सुमतिसागर	”
जम्बूस्वामिचरित	राजमल्ल	”
सर्वतीर्थ वन्दना	ज्ञानसागर	१६वीं-१७वीं शती
श्रीपुरपार्श्वनाथविनती	लक्ष्मण	१७वीं शती
पुष्पांजलिजयमाला	सोमसेन	”
तीर्थजयमाला	जयसागर	”
तीर्थवन्दना	चिमणा पंडित	”
	जिनसेन	”
सर्वत्रैलोक्यजिनालय जयमाला	विश्वभूषण	१७वीं शती
बलिभद्र अष्टक	मेरुचन्द्र	”
बलिभद्र अष्टक	गंगादास	”
मुक्तागिरि जयमाला	धनजी	”
रामटेक छंद	मकरंद	१७वीं-१८वीं शती
पद्मावती स्तोत्र	तोपकरि	१८वीं शती
षट्तीर्थ वन्दना	देवेन्द्रकीर्ति	”
	जिनसागर	”
मुक्तागिरि आरती	राघव	१८वीं-१९वीं शती
अकृत्रिम चैत्यालयजयमाला	पं० दिलसुख	१९वीं शती
पार्श्वनाथ जयमाला	ब्रह्म हर्ष	”
तीर्थवन्दना	कवीन्द्रसेवक	”

नोट :—उक्त तालिका डॉ० विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा संपादित तीर्थावन्दनसंग्रह के आधार पर प्रस्तुत की गयी है ।

आधुनिक काल के जैन तीर्थ-विषयक ग्रन्थ

- १—जैन तीर्थोन्नो इतिहास (गुजराती) मुनि श्री न्यायविजय जी
—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद १९४९ ई०
- २—जैनतीर्थसर्वसंग्रह भाग-१, (खण्ड १-२), भाग-२ पं० अम्बाचाल
पी० शाह, आनन्दजी कल्याणजी की पेढी, झवेरीवाड़,
अहमदाबाद से प्रकाशित
- ३—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ—डॉ० जगदीशचन्द्र जैन
जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी-५
- ४—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, १, २, ३, ४, ५, (सचित्र)
—श्री बलभद्र जैन
भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी-बम्बई
- ५—तीर्थदर्शन, भाग १ एवं २
प्रकाशक—श्री महावीर जैन कल्याण संघ, मद्रास ६००००७
इसके अतिरिक्त पृथक् पृथक् तीर्थों पर भी कई महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी
उपलब्ध हैं ।



प्रो० सागरमल जैन
निदेशक
पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान
वाराणसी-५

विषय प्रवेश

जैन धर्म की अत्यधिक प्राचीनता, इसकी दीर्घायु और अद्यावधि लोकप्रियता, इसके अनेक सिद्धान्तों यथा व्यावहारिक दृष्टिकोण से अहिंसा और सैद्धान्तिक दृष्टिकोण से स्यादवाद की समसामयिकता इस धर्म को सहज ही अत्यन्त रोचक बनाते हैं। प्रायः आधुनिक विचारक जैनधर्म के महत्त्व को सहज ही स्वीकार करते हैं। प्राचीन भारतीय संस्कृति के विद्वानों में इसके प्रति आकर्षण-इसकी प्राचीनता, तद्युगीन इसके महत्त्व, इसके प्रचुर साहित्य तथा पुरातात्विक अवशेषों के कारण ही रहा। परन्तु सम्भवतः ब्राह्मणीय और बौद्ध धर्म के अध्ययन पर जितना ध्यान दिया गया, उतना जैनधर्म के अध्ययन पर नहीं। ब्राह्मणीय धर्म के प्रति आकर्षण तो स्वाभाविक ही था क्योंकि सम्पूर्ण भारतीय धार्मिक इतिहास की यही प्रधान धारा थी और प्रत्येक दृष्टि से सर्वाधिक समृद्ध भी थी। बौद्ध धर्म के प्रति अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण के भी अनेक कारणों की कल्पना की जा सकती है। वह प्राचीन भारतीय इतिहास की निर्विवाद रूप से एक महत्वपूर्ण धारा रही, परन्तु इसके साथ-साथ भारत के बाहर उसके व्यापक प्रचार-प्रसार ने भी उसके ऐतिहासिक आकर्षण में वृद्धि कर दी। संभवतः उसके किञ्चित् अधिक बुद्धिवादी दृष्टिकोण ने भी उसके प्रति आधुनिक विद्वानों को अधिक आकृष्ट किया होगा और विशेषकर १९वीं शताब्दी के यूरोपीय विचारकों को जो स्वयं एक प्रकार की बुद्धिवादी मानवतावाद के पोषक थे, यह अधिक रुचिकर प्रतीत हुआ हो। यही कारण है कि प्राचीन पालि साहित्य का व्यापक रूप से सम्पादन और अनुवाद हुआ और उसके सूक्ष्म अध्ययन के अनेक प्रयत्न हुए। जैन धर्म के प्रति अपेक्षाकृत कम आकर्षण का संभवतः एक आकस्मिक कारण यह भी था कि प्राकृत भाषा अपेक्षाकृत अधिक दुरूह थी। हो सकता है कि जैनधर्म की अतिशय विभाजन-प्रियता ने भी उसके

सिद्धान्तों के प्रति आकर्षण को कम करने में कुछ योगदान किया हो। ये सब होते हुये भी आधुनिक काल (वर्तमान युग) में भारतीय संस्कृति के अनेक अध्येताओं ने जैनधर्म और साहित्य के प्रति स्वयं को पूर्णरूपेण समर्पित किया और भारतीय संस्कृति के इस महत्त्वपूर्ण अंग के प्रति हमारे ज्ञान में वृद्धि की किन्तु, यह उल्लेखनीय है कि जैन सिद्धान्तों का जितना अधिक अध्ययन हुआ, जैन धार्मिक संस्थाओं का उतना अधिक नहीं। जैन धर्म का प्रारम्भ तो निरीश्वरवादी धर्म के रूप में ही हुआ और शुद्ध सैद्धान्तिक स्तर पर जैनों ने इस स्थिति को सदा सुरक्षित रखने की चेष्टा भी की, परन्तु व्यवहार में जैनधर्म में तीर्थङ्करों और उनसे सम्बन्धित अनेक देवी-देवताओं की पूजा-प्रार्थना का प्रचुर विकास हुआ। श्रद्धालु जैनियों ने अनेक जैन देवताओं की मूर्तियां प्रतिष्ठित कीं, भव्य स्मारकों का निर्माण कराया और इस प्रकार देश के विभिन्न भागों में जैन तीर्थ केन्द्रों की स्थापना और वृद्धि हुई। जैन तीर्थों के इतिहास पर सन्तोषजनक प्रकाश डालने वाले आधुनिक गवेषणात्मक ग्रन्थों का प्रायः अभाव ही है, जो कुछ भी अध्ययन उपलब्ध है उनमें भी हमें प्रायः जैनधर्म के सामान्य प्रचार प्रसार का ही इतिहास मिलता है और उनकी विभिन्न धार्मिक संस्थाओं पर गम्भीर शोध की परम्परा तो प्रायः हाल में ही प्रारम्भ हुई। इस क्रम में जैन संघ, जैन प्रतिमा विज्ञान, जैन वास्तुकला आदि पर महत्त्वपूर्ण अध्ययन हो रहे हैं, परन्तु जैन तीर्थों पर अभी तक सन्तोषजनक अध्ययन प्रारम्भ नहीं किया गया। यद्यपि जैसा कि आगे स्पष्ट किया गया है, जैन धर्म में न केवल तीर्थ संस्था अत्यधिक विकसित थी, बल्कि जैन साहित्यकारों ने तीर्थों पर विशिष्ट साहित्य की भी रचना की। आचार्य जिनप्रभसूरि ऐसे ग्रन्थकारों में अग्रगण्य हैं। इसी कारण उनके ग्रन्थ कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प को प्रस्तुत विवेचना के विषय के रूप में चुना गया है।

अपने से विशेष गुणवान और योग्य व्यक्ति के प्रति मनुष्य की श्रद्धा एवं पूज्य बुद्धि का होना स्वाभाविक है। इसी भावना से भक्तिवाद का विकास हुआ और क्रमशः अवतारवाद, बहुदेववाद तथा मूर्तिपूजा आदि कल्पनायें एवं विधि-विधान भी प्रकाश में आये। तीर्थ भावना का भी भक्तिवाद से ही जन्म हुआ माना जाता है। पूज्य

व्यक्ति के माता-पिता, वंश, जन्म, विहार आदि से सम्बन्धित स्थान तीर्थरूप में प्रसिद्ध हुए। प्रत्येक धार्मिक समुदाय में तीर्थों का इसी-कारण जन्म हुआ। चूंकि जैन परम्परा में तीर्थङ्कर का पद सर्वोच्च है, अतः उनके जीवन से सम्बन्धित स्थानों को तीर्थ माना गया। इन स्थानों में पूजा हेतु चरण-चिह्न अथवा प्रतिमा स्थापित कर दी जाती थी, जो उस तीर्थङ्कर के स्मृति को जीवन्त बनाये रखती थी। यह सर्वज्ञात है कि जैन धर्म में २४ तीर्थङ्करों की मान्यता है, परन्तु आधुनिक इतिहासकारों को इनमें से अन्तिम दो—पार्श्वनाथ और महावीर की ऐतिहासिकता ही स्वीकार्य है। यद्यपि इन तीर्थङ्करों के भी प्रामाणिक जीवनवृत्त का विस्तार से ज्ञान तो नहीं है फिर भी इनके जीवन से सम्बन्धित स्थानों की तीर्थ रूप में विकास की सहज कल्पना की जा सकती है। कालान्तर में जब जैन धर्म के व्यापक प्रचार-प्रसार की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और उन नये-नये क्षेत्रों में जैन श्रमणों और उपासकों के केन्द्रों बने, तब उन स्थलों में भी तीर्थों की कल्पना की गयी। ये स्थान पार्श्वनाथ और महावीर के अतिरिक्त अन्य तीर्थङ्करों के जीवनवृत्त से भी सम्बद्ध किये गये। वास्तव में जैन परम्परा सभी तीर्थङ्करों के अलग-अलग जीवनवृत्त प्रस्तुत करती है और उनके जन्म, ज्ञानप्राप्ति और निर्वाण आदि के स्थलों की सूचना देती है। यह कल्पना सहज ही की जा सकती है कि भले ही अनेक तीर्थङ्करों सम्बन्धी ये सूचनार्ये काल्पनिक हैं, परन्तु विशेष क्षेत्रों में व्यापक रूप से लोकप्रिय जैन धर्म के पृष्ठभूमि में जैन समाज ने इन्हें ऐतिहासिक स्वीकार कर लिया होगा। इस विकास का स्वाभाविक क्रम यही रहा होगा कि ऐतिहासिक तीर्थ-ङ्करों के आधार पर अन्य तीर्थङ्करों की कल्पना हुई और इनके जीवनवृत्त के आधार पर अन्य तीर्थङ्करों का भी जीवनवृत्त ढाला गया। सामान्यरूप से तीर्थङ्करों के प्रतिमास्थापन इत्यादि की प्रक्रिया प्रारम्भ हुई और धीरे-धीरे प्रसिद्ध हो जाने पर इन्हीं प्रतिमाओं और जिनालयों के आधार पर उन तीर्थस्थलों को तीर्थङ्कर विशेष के जीवन से सम्बद्ध कर लिया गया। इस प्रकार अनेक स्थान जिनका तीर्थङ्करों के जीवन से कोई वास्तविक सम्बन्ध न था, तीर्थ माने जाने लगे, इसके परिणाम स्वरूप आज छोटे-मोटे

हजारों तीर्थ जैन समाज में प्रसिद्ध हैं। समय-समय पर जैन मुनि और श्रावक वहाँ की यात्रा करते रहे और उनका वर्णन भी लिखते रहे। इसी कारण जैन तीर्थों सम्बन्धी ऐतिहासिक सामग्री भी बहुत विशाल रूप में पायी जाती है। यद्यपि जैनतर साहित्य में भी तीर्थों के सम्बन्ध में प्रचुर विवरण प्राप्त होता है परन्तु उनमें ऐतिहासिक दृष्टिकोण का प्रायः अभाव है अतः इस दृष्टि से जैन साहित्य विशेष महत्त्व का स्थान रखती है।

प्राचीन काल में आज की भांति साधन सुलभ न होने से मार्ग सम्बन्धी कठिनाई सर्वप्रमुख थी, इसी कारण बड़ी संख्या में लोग संघ बनाकर यात्रा हेतु निकलते थे। यात्री संघों में प्रायः मुनि भी रहा करते थे। ये संघ मार्ग में छोटे-बड़े ग्राम, नगर आदि में ठहरते थे और वहाँ के मन्दिरों के दर्शनादि जाते थे। विद्वान् मुनिजन संघ के साथ यात्रा करते समय मार्ग के ग्राम-नगर तथा वहाँ के निवासियों का भी वर्णन लिखते थे। इसी कारण तीर्थ-विषयक जैन साहित्य का भौगोलिक दृष्टि से भी बड़ा महत्त्व है। इनमें भारतीय ग्रामों एवं नगरियों के इतिहास सम्बन्धी सामग्री भरी पड़ी है, परन्तु अभी तक विद्वानों का ध्यान इस ओर प्रायः कम ही गया है अतः देश के अनेक ग्रामों एवं नगरों का बहुत कुछ इतिहास अन्धकार में ही है।

पूर्व के अध्ययनों का सर्वेक्षण

वर्तमान युग में तीर्थों के सम्बन्ध में जैन मुनियों एवं कुछ श्रद्धालु श्रावकों द्वारा ही छिट-फुट कई छोटी-छोटी पुस्तकें लिखी गयी हैं। तीर्थ विशेष को ही आधार बनाकर इनकी रचना हुई। श्रद्धालु जैन उपासकों के समक्ष तीर्थ विशेष के माहात्म्य को स्पष्ट करना ही इन रचनाओं का उद्देश्य था। मुनि जयन्तविजय ने भी

१. नाहटा, अगरचन्द "जैन साहित्य का भौगोलिक महत्त्व" प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, टीकमगढ़ (१९४६ ई०) पृ० ४७३-४८७

इस लेख के अन्तर्गत विद्वान् लेखक ने उस समय तक जैन तीर्थों के सम्बन्ध में प्रकाशित प्रायः सभी पुस्तकों का उल्लेख किया है।

विशेषकर जैन तीर्थों पर ही कई ग्रन्थ लिखे, परन्तु उनका दृष्टिकोण ऐतिहासिक रहा है। उन्होंने आबू,^१ शंखेश्वर,^२ कुंभारिया,^३ राधनपुर^४ आदि अनेक तीर्थों पर स्वतंत्र ग्रन्थ लिखे हैं। कुछ अन्य विद्वानों जैसे जार्ज बुह्लर^५, शार्लोटे क्राउझे^६, नाथूराम प्रेमी,^७ मधुसूदन ढाकी^८, अगरचन्द नाहटा एवं भंवरलाल नाहटा आदि ने भी जैन तीर्थों के सम्बन्ध में निष्पक्ष और गवेषणापूर्ण लेख लिखे हैं, परन्तु ये लेख तीर्थ विशेष के सम्बन्ध में ही हैं, फिर भी इस दिशा में कार्यरत शोधकर्ताओं के लिये एक आदर्श प्रस्तुत करते हैं।

सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्रमुख जैन तीर्थों के सम्बन्ध में जानकारी देने हेतु सर्वप्रथम त्रिपुटी महाराज ने वि०सं० २००५ ई०/सन् १९४९ में जैन तीर्थोन्नी इतिहास^१ नामक ग्रन्थ लिखा। इसमें उन्होंने तीर्थों की भौगोलिक स्थिति, उनकी प्राचीनता, उसके सम्बन्ध में प्रचलित कथानक, निर्माण एवं पुनर्निर्माण का विवरण, वर्तमान स्थिति आदि के सम्बन्ध में सविस्तार प्रकाश डाला है।

१. विजयधर्मसूरि जैन ग्रन्थमाला, उज्जैन, एवं यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर से प्रकाशित
२. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर से प्रकाशित
३. यह ग्रन्थ भी भावनगर से सन् १९६१ में प्रकाशित हुआ है।
४. भावनगर से सन् १९६० में प्रकाशित
५. "ए लीजेन्ड ऑफ जैन स्तूप ऐट मथुरा" वियना ओरियण्टल जर्नल [वियना, १८९७ ई०]
६. "महाकाल मंदिर और जैन धर्म" विक्रमस्मृतिग्रन्थ [उज्जैन, वि० सं० २०००] पृ० ४०१-४२४
७. जैन साहित्य और इतिहास [प्रथम संस्करण, बम्बई, सन् १९४२ई०] पृ० १८५-२३९
८. 'विमलवसहीनी केटलीक समस्याओ' स्वाध्याय जिल्द ९ [१९७२ई०] पृ० ३४९-८६ :
'उज्जयन्तगिरि एण्ड जिनअरिष्टनेमि' जर्नल ऑफ इन्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, न्यू सिरीज, जिल्द ६, [कलकत्ता, सन् १९८२ ई०], पृ० १-३३
९. श्रीचारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, अहमदाबाद से प्रकाशित

इसी क्रम में अहमदाबाद से सेठ आनन्दजी कल्याणजी की पेढ़ी से सन् १९५३ में पं० अम्बालाल प्रमानन्द शाह द्वारा लिखित जैन तीर्थ सर्व संग्रह नामक एक विशाल ग्रन्थ २ भागों (३ जिल्दों, भाग १-खण्ड १ और खण्ड २ तथा भाग २) में प्रकाशित हुआ । इसमें देश के विभिन्न भागों में स्थित प्रायः सभी प्रमुख तीर्थों के बारे में प्राचीन परम्परा, तीर्थ के निर्माण, जीर्णोद्धार तथा सम्बन्धित घटनाओं एवं वर्तमान स्थिति की चर्चा की गयी है । इसके अलावा देश के प्रायः सभी छोटे-बड़े जैन तीर्थों की सूची भी दी गयी है जिस में लगभग ४४०० तीर्थों का उल्लेख है ।

जैन संस्कृति संशोधन मण्डल, वाराणसी की ओर से सन् १९५२ में डा० जगदीशचन्द्र जैन द्वारा लिखित 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' नामक एक लघु ग्रन्थ प्रकाशित किया गया । इसमें देश के प्रायः सभी भागों में स्थित प्राचीन जैन तीर्थों का संक्षिप्त परन्तु प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

दिगम्बर परम्परा में भी जैन तीर्थों पर कुछ प्रशंसनीय कार्य हुये हैं । इस सम्बन्ध में पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखे गये तीन निबन्ध हमारे तीर्थक्षेत्र, दक्षिण के तीर्थक्षेत्र और तीर्थों के विवाद अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं ।^१ जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर (महाराष्ट्र) से भी सन् १९६५ में तीर्थवन्दनसंग्रह नामक ग्रंथ प्रकाशित हुआ, इसमें छठीं शती से लेकर १९वीं शती तक के दिगम्बर जैन ग्रन्थकारों द्वारा रचित तीर्थक्षेत्र के विवरणों को संकलित किया गया है । वीरनिर्वाण के २५००वें वर्ष में अखिल भारतीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी की ओर से भारतीय ज्ञानपीठ के तत्त्वावधान में पं० बलभद्र जैन द्वारा लिखित भारतवर्ष के दिगम्बर जैन तीर्थ नामक ग्रन्थ चार भागों में प्रकाशित किया गया । इसी प्रकार मद्रास की श्वेताम्बर जैन संस्था ने भी सन् १९७९ ई० में तीर्थ दर्शन नामक एक विशाल एवं सचित्र ग्रन्थ दो भागों में प्रकाशित किया । अन्तिम दोनों ग्रन्थ मुख्य रूप से जैन समाज को तीर्थ यात्रा के सम्बन्ध में मार्ग दर्शन देने हेतु ही लिखे गये हैं ।

१. प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास पृ० १८५-२३९ ।

जहां तक उपरोक्त ग्रन्थों की प्रामाणिकता का प्रश्न है, जैन तीर्थोन्नो इतिहास और जैनतीर्थसर्वसंग्रह तीर्थों के इतिहास, जिनालयों के निर्माण, पुनर्निर्माण आदि बातों की चर्चा तो करते हैं, परन्तु इनमें ऐतिहास दृष्टिकोण का प्रायः अभाव है। अनेक स्थलों पर इनमें भ्रामक सूचनायें भी संकलित कर दी गयी हैं। 'भारत के प्राचीन जैन तीर्थ' नामक ग्रन्थ प्राचीन जैन परम्परा के आधार पर जैन तीर्थों का प्रामाणिक विवरण प्रस्तुत करता है, परन्तु इसमें अत्यन्त संक्षिप्त रूप से ही तीर्थों का विवरण है और दूसरे मध्ययुगीन जैन तीर्थों के बारे में तो इससे कोई जानकारी ही नहीं प्राप्त होती, अतः इस दृष्टिकोण से यह ग्रन्थ विशेष उपयोगी नहीं कहा जा सकता। पं० नाथूराम प्रेमी द्वारा लिखे गये तीर्थों संबन्धी उक्त निबन्ध प्रामाणिक तो हैं, परन्तु उनसे कुछ तीर्थों के बारे में ही जानकारी प्राप्त होती है। तीर्थ-बन्दनसंग्रह में तीर्थ सम्बन्धी प्राचीन विवरणों के अलावा सार संकलन भी दिया गया है, जिसमें तीर्थ विशेष के बारे में दिगम्बर ग्रन्थकारों के विवरणों की चर्चा है। शेष दो ग्रन्थ भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ और तीर्थ दर्शन तो जैन तीर्थ यात्रियों के लिये एक प्रकार से 'मार्गदर्शिका' ही हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैन तीर्थों के सम्बन्ध में अब तक सीमित कार्य हुये हैं और वे भी प्रायः जैन उपासकों की तीर्थ यात्रा सम्बन्धी सुविधा को ध्यान में रखते हुये ही लिखे गये हैं। जैन तीर्थों के प्रामाणिक इतिहास का प्रायः अभाव ही है। प्रस्तुत पुस्तक में इसी अभाव की पूर्ति का एक लघु प्रयास किया गया है।

जैन तीर्थों के इतिहास की स्रोत सामग्री

तीर्थों के इतिहास सम्बन्धी हमारे पास दो स्रोत हैं -

१ - साहित्यिक २ - पुरातात्विक।

१. साहित्यिक साक्ष्य

जैन परम्परा में २४ तीर्थंकरों की मान्यता है। प्रत्येक तीर्थंकर के पंचकल्याणकों से सम्बन्धित स्थल दोनों परम्पराओं (श्वेताम्बर और दिगम्बर) में तीर्थरूप में मान्य हैं। श्वेताम्बर परम्परा के आगमों पर लिखे गये नियुक्ति, चूर्णी, वृत्ति एवं भाष्य तथा दिगम्बर

परम्परा के अन्तर्गत तिलोपपण्णत्ति तथा पुराणों एवं कथा साहित्य में ऐसे तीर्थों के सम्बन्ध में छिट-फुट सामग्री प्राप्त होती है। जहाँ तक तीर्थों के सम्बन्ध में स्वतन्त्र रचनाओं का प्रश्न है, इनका प्रारम्भ ११वीं शती से पूर्व नहीं माना जाता। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम कृति, जिसमें कुछ जैन तीर्थों का उल्लेख है, वह है महाकवि धनपाल (११ वीं शती) द्वारा रचित 'सत्यपुर महावीर जिनोत्साह'।^१ इसी प्रकार वि० सं० ११२३/ई० सन् १०६७ में सिद्धसेनसूरि द्वारा रचित सकल-तीर्थस्तोत्र^२ में अनेक तीर्थों का नामोल्लेख है। वि० सं० १२४१/ई० सन् ११८४ में अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरि द्वारा रचित अष्टोत्तरी तीर्थ-माला^३ भी तीर्थों के सम्बन्ध में हमें महत्वपूर्ण जानकारी प्रदान करती है। ई० सन् के तेरहवीं-चौदहवीं शती में लिखे गये प्रबन्ध ग्रन्थ^४ भी तीर्थों के सम्बन्ध में आधारभूत सामग्री प्रदान करते हैं। महामात्य वस्तुपाल एवं तेजपाल के समय लिखे गये ग्रन्थों में उनके द्वारा तीर्थों पर सम्पन्न कराये गये निर्माण एवं पुनर्निर्माण, दानादि का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया जा सकता है, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

ग्रन्थ	ग्रन्थकार	रचनाकाल
१-कीर्तिकौमुदी	महाकवि सोमेश्वर	वि० सं० १२७८
२-सुकृतसंकीर्तन	अरिसिंह	वि० सं० १२८८

१. जैन साहित्य संशोधक वर्ष ३, अंक ३, पृष्ठ २४१-२४३
२. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द जैन भण्डार्स ऐट पाटन [बडोदरा, सन् १९३७ ई०] पृ० १५५-१५६
३. विधिपक्षीयपंचप्रतिक्रमणसूत्राणि में प्रकाशित
४. द्रष्टव्य—
प्रभावकचरित [प्रभाचन्द्राचार्य-रचनाकाल वि० सं० १३३५]
प्रबन्धचिन्तामणी (नागेन्द्रगच्छीय मेरुत्तुंग-रचनाकाल-वि० सं० १३६२)
पुरातनप्रबन्धसंग्रह (रचनाकाल-वि० सं० की १४वीं-१५वीं शती)
प्रबन्धकोश (मलधारगच्छीय राजशेखरसूरि, रचनाकाल वि० सं० १४०५)
उक्त चारों ग्रन्थ मुनि जिनविजय द्वारा संपादित एवं सिधी जैन ग्रन्थ-माला के अन्तर्गत प्रकाशित हैं।

३-धर्माभ्युदयमहाकाव्य	उदयप्रभसूरि	वि० सं० १२८७ के पूर्व
४-सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी	उदयप्रभसूरि	वि० सं० १२८९
५-रेवन्तगिरिरासु	विजयसेनसूरि	वि० सं० १२८९

कीर्तिकौमुदी और सुकृतसंकीर्तन मुनि पुण्यविजय द्वारा संपादित एवं सिंधी जैन ग्रन्थमाला-ग्रन्थाङ्क ३२ में प्रकाशित है।

धर्माभ्युदयमहाकाव्य मुनि चतुरविजय एवं मुनि पुण्यविजय द्वारा संपादित तथा सिंधी जैन ग्रन्थमाला-ग्रन्थाङ्क ४ में प्रकाशित है।

सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी और रेवन्तगिरिरासु भी मुनि पुण्यविजय द्वारा संपादित एवं सिंधी जैन ग्रन्थमाला-ग्रन्थाङ्क ५ में प्रकाशित है।

उक्त ग्रन्थों से भी तीर्थों के सम्बन्ध में महत्वपूर्ण विवरण प्राप्त होते हैं। वि० सं० १३८९ में आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प नामक ग्रन्थ को पूर्ण किया। इसमें प्राचीन एवं मध्ययुगीन जैन तीर्थों का विवरण है। १४वीं शती से १९वीं शती तक छोटी-बड़ी अनेक तीर्थमालायें, संघवर्णन, चैत्य-परिपाटियां आदि लिखी गयीं^१। इनसे भी तीर्थों के सम्बन्ध में उपयोगी सूचनायें प्राप्त होती हैं।

दिगम्बर परम्परा में भी तीर्थों के सम्बन्ध में रची गयी छोटी-बड़ी अनेक रचनायें ज्ञात हैं। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम जिस स्वतंत्र रचना का उल्लेख किया जा सकता है वह है मदनकीर्ति (ई० सन् १२ वीं शती) द्वारा रचित शासनचतुस्त्रिशिका^२ लगभग इसी समय रचे गये निर्वाणकाण्ड^३ में भी कई जैन तीर्थों का उल्लेख है। श्वेताम्बर परम्परा की भांति दिगम्बर परम्परा में भी चैत्यवन्दन, तीर्थवन्दन, तीर्थजयमाला आदि की रचना हुई^४ और आज भी यह क्रम जारी है।

१. विजयधर्मसूरि द्वारा संपादित प्राचीनतीर्थमालासंग्रह में ऐसी २५ तीर्थमालायें प्रकाशित हैं।

२. जोहरापुरकर, विद्याधर—संपा० तीर्थवन्दनसंग्रह पृ० २८-३३।

३. वही, पृ० ३४-३८।

४. वही, पृ० ४०-११०।

२—पुरातात्त्विक साक्ष्य

तीर्थों के इतिहास के स्रोत के रूप में जिन पुरातात्त्विक साक्ष्यों का उल्लेख किया जा सकता है, उन्हें दो श्रेणियों में बांटा गया है—

- (१) आभिलेखिक साक्ष्य
- (२) जैन पुरावशेष

(१) आभिलेखिक साक्ष्य

इतिहास के निर्माण में अभिलेखों का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। तीर्थों के इतिहास के सम्बन्ध में भी यही बात कही जा सकती है। जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों से सम्बन्धित अबतक अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं और उनमें से अधिकांश प्रकाशित भी हो चुके हैं। इन सम्प्रदायों से सम्बन्धित अभिलेख प्रायः अलग-अलग संकलनों में प्रकाशित हैं, इनका विवरण इस प्रकार है—

१—नाहर, पूरनचन्द—	जैनलेखसंग्रह ^१ भाग १-३
२—मुनिजिनविजय—	प्राचीनजैनलेखसंग्रह ^२ भाग १-२
३—जैन, छोटेलाल—	जैनप्रतिमायन्त्रलेखसंग्रह ^३
४—विजयधर्मसूरि—	प्राचीनलेखसंग्रह ^४ भाग १-२
५—जैन, हीरालाल तथा अन्य—	जैनशिलालेखसंग्रह ^५ भाग १-५।
६—मुनिकान्तिसागर—	जैनधातुप्रतिमालेख ^६
७—लोढा, दौलतसिंह—	श्री जैनप्रतिमालेखसंग्रह ^७
८—नाहटा, अगरचन्द— एवं भंवरलाल	बीकानेरजैनलेखसंग्रह ^८

१. कलकत्ता, ई० सन् १९१७-२९
२. श्री जैन आत्मानंद सभा, भावनगर ई० सन् १९२१
३. पुरातत्त्वान्वेषणी जैन परिषद, कलकत्ता, ई० सन् १९२३
४. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, भावनगर, ई० सन् १९२७
५. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला में प्रकाशित
६. श्री जिनदत्तसूरि ज्ञान भंडार, सूरत, ई० सन् १९५०
७. यतीन्द्र साहित्य सदन, घामणिया, मेवाड़, ई० सन् १९५५
८. नाहटा ब्रदर्स, कलकत्ता, ई० सन् १९५१

- ९—मुनि जयन्तविजय— अबु'दप्राचीनजैनलेखसंदोह^१
 ; — अबु'दाचलप्रदक्षिणा जैनलेखसंदोह^२
 १०—मुनि विशालविजय— राधनपुरजैनलेखसंदोह^३
 ११—मुनि बुद्धिसागर— जैनधातुप्रतिमालेखसंग्रह भाग१-२^४
 १२—महोपाध्याय विनयसागर—प्रतिष्ठा लेखसंग्रह^५

उक्त संकलन अत्यन्त उपयोगी हैं। इनसे जैन श्रावकों द्वारा तीर्थों पर सम्पन्न कराये गये निर्माण, पुनर्निर्माण एवं दानादि दिये जाने, समकालीन राजाओं आदि के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है।

(२) जैन पुरावशेष

प्राचीन जिनालयों एवं प्रतिमाओं के अवशेष भी तीर्थों के इतिहास के स्रोत के रूप में आधारभूत सामग्री प्रस्तुत करते हैं। प्राचीन, पूर्व-मध्ययुगीन एवं मध्ययुगीन अनेक जिनालय जो आज विद्यमान हैं उनसे उस तीर्थ की प्राचीन स्थिति यथा—निर्माण, मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा उसका भंग, श्रद्धालु श्रावकों द्वारा उसका पुनर्निर्माण आदि के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त होती है। किसी भी मंदिर के स्थापत्यकला को देखकर भिन्न-भिन्न कालों में उसकी स्थिति का आकलन किया जाता है। इसी प्रकार जिन (तीर्थङ्कर) प्रतिमाओं की निर्माण शैली के आधार पर उनकी प्राचीनता का आकलन होता है। उत्तर प्रदेश में मथुरा की जैन कलाकृतियाँ, श्रावस्ती का सोभनाथ मंदिर, बिहार में राजगिरि की पहाड़ियों पर स्थित जैन-मंदिर के पुरावशेष, राजस्थान एवं गुजरात के अनेक नगरों में स्थित प्राचीन एवं अर्वाचीन^६ जिनालय भी अपने आप में तीर्थों के इतिहास के एक प्रमुख स्रोत हैं।

१. विजयधर्मसूरि ग्रन्थमाला, उज्जैन, वि० सं० १९९४
२. यशोविजय जैनग्रन्थमाला, भावनगर, वि० सं० २००५
३. वही, वि० सं० २०१६
४. श्रीअध्यात्म ज्ञान प्रसारक मंडल, मुम्बई, वि० सं० १९७३
५. सुमति सदन, कोटा [राजस्थान] ई० सन् १९५३
६. घोष, अमलानन्द संपा० जैन कला और स्थापत्य खंड १-३ के विभिन्न अध्याय।

इनके अतिरिक्त प्राचीन नगरियों के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा लिखे गये शोध लेख एवं ग्रन्थ भी हमारे लिये अति उपयोगी सूचनार्थे प्रदान करते हैं। इस सम्बन्ध में ए० कनिंघम,^१ ए० एस० अल्तेकर,^२ नन्दोलाल डे,^३ बी. सी. लॉ,^४ केशवराम काशीराम शास्त्री,^५ डी. आर. पाटिल,^६ के. सी. जैन^७ आदि का उल्लेख किया जा सकता है।

इस प्रकार तीर्थों के इतिहास के स्रोत के रूप में साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्यों का विपुल भंडार उपलब्ध है।

जहाँ तक अध्ययन शैली का प्रश्न है, सर्वप्रथम कल्प में उल्लिखित बातों को सुनियोजित ढंग से प्रस्तुत किया गया है और ऐसा करने में उन तथ्यों पर विशेष ध्यान दिया गया है जो स्पष्टतः ऐतिहासिक महत्त्व के प्रतीत होते हैं, यथा जिनालयों के उल्लेख, उनसे सम्बन्धित विशेष व्यक्तियों और घटनाओं के उल्लेख आदि। प्रायः चमत्कारिक और सामान्य रूप से पौराणिक प्रतीत होने वाली कथाओं को विवेचन से बाहर रखा गया है अथवा उनका संकेत मात्र किया गया है। पुनः कल्पप्रदीप में प्राप्त इन सूचनाओं के मूल स्रोत को श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में ढूँढने की चेष्टा है और इस संदर्भ में आवश्यकतानुसार दिगम्बर ग्रन्थों का भी उपयोग किया गया है। पुरातात्विक अव-

१. कनिंघम, ए०—आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, जिल्द १-३०।
२. अल्तेकर, ए० एस०—‘ए हिस्ट्री ऑफ ऐन्शेंट सिटीज एण्ड टाउनस ऑफ गुजरात एण्ड काठियावाड़’ इण्डियन ऐन्टीक्वेरी, ई० सन् १९२४-२५।
३. डे, नन्दोलाल—ए ज्योग्राफिकल डिक्सनरी ऑफ ऐन्शेंट एण्ड मिडुवल इण्डिया।
४. लॉ, बी०सी०—हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ ऐन्शेंट इण्डिया।
५. केशवराम काशीराम शास्त्री—प्राचीन भौगोलिक उल्लेखो, (परीख और शास्त्री—संपा० गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास, भाग १, इतिहासनी पूर्वभूमिका, पृ० १५३-३३६।
६. पाटिल, डी० आर०—कल्चरल हेरिटेज ऑफ मध्यभारत।
७. जैन, कैलाशचन्द्र—ऐन्शेंट सिटीज एण्ड टाउनस ऑफ राजस्थान।

शेषों और समकालिक प्रमाणों का सदुपयोग कल्पप्रदीप के सूचनाओं की समीक्षा तथा विभिन्न तीर्थों की ऐतिहासिकता के विवेचन के संदर्भ में किया गया है, क्योंकि कल्पप्रदीप के अनेक तीर्थ सामान्यरूप से ब्राह्मणीय और बौद्ध परम्परा में भी तीर्थ रूप में प्रतिष्ठित थे, अतः तीर्थों के ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की चर्चा में प्रसंगानुसार जैनेतर मान्यताओं में भी उनकी स्थिति का संकेत किया गया है। जहाँतक चौरासीतीर्थनामसंग्रहकल्प में उल्लिखित तीर्थों का प्रश्न है, चूंकि उनके बारे में आचार्य जिनप्रभसूरि का विवरण अत्यन्त संक्षिप्त है, अतः उनके सम्बन्ध में प्राप्त अन्य स्रोतों के आधार पर ही उन तीर्थों का विवरण प्रस्तुत किया गया है।



ग्रन्थकार और ग्रन्थ का परिचय

कल्पप्रदीप के रचनाकार आचार्य जिनप्रभसूरि का संक्षिप्त जीवन परिचय

जिनप्रभसूरि १४ वीं शती के श्रेष्ठ विद्वान् और एक प्रभावशाली जैन आचार्य थे। इनके जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का जिन रचनाओं में उल्लेख मिलता है, वे इस प्रकार हैं :—

- १—कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प^१
- २—कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्पपरिशेष^२
- ३—जिनशासनप्रभावनायां श्रीजिनप्रभसूरिप्रबन्ध^३
- ४—जिनप्रभसूरिभिः पीरोजसुरत्राणः प्रतिबोधितसम्बन्धः^४
- ५—वृद्धाचार्यप्रबन्धावली^५

इनमें प्रथम दो रचनायें जिनप्रभसूरि के शिष्यों द्वारा लिखी गयी हैं। इनमें आचार्य का सुल्तान के सम्पर्क में आने और तत्पश्चात् उनके

१. विविधतीर्थकल्प पृ० ४५-४६
२. वही, पृ० ९५-९६
३. उपदेशसप्तति—रचनाकार, सोमधर्मगणि [रचनाकाल—वि० सं० १५३०] संपादक—मोहनलाल अमृतलाल संघवी (प्रकाशक—जैन सस्तुं साहित्य ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, वि० सं० १९९८) पृ० ४९-५१।
४. प्रबन्धपञ्चशती—रचनाकार—शुभशीलगणि (रचनाकाल वि० सं० की १५ वीं शती) संपादक—श्री मृगेन्द्र मुनि, (प्रकाशक—सुवासित सदन, सूरत, ई० सन् १९६८) पृ० १७५।
५. जिनविजयमुनि—संपा० खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली (सिधी जैन ग्रन्थ-माला-ग्रन्थाङ्क ४२, बम्बई १९५६ ई०) पृ० ९४-९६।

द्वारा किये गये तीर्थयात्रादि का विवरण प्राप्त होता है, परन्तु आचार्य के प्रारम्भिक जीवन आदि के बारे में इन रचनाओं से कोई जानकारी नहीं मिलती।

उपदेशसप्तशती में भी आचार्य के जीवन से सम्बन्धित कुछ घटनाओं की चर्चा है। प्रबन्धपञ्चशती में आचार्य द्वारा समय-समय पर प्रकट किये गये चमत्कारों का ही विवरण है। परन्तु **वृद्धाचार्य-प्रबन्धावली** में उनके प्रारम्भिक जीवन, दीक्षा, विद्याध्ययन, आचार्य-पद प्राप्ति एवं चमत्कारों का विस्तृत विवरण मिलता है।

वृद्धाचार्यप्रबन्धावली^१ के अनुसार आचार्य जिनप्रभ का बाल्यकाल का नाम सुभटपाल था। इनके पिता का नाम रत्नपाल और दादा का नाम महीधर था, जो मोहिलवाड़ी नगरी के निवासी, श्रीमालगोत्रीय और ताम्बवंशीय श्रावक थे। सुभटपाल अपने माता-पिता के सबसे छोटे सन्तान थे। वि. सं. १३२६ में खरतरगच्छ की लघुशाखा के प्रथम आचार्य जिनसिंहसूरि से इन्होंने दीक्षा ली, उस समय इनकी आयु मात्र ८ वर्ष की थी। इस आधार पर यह माना जा सकता है कि वि. सं. १३१८ के लगभग इनका जन्म हुआ था। दीक्षा प्राप्ति के उपरान्त इन्होंने जैन साहित्य, दर्शन, अलङ्कार, छन्द, व्याकरण, कोष आदि का अच्छा अध्ययन किया। इन्होंने अपने दीक्षागुरु जिनसिंहसूरि के पास ही उपरोक्त सभी विषयों का अध्ययन किया या भिन्न-भिन्न आचार्यों के पास, यह स्पष्ट नहीं होता। वि. सं. १३४१ में जिन-प्रभसूरि के नाम से ये अपने गुरु के पट्टधर हुए^२।

आचार्य जिनप्रभ विद्याप्रचार के बड़े प्रेमी थे। विद्यादान के सम्बन्ध में ये ऊंच-नीच, गच्छ-सम्प्रदाय, जैन-अजैन आदि का कोई भी भेद नहीं रखते थे बल्कि समभाव से सभी को विद्यादान देते थे।^३ स्वयं खरतरगच्छ के एक अग्रगण्य आचार्य होते हुये भी इन्होंने अन्य गच्छों

१. खरतरगच्छवृहद्गुर्वावली पृ० ९४-९५।

२. महोपाध्याय विनयसागर—शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और उनका साहित्य (जयपुर, १९७५ ई०), पृ० ३३।

३. वही, पृ० ३६-३९।

के कई मुनियों को विद्यादान दिया जिनमें हर्षपुरीयगच्छ के आचार्य श्रीतिलकसूरि के शिष्य राजशेखरसूरि, रुद्रपत्नीयगच्छ के आचार्य पद्मशेखर के शिष्य संघतिलकसूरि, नागेन्द्रगच्छीय मल्लिसेनसूरि आदि प्रमुख थे^१ ।

एक बार आचार्य जिनप्रभसूरि विहार करते हुये दिल्ली पहुँचे, वहाँ आप की ख्याति सुनकर सुल्तान मुहम्मद तुगलक ने अपने दरबार में आपको निमंत्रित किया। इनका वि०सं० १३८५ पौष शुक्ल द्वितीया आचार्यश्री को सुल्तान से मिले।^२ उसने इनका बड़ा सत्कार किया और उपहार आदि भेंट किया। अवसर देखकर सूरिजी ने सुल्तान से तीर्थ रक्षा का फरमान मांगा, जो सहज ही प्राप्त हो गया।^३ इस प्रकार इन्होंने सुल्तान पर अपना प्रभाव स्थापित कर समस्त जैन तीर्थों और जैन संघों को मुस्लिम अत्याचारों से मुक्त कराया।^४ सुल्तान ने इन्हें अपने महल के पास ही उपाश्रय भी प्रदान किया। आचार्यश्री प्रायः सुल्तान दरबार में पधारते, वहाँ इनके द्वारा विभिन्न अवसरों पर अनेक चमत्कारों के प्रदर्शन का भी उल्लेख मिलता है।^५

आपने दक्षिण भारत (महाराष्ट्र प्रान्त) की यात्रा हेतु जिनदेवसूरि को १४ अन्य शिष्यों के साथ दिल्ली में ही रहने का आदेश दिया और स्वयं संघ के साथ महाराष्ट्रमंडल के लिये प्रस्थान किया।^६ स्थान-स्थान पर श्रावकों द्वारा प्रवेश महोत्सव का आयोजन कराया गया। मार्ग में स्थित तीर्थों की यात्रा करते हुये आप महाराष्ट्रमंडल पहुँचे जहाँ संघपति जगसिंह, साहण, मल्लदेव आदि ने आपका स्वागत किया। इसके बाद ये लोग प्रतिष्ठानपुर की यात्रा पर गये^७ और वहाँ से दौलताबाद पहुँचे जहाँ इन्होंने (सूरि ने) साहु पेथड़, साहु सहजा

१. विनयसागर, पूर्वोक्त पृ० ३७।

२. विविधतीर्थकल्प पृ० ४५-४६।

३. वही, पृ० ४५-४६।

४. वही, पृ० ४५-४६।

५. प्रबन्धपञ्चशती पृ० २-३, खरतरगच्छबृहद्गुर्वाविली पृ० १४-१६।

६. विविधतीर्थकल्प पृ० १६-१७।

७. वही, पृ० १५-१६।

और ठक्कुर अचल आदि द्वारा निर्मित चैत्यों को शाही फरमान दिखाकर नष्ट होने से बचाया। अध्ययन-अध्यापन और साहित्यसर्जन करते हुये आप ३ वर्ष दक्षिण में ही रहे, फिर सुल्तान के आग्रह पर ज्येष्ठ शुक्ल १२ को वहां से प्रस्थान किया और भाद्रपद शुक्ल द्वितीया को सुल्तान के पास योगिनपुर (दिल्ली) पहुंच गये; जहां इनका बड़ा आदर-सत्कार हुआ और अनेक उपहार भेंट किये गये। सुल्तान ने इन्हें एक नई वसति भी प्रदान की जिसमें इन्होंने सुल्तान से ही प्राप्त भगवान् महावीर की प्रतिमा भी स्थापित की।^१

सुल्तान जब पूर्व देशों की विजय यात्रा पर गया तो आचार्य जिनप्रभ भी साथ-साथ थे, मार्ग में इन्होंने मथुरा तीर्थ की यात्रा की।^२ आगरा तक आते-आते वृद्धावस्था के कारण आचार्यश्री को कष्ट होने लगा, अतः हस्तिनापुरतीर्थ की यात्रा का फरमान लेकर आप दिल्ली लौट आये और वहां से शाह चाहड़ के पुत्र शाह बोहित्य को संघपति बनाकर हस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा की, वहां नवीन चैत्यों का निर्माण कराया और जिन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा की।^३ इस प्रकार विभिन्न अवसरों पर आचार्यश्री द्वारा शासन प्रभावना की गयी। जिनप्रभसूरि के मृत्यु का समय भी हमें ज्ञात नहीं होता। इनकी अंतिम ज्ञात रचना महावीरगणधरकल्प वि० सं० १३८९ की है, अतः अनुमान किया जाता है कि वि० सं० १३९० के आसपास लगभग ७२ वर्ष की आयु में इनकी मृत्यु हुई होगी।^४

जिनप्रभसूरि न केवल सुल्तान प्रतिबोधक, तीर्थरक्षक और शासन-प्रभावक आचार्य थे अपितु उच्चकोटि के विद्वान् भी थे। वे न केवल जैन आगमों के बल्कि न्याय, दर्शन, व्याकरण, काव्य, अलंकार, छंद, तीर्थसाहित्य आदि के भी उच्चकोटि के विद्वान् थे, यह बात उक्त विषयों पर लिखी गयी उनकी रचनाओं से स्पष्ट होती है।^५ तीर्थों

१. विविधतीर्थकल्प पृ० ९६।

२. वही, पृ० ९७।

३. वही

४. महोपाध्याय विनयसागर—पूर्वोक्त पृ० ६०-६१।

५. वही, पृ० ९०-११०।

के सम्बन्ध में इनके द्वारा रचित कल्पप्रदीप जैन साहित्य का एक अद्वितीय ग्रन्थ है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनप्रभसूरि अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् और शासनप्रभावक तथा मुस्लिम सुल्तानों पर अपना व्यापक प्रभाव डालने वाले प्रथम आचार्य थे।

विविधतीर्थकल्प का परिचय

आचार्य जिनप्रभसूरि द्वारा रचित इस ग्रन्थ का वास्तविक नाम कल्पप्रदीप है, क्योंकि ग्रन्थ की प्रशस्ति में यही नाम मिलता है। इस ग्रन्थ के सम्पादक मुनिश्री जिनविजय जी ने इसे विविधतीर्थकल्प नाम दिया, जिससे यह ग्रन्थ इसी नाम से प्रसिद्ध हुआ।

कल्पप्रदीप जिनप्रभसूरि की छोटी-बड़ी अनेक रचनाओं में सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। लोक में उनकी प्रसिद्धि इसी ग्रन्थ के कर्ता के रूप में है। जैन विद्वानों के अलावा अनेक जैनेतर प्राच्यविद् एवं इतिहासकारों ने इसमें वर्णित तीर्थों के विवेचन तथा उसमें उल्लिखित कतिपय अनुश्रुतियों की ऐतिहासिकता पर विचार किया है। इनमें एस० पी० पंडित, जार्ज बुहलर आदि का विशेष उल्लेख किया जा सकता है। ई० सन् १९३४ में मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित और सिंधी जैन-ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित हो जाने पर यह ग्रन्थ सामान्य रूप से सुलभ हो सका; तभी से विद्वानों ने इस ग्रन्थ का समुचित उपयोग करना आरम्भ किया और आज भी वह क्रम जारी है।

ग्रन्थ की प्रशस्ति के अनुसार यह ग्रन्थ श्रीहम्मीर मुहम्मद (सुल्तान मुहम्मद तुगलक) के राज्य में योगिनीपत्तन (दिल्ली) में भाद्रपद कृष्ण दसमी बुधवार वि० सं० १३८९ को पूर्ण हुआ। ग्रन्थ समाप्ति की प्रशस्ति को छोड़कर कुल ६२ कल्प हैं जिनमें से ६ कल्पों के अन्त में उनकी रचना का समय भी दिया गया है। ये कल्प हैं—

वैभारगिरिकल्प—वि० सं० १३६४, शत्रुञ्जयकल्प—वि० सं० १३८५; ढींपुरीस्तव-वि० सं० १३८६; अपापाबृहत्कल्प—वि० सं० १३८७, हस्तिनापुरस्तव—वि० सं० १३८८; महावीरगणधरकल्प—वि० सं० १३८९; शेष कल्पों में उनकी रचना-तिथि का उल्लेख नहीं। फिर भी कुछ कल्पों की रचना का समय उनमें वर्णित सन्दर्भों के आधार

पर अनुमानित किया जा सकता है। जैसे सत्यपुरतीर्थकल्प वि० सं० १३६७ के बाद कभी लिखा गया। अबुर्दागिरिकल्प वि० सं० १३७८ के उपरान्त रचा गया और कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प वि० सं० १३८५ के उपरान्त संभवतः वि० सं० १३८८-८९ में लिखा गया। इस कल्प का पूरक कन्यानयमहावीरकल्पपरिशेष तो उनके देहान्त के पर्याप्त समय बाद लिखा गया प्रतीत होता है। इसे उनके विद्याशिष्य संघतिलकसूरि के पट्टधर विद्यातिलक अपरनाम सोमतिलक ने रचा जिनके कुमारपालप्रबन्ध का रचना काल वि० सं० १४२४ई० सन् १३६७ है। इस प्रकार स्पष्ट है कि कल्पप्रदीप के विभिन्न कल्पों की रचना वि० सं० १३६४ से वि० सं० १३८९ तक लगभग २५ वर्षों के बीच की गयी। दो-चार कल्प वि० सं० १३६४ के पूर्व भी रचित हो सकते हैं। रचना स्थलों में शत्रुञ्जय-कल्प और कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प दिल्ली में रचे गये प्रतीत होते हैं। अपापाबृहत्कल्प देवगिरि में रचा गया और 'हस्तिनापुर-स्तव' हस्तिनापुर में। शेष कल्पों के रचनास्थान के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं मिलती।

जैसा कि पहले ही कहा गया है इस ग्रन्थ में प्रशस्ति को छोड़कर कुल ६२ कल्प हैं, जिनमें से तीर्थविषयक कल्प इस प्रकार हैं—

- १—अणहिलपुरस्थितअरिष्टनेमिकल्प
- २—अपापापुरीकल्प
- ३—अयोध्यापुरीकल्प
- ४—अबुर्दागिरिकल्प
- ५—अवन्तिदेशस्थअभिनन्दनदेवकल्प
- ६—अश्वावबोधकल्प
- ७—अष्टापदगिरिकल्प
- ८—अहिच्छत्रानगरीकल्प
- ९—आमरकुण्डपद्मावतीदेवीकल्प
- १०—उज्जयन्त (रैवतक) कल्प
- ११—कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प
- १२—कलिकुण्डकुबकुटेश्वरकल्प
- १३—काम्पिल्यपुरकल्प

- १४—कपर्दियक्षकल्प
 १५—कुंडुगेश्वरनाभेयदेवकल्प
 १६—कोल्लपाकमाणिक्यदेवकल्प
 १७—कोकावसतिपार्श्वनाथकल्प
 १८—कौशाम्बीनगरीकल्प
 १९—चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प
 २०—चम्पापुरीकल्प
 २१—ढींपुरीकल्प
 २२—नन्दीश्वरद्वीपकल्प
 २३—नासिक्यपुरकल्प
 २४—पाटलिपुत्रनगरकल्प
 २५—स्तम्भनकपार्श्वनाथकल्प
 २६—प्रतिष्ठानपुरकल्प
 २७—फलवर्द्धिपार्श्वनाथकल्प
 २८—मिथिलापुरीकल्प
 २९—मथुरापुरीकल्प
 ३०—रत्नवाहपुरकल्प
 ३१—वैभारगिरिकल्प
 ३२—शंखेश्वरपार्श्वनाथकल्प
 ३३—वाराणसीनगरीकल्प
 ३४—शत्रुञ्जयकल्प
 ३५—शुद्धदन्तीस्थितपार्श्वनाथकल्प
 ३६—श्रावस्तीनगरीकल्प
 ३७—श्रीपुरअन्तरिक्षपार्श्वनाथकल्प
 ३८—सत्यपुरतीर्थकल्प
 ३९—हरिकंखीनगरस्थितपार्श्वनाथकल्प
 ४०—हस्तिनापुरकल्प ।

इनमें से पावापुरी, अष्टापद, कन्यानयनीय, ढींपुरी और हरितना-पुर के दो-दो कल्प हैं। प्रतिष्ठानपुर के तीन कल्प हैं तथा गिरनार पर चार कल्प हैं, अतः ६२ में से १२ निकल जाने पर ५० तीर्थ बचे और उनमें भी तीर्थकरअतिशयविचार, पंचकल्याणकस्तव, पंचपरमेष्ठीकल्प,

महावीरगणधरकल्प, समवशरण कल्प, वस्तुपालतेजपालकल्प, अम्बिका-देवीकल्प और व्याघ्रीकल्प निकाल देने पर कुल ४०-४१ तीर्थ ही बचते हैं। उनमें से भी अष्टापदतीर्थ धर्मघोषसूरि द्वारा और कन्या-नयनमहावीरकल्पपरिशेष विद्यातिलकसूरि द्वारा रचित हैं। इसी प्रकार कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प मुनीश्वरसूरि ने लिखा है।

उपरोक्त कल्पों में चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इसमें २४ तीर्थङ्करों से सम्बन्धित स्थानों का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार हैं—

- | | |
|----------------|---|
| १—आदिनाथ | काशहृद, पारस्कर, अयोध्या, कोल्हापुर, सूर्पारक, नगरमहास्थान, दक्षिणापथगोम्मटेश्वरबाहुबलि, उत्तरापथ का कर्लिगदेश, खङ्गारगढ़, महानगरी, पुरिमताल, तक्षशिला, मोक्षतीर्थ, कोल्लपाकपत्तन, गङ्गा-यमुनासंगम। |
| २—अजितनाथ | अयोध्या, चन्देरी, तारण (तारंगा), अंगदिका। |
| ३—सम्भवनाथ | श्रावस्ती। |
| ४—अभिनन्दनदेव | सेगमतीग्राम। |
| ५—सुमतिनाथ | क्रौंचद्वीप, सिंहलद्वीप, हंसद्वीप, अम्बुरिणीग्राम। |
| ६—पद्मप्रभ | माहेन्द्रपर्वत और कौशाम्बी। |
| ७—सुपाश्वनाथ | दशपुर और मथुरा। |
| ८—चन्द्रप्रभ | प्रभास, वलभी, नासिक्य, चन्द्रावती और वाराणसी। |
| ९—सुविघनाथ | कायाद्वार। |
| १०—शीतलनाथ | प्रयाग। |
| ११—श्रेयांसनाथ | विन्ध्याचल, मलयगिरि। |

१२-वासुपूज्य	चम्पापुरी ।
१३-विमलनाथ	काम्पिल्य, सिंहपुर ।
१४-अनन्तनाथ	मथुरा, द्वारिका, शाकपाणि ।
१५-धर्मनाथ	रत्नवाहपुर ।
१६-शान्तिनाथ	किष्किन्धा, लंका, पाताललंका और त्रिकूटगिरि

१७-१८-कुन्थुनाथ और अरनाथ गङ्गा-यमुना का संगम (त्रयाग) ।

१९-मल्लिनाथ	श्रीपर्वत ।
२०-सुव्रतनाथ	भृगुपत्तन, प्रतिष्ठान, अयोध्या, विन्ध्याचल और माणिक्यदण्डक ।
२१-नमिनाथ	अयोध्या ।
२२-नेमिनाथ	शौरीपुर, पाटलानगर, मथुरा, द्वारका, सिंहपुर, स्तम्भतीर्थ और शंखजिनालय ।
२३-पाशर्वनाथ	अजाहरा, स्तम्भनक, फलोधी, करहेटक, अहिच्छत्रा, कलिकुंड-नाग- हृद, कुक्कुटेश्वर, माहेन्द्रपर्वत, ओंकारपर्वत, वाराणसी, महाकाल, मथुरा, चम्पा, मलयगिरि, विन्ध्या- चल, हिमाचल, श्रीपुर, डाकुली- भीमशङ्कर ।
२४-महावीर	रामसैन, श्रीपर्वत, मोढ़ेर, वायड़, खेड़, पाली, भातुण्टक, मुण्डस्थल, श्रीमाल पत्तन, उपकेशपुर, कुण्डग्राम, सत्यपुर, टंका, गङ्गाहृद, सरस्थान, वीतभय, चम्पा, पावा, पुण्ड्रपर्वत, नन्दिवर्धन, कोटिभूमि, राजगृह, कंलाश और रोहणाचल ॥

उपरोक्त सूची से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने चतुरशीतिमहातीर्थनाम संग्रहकल्प के अन्तर्गत प्रत्येक तीर्थङ्कर से सम्बन्धित स्थानों का अलग-अलग उल्लेख किया है। इस सूची में उल्लिखित कुछ तीर्थ ऐसे हैं जिनकी एक से अधिक बार चर्चा है, इससे यही समझना चाहिए कि एक ही स्थान पर एक से ज्यादा तीर्थङ्करों के जिनालय विद्यमान रहे और यह बात अस्वाभाविक नहीं लगती। उक्त सूची में राजस्थान और गुजरात के तीर्थों की संख्या सर्वाधिक है, इसका कारण यही है कि वे इस क्षेत्र के निवासी थे अतः इन क्षेत्रों से उनका अच्छा परिचय था। दूसरे मध्ययुग में ये प्रान्त श्वेताम्बर जैन धर्म के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहे। उपरोक्त सूची में आये हुए वे तीर्थ जो देश के अन्य भागों में स्थित हैं, उनमें से अधिकांश तीर्थों का ग्रन्थकार ने अपने पूर्वाचार्यों से प्राप्त सूचनाओं और अपनी कल्पना के आधार पर उल्लिखित किया है। अपने धार्मिक उत्साह और वृद्ध-परम्परा में अत्यधिक श्रद्धा के कारण विश्व के सम्बन्ध में प्रचलित जैन खगोल-शास्त्रीय मान्यताओं पर आधारित कुछ भौगोलिक नामों का भी उन्होंने उल्लेख किया है जो पूर्णतया काल्पनिक हैं। तथापि उनकी सूची में उल्लिखित अनेक तीर्थ आज भी जैन केन्द्र के रूप में विद्यमान हैं। इसमें कुछ ऐसे भी तीर्थों का उल्लेख आया है जहाँ प्राचीन काल में जैन केन्द्र होना निर्विवाद है, क्योंकि जैन साहित्यिक प्रमाणों से उनकी सूचना मिलती है, परन्तु आज वहाँ कोई भी जैन पुरावशेष प्राप्त नहीं होता अपितु वहाँ स्थित जिनालय एवं जिन प्रतिमायें भी वर्तमान युग की हैं। इसी प्रकार इस सूची में कुछ ऐसे भी तीर्थों की चर्चा आयी है जो जैन धर्म के नहीं अपितु अन्य धर्मों के तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हैं, साथ ही साथ जैन साहित्य में अन्यत्र उनकी चर्चा भी नहीं मिलती, ऐसी स्थिति में वहाँ किसी जिनालय का होना असंभव तो नहीं परन्तु संदिग्ध अवश्य लगता है। इस सूची में ऐसे भी तीर्थों का नामोल्लेख है जिनकी भौगोलिक स्थिति भी अज्ञात है। इसी प्रकार इस सूची में देश के बाहर स्थित कुछ तीर्थों की भी चर्चा आयी है। चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत प्रायः उन सभी तीर्थों का नामोल्लेख हुआ है, जिन पर कल्परूप में विवरण प्राप्त होता है। परन्तु कल्प के रूप में ही वर्णित कुछ ऐसे भी तीर्थ हैं, जिनका इस

सूची में उल्लेख नहीं मिलता, यह अपने आप में रोचक है। ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित चौरासी संख्या भी एक पवित्र संख्या है, वस्तुतः इस सूची में चौरासी से अधिक तीर्थों का उल्लेख है।

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत वास्तविक तीर्थों के साथ-साथ पौराणिक, परम्परागत एवं अज्ञात स्थिति वाले तीर्थों का भी उल्लेख किया है, परन्तु उनकी संख्या न्यून ही है। इस सन्दर्भ में एक रोचक तथ्य यह है कि जहाँ एक ओर कल्पप्रदीप में ग्रन्थकार के समय के और विशेषकर गुजरात-राजस्थान और समीपवर्ती क्षेत्रों के कम या अधिक महत्व वाले प्रायः सभी तीर्थों का समावेश लगता है, वहीं दूसरी ओर अन्य प्रमाणों, विशेषकर पुरातात्विक प्रमाणों से सिद्ध कुछ प्रतिष्ठित जैन तीर्थों का उल्लेख नहीं। उदाहरण के रूप में यहाँ दो का उल्लेख किया जा सकता है; पहला उत्तरप्रदेश के झांसी जिले का देवगढ़ और दूसरा मध्यप्रदेश के छतरपुर जिले का खजुराहो। पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर जैन केन्द्र के रूप में देवगढ़ का इतिहास ई० सन् ७ वीं शती से लेकर ई० सन् १५ वीं शती तक है, इसी प्रकार खजुराहो भी ई० सन् १० वीं शती से लेकर ई० सन् १३ वीं शती तक जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र रहा, फिर भी कल्पप्रदीप में इनका उल्लेख क्यों नहीं है? यह एक अत्यन्त रोचक प्रश्न है। स्पष्ट ही यह उत्तर तो सन्तोष-जनक नहीं होगा कि जिनप्रभसूरि के समय ये केन्द्र ह्रास पर थे या समाप्तप्राय थे क्योंकि दोनों ही स्थितियों में ग्रन्थकार से इन स्थानों के इतिहास की दूरी नहीं के बराबर है, फिर यह भी ध्यान देने की बात है कि कल्पप्रदीप में ऐसे अनेक तीर्थों का उल्लेख है जो उनके समय में (१४ वीं शती में) समाप्तप्राय थे अथवा जिनकी कल्प-प्रदीप के अतिरिक्त अन्य किसी साक्ष्य के आधार पर विद्यमान होना सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार इस युक्ति का भी उपयोग करना संभव नहीं प्रतीत होता कि उपर्युक्त तीर्थों के दिगम्बर आम्नाय से सम्बन्धित होने के कारण कल्पप्रदीप में उनका उल्लेख नहीं, क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा के होते हुए भी ग्रन्थकार ने दिगम्बर तीर्थों का भी सम्मान उल्लेख किया है। यह सम्भावना अवश्य व्यक्त की जा सकती है कि देवगढ़ और खजुराहो का समीकरण कल्पप्रदीप में

उल्लिखित कुछ ऐसे तीर्थों से की जा सके, जिनका अभी तक कोई समुचित पहचान नहीं है, यद्यपि यह सम्भावना भी बहुत बलवती नहीं, क्योंकि सामान्यरूप से देवगढ़ और खजुराहो जैसे केन्द्रों, जिनके सम्बन्ध में पुरातात्विक और आभिलेखिक दोनों प्रकार के प्रचुर साक्ष्य हैं, उनके पहचान में इतनी कठिनाई हो। इस प्रकार यह रोचक प्रश्न सम्प्रति विवादग्रस्त ही है और इसका सन्तोषजनक उत्तर देना सम्भव नहीं है।



जैनधर्म का प्रसार : ऐतिहासिक सर्वेक्षण

(कल्पप्रदीप) विविधतीर्थकल्प की तीर्थविषयक सामग्री के समुचित मूल्यांकन के लिये इस ग्रन्थ की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और जैन धर्म के प्रसार का अध्ययन आवश्यक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है जिनप्रभसूरि चौदहवीं शताब्दी के एक जैनाचार्य थे और संभवतः मरुदेश (राजस्थान) के निवासी थे। इनके ग्रन्थ की तत्कालिक और वास्तविक पृष्ठभूमि तो इस क्षेत्र में प्रायः चौलुक्य और चाहमान राजाओं के शासन काल में भलीभांति प्रतिष्ठित जैन धर्म का इतिहास है, जो बाद की शताब्दियों में भी विकासोन्मुख रहा। परन्तु ग्रन्थकार ने ऐसे अनेक तीर्थों का विवेचन किया है, जो न केवल देश के अन्य क्षेत्रों से सम्बन्धित हैं बल्कि जिनमें अनेक की स्थापना जैन धर्म के प्राचीनतम इतिहास के युग की है और स्वयं जिनप्रभसूरि उस इतिहास का स्मरण करते हैं, अतः ग्रन्थ के पृष्ठभूमि के सम्यक् अध्ययन के लिये जैन धर्म के प्रसार का एक ऐतिहासिक सर्वेक्षण आवश्यक है।

प्रस्तुत सर्वेक्षण चार प्रमुख भागों में विभाजित है। प्रारम्भ में जैन धर्म के प्रारम्भिक प्रसार का विवेचन है जो प्रायः ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक आता है और इस युग में जैन धर्म की भारत के विभिन्न भागों में स्थापना की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है। जैन धर्म का श्वेताम्बर और दिगम्बर आम्नाय में विभाजन इसी युग से सम्बन्धित है। द्वितीय भाग में उत्तर भारत में जैन धर्म के प्रसार का सर्वेक्षण है जिसमें प्रायः वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश और राजस्थान के क्षेत्र सम्मिलित हैं। इसके पश्चात् दक्षिण भारत और अन्त में गुजरात-काठियावाड़ में जैन धर्म के इतिहास की चर्चा है। स्वाभाविक रूप से यह अन्तिम चर्चा अपेक्षाकृत अधिक

विस्तृत है। यह उल्लेखनीय है कि जिनप्रभसूरि के युग में जैनधर्म मुख्य रूप से प्रायः इसी क्षेत्र में केन्द्रित था।

जैन धर्म का प्रारम्भिक प्रसार

जैन धर्म भारतवर्ष के अति प्राचीन धर्मों में से एक है। जैन परम्परानुसार २४ तीर्थङ्कर हुए। अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर स्वामी ईसा पूर्व छठीं शती में हुए। आधुनिक विद्वानों ने २३ वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ और २४ वें तीर्थङ्कर महावीर को ऐतिहासिक व्यक्तियों के रूप में स्वीकार किया है।^१ शेष तीर्थङ्करों की ऐतिहासिकता संदिग्ध है।

पार्श्वनाथ और महावीर स्वामी के समय जैन धर्म किन-किन स्थानों पर फैला हुआ था, इस सम्बन्ध में हमें जैन आगमों से जानकारी प्राप्त होती है। ज्ञाताधर्मकथा के अनुसार पार्श्वनाथ ने अहिच्छत्र, कौशाम्बी, साकेत, काम्पिल्य, मथुरा और राजगृह में विहार किया था।^२ पार्श्वनाथ के पश्चात् उनके शिष्यों ने उनके धर्म का प्रचार किया। भगवतीसूत्र में तुंगिया नगरी के निवासियों का उल्लेख पार्श्वनाथ के अनुयायियों के रूप में हुआ है।^३ महावीर स्वामी के माता-पिता भी पार्श्वनाथ की परम्परा ही अनुयायी थे।^४ उत्पल, मुनिचन्द्र, पेढालपुत्र, केशीकुमार आदि भी पार्श्वनाथ की परम्परा के ही थे। ये महावीर के समकालीन थे। इनमें से गांगेय, पेढालपुत्र और केशीकुमार ने महावीर के पंचयाम वाले धर्म को स्वीकार

१. [i] जाकोबी, हर्मन—'जैन सूत्राज' [सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट] जिल्द XLV, (आक्सफोर्ड, ई०सन् १८९५) इन्ट्रोडक्शन, पृ०xxi

[ii] बुहलर, जाज—इन्डियन सैक्ट ऑफ द जैनाज

(iii) जैन, हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, (भोपाल, १९६२ ई०) पृ० २१

२. मेहता, मोहनलाल और चन्द्रा, के० आर०—प्राकृत प्रापर नेम्स, (अहमदाबाद, ई० सन् १९७०) भाग १ पृ० ४५३

३. वही, पृ० ३४३

४. जैन, हीरालाल—पूर्वोक्त, पृ० २२

कर लिया ।^१ पार्वनाथ की श्रमण परम्परा में स्त्रियां भी दीक्षित होती थीं । जैन आगमिक साहित्य में ऐसी अनेक स्त्रियों के नाम भी मिलते हैं ।^२ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि महावीर स्वामी के जन्म के समय तक निर्ग्रन्थ धर्म वर्तमान उत्तर प्रदेश और बिहार के कुछ भागों तक फैल चुका था ।^३

भगवान् महावीर को निर्ग्रन्थ धर्म का वास्तविक संस्थापक माना जा सकता है । उन्होंने ७२ वर्ष की उम्र पायी और अपने जीवन के प्रथम ३० वर्ष गृहस्थ रूप में व्यतीत किये तथा शेष ४२ वर्ष विरक्त के रूप में । घर छोड़ने के बाद १२ वर्षों तक उन्होंने वर्तमान उत्तर प्रदेश, बिहार और बंगाल के अनेक स्थानों की यात्रा की । १३ वें वर्ष वे जंभियग्राम पहुँचे जहाँ ऋजुवालिका नदीके तटपर उन्हें कैवल्य प्राप्त हुआ ।^४ तत्पश्चात् उन्होंने राजगृह और नालन्दा में १४, मिथिला में ६, वैशाली और वणिय ग्राम में ४, भद्रिया नगरी में २ और आलंभिया, पणियभूमि, श्रावस्ती और पावा में १-१ वर्षावास व्यतीत किया ।^५ पावा में ही उनका देहान्त हुआ ।^६ इस समय तक निर्ग्रन्थ धर्म बिहार और पूर्वी उत्तरप्रदेश में अपनी स्थिति दृढ़ कर चुका था ।^७

महावीर के समकालीन मगध नरेश बिम्बिसार और अजातशत्रु जैन धर्म से प्रभावित थे । अजातशत्रु का पुत्र उदायी भी एक श्रद्धालु जैनोपासक था ।^८ उदायी के पश्चात् मगध में नन्दों का शासन प्रारम्भ

१. जैन, जगदीशचन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ (वाराणसी ई० सन् १९५७) पृ० ६-७

२. वही, पृ० ७

३. वही

४. जंभिय बहिः उजुवालिय तीरवियावत्त सामसालअहे ।
छट्ठेणुककुडुयस्स उ उप्पन्नं केवलनाणं ।

आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा ५२५

५. जैन, जगदीशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० ८-१३

६. पावाए णयरीए एक्को वीरेसरो सिद्धो ॥

तिलोयपण्णत्ती, अधि० ४, गाथा १२०८ ।

७. जैन, जगदीशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० १३

८. देव, एस० बी० हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाकिज्म, पृ० ८४-८५

हुआ। उनके व्यक्तिगत धर्म के बारे में हमारे पास कोई सूचना प्राप्त नहीं होती। खारवेल के हाथीगुम्फा अभिलेख से उनके व्यक्तिगत धर्म के बारे में कुछ आभास मिलता है। इस लेख के अनुसार नन्दों ने कलिंग पर आक्रमण कर वहां से जिन (तीर्थङ्कर) प्रतिमा का अपहरण कर उसे अपने यहां स्थापित किया। इस उल्लेख से यह अनुमान होता है कि नन्द वंश के राजा भी जैन धर्मानुरागी ही थे।^१

नन्दों को अपदस्थ कर मौर्यों ने मगध की राजसत्ता हस्तगत कर ली। इस वंश का सर्वप्रथम शासक चन्द्रगुप्त मौर्य (ई० पूर्व ३२४-३००) था। दिगम्बर जैन परम्परानुसार इसके शासन काल में मगध में १२ वर्षों का भीषण अकाल पड़ा, उस समय आचार्य भद्रबाहु ने अपने शिष्यों के साथ दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया, उनमें चन्द्रगुप्त मौर्य भी थे।^२ श्वेताम्बर परम्परा में भी मगध में पड़े १२ वर्षीय दुष्काल और भद्रबाहु के वहां से बाहर जाने का उल्लेख है, परन्तु यह परम्परा उनके नेपाल जाने की चर्चा करती है तथा चन्द्रगुप्त मौर्य का उनसे कोई सम्बन्ध नहीं बतलाती।^३ दिगम्बर परम्परा का समर्थन मैसूर प्रान्त के श्रवणबेलगोला

१. देव, एस० बी०—पूर्वोक्त पृ० ८६-८७

२. (i) मउडधरेसुं चरिमो जिणदिवखं धरदि चंदगुप्तो य ।

तत्तो मउडधरा दु प्पव्वज्जं णेव गेण्हंति ॥१४८१॥

तिलोयपणत्ती—यतिवृषभाचार्य, रचनाकाल, ई० सन् छठीं शताब्दी, संपादक—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये एवं हीरालाल जैन, (शोलापुर

वि० सं० २०००-२००७) भाग १, चतुर्थमहाधिकार, पृ० ३३८

(ii) भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेस्वरः ।

अस्यैव योगिनः पाश्वे दधौ जैनेश्वरं तपः ॥३८॥

चन्द्रगुप्तमुनिः शीघ्रं प्रथमो दशपूर्विणाम् ।

सर्वसंघाधिपो जातो विसषाचार्यसंज्ञकः ॥३९॥

‘भद्रबाहुकथानक’—बृहत्कथाकोश—हरिषेण, रचनाकाल, ई०सं० १३१,

संपादक—आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये (सिंधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क

१७, बम्बई, वि० सं० १९९९) पृ० ३१७-३१९

३. तंमि य काले बारस वरिसो दुक्कालो उवट्ठितो, संजता इतो इतो य समुद्दीरे अच्छित्ता पुणरवि पाडलिपुत्ते मिलित्ता; तेसि अण्णस्स

नामक स्थान से प्राप्त ई० सन् छठीं शती के अभिलेखों से भी होता है और इतिहासकारों ने इस आधार पर दिगम्बर परम्परा को प्रामाणिक मान लिया है। फिर भी इस सम्बन्ध में कुछ आपत्तियों को भी ध्यान में रखना आवश्यक है—

१—केवल दिगम्बर परम्परा में ही चन्द्रगुप्त मौर्य को जैन-मतावलम्बी बतलाया गया है। श्वेताम्बर परम्परा में भी यद्यपि इस राजा का उल्लेख है,^१ परन्तु उसे कहीं भी जैन धर्म से सम्बन्धित नहीं बतलाया गया है।

२—चन्द्रगुप्त मौर्य के समय तक निर्ग्रन्थ (जैन) संघ का श्वेताम्बर और दिगम्बर आम्नायों में विभाजन नहीं हुआ था।^२ यदि उक्त शासक ने निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार कर लिया होता तो दोनों परम्पराओं में उसका उल्लेख अवश्य होता।

३—चन्द्रगुप्त मौर्य के दरबार में रहने वाले विदेशी राजदूतों ने निर्ग्रन्थ श्रमणों का उल्लेख तो किया है,^३ परन्तु यह कहीं नहीं बतलाया है कि चन्द्रगुप्त मौर्य अपने जीवन के अन्तिम समय निर्ग्रन्थ श्रमण हो गया था। उपरोक्त आधारों पर चन्द्रगुप्त मौर्य के सम्बन्ध में प्रचलित दिगम्बर मान्यता की ऐतिहासिकता संदिग्ध लगती है।

उद्देशओ अण्णस्स खंडं, एवं संघाडित्तेहि एक्कारस अंगाणि संघातित्ताणि,
दिट्ठिवादो नत्थि, नेपालवत्तणीए य भद्दबाहुस्सामी अचछंति चोद्दस-
पुव्वी, वेसि संघेणं पत्थवितो संघाडओ दिट्ठिवादं वाएहित्ति, गतो,।
आवश्यकचूर्णी—भद्रबाहु (रतलाम ई० सन् १९२७-१९२९)
उत्तरभाग, पृ० १८७

१. आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ५६३-५६५;
दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ५१, ८१;
२. निर्ग्रन्थ श्रमणसंघ का दिगम्बर और श्वेताम्बर आम्नाय में विभाजन का काल वीर निर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् की प्रथम शताब्दी माना जाता है द्रष्टव्य—जैन, हीरालाल, पूर्वोक्त, पृ० ३१
३. मजुमदार, आर० सी०—क्लासिकल एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया, पृ० ४२५ और आगे।

चन्द्रगुप्त मौर्य का पुत्र और उत्तराधिकारी बिन्दुसार था। उसके समय में जैन धर्म की स्थिति के बारे में कोई विवरण नहीं मिलता। बिन्दुसार का उत्तराधिकारी अशोक यद्यपि बौद्ध धर्म का अनुयायी था, परन्तु अपनी धार्मिक उदारता के कारण उसने आजीविकों और निर्ग्रन्थों (जैनों) का भी सम्मान किया।^१

अशोक का उत्तराधिकारी उसका पौत्र सम्प्रति था। जैन कथानकों के अनुसार वह पूर्व जन्म से ही जैन धर्म से सम्बन्धित रहा। बृहत्कल्प-सूत्रभाष्य के अनुसार उसने आन्ध्र, द्रविण, महाराष्ट्र आदि प्रदेशों में जैन धर्म का प्रचार किया और उन्हें जैन श्रमणों के विहार के लिये सुरक्षित बना दिया। उसके भाई शालिशुक ने सौराष्ट्र में जैन धर्म का प्रचार किया।^२

प्रथम शती ईसा पूर्व में चेदिवंशीय कर्लिंगनरेश खारवेल ने उस प्राचीन जिन प्रतिमा को पुनः अपनी राजधानी में स्थापित किया जिसे नन्दराज लूट कर मगध ले गया था। उड़ीसा में भुवनेश्वर के निकट पहाड़ियों में स्थित हाथीगुम्फा से प्राप्त खारवेल का शिलालेख जैन धर्म के विषय में अत्यन्त रोचक विवरण प्रस्तुत करता है। यह अभिलेख अहंन्तों और सिद्धों की प्रार्थना से प्रारम्भ होता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि सम्राट् खारवेल का जैन धर्म से सक्रिय सम्बन्ध था। उसके द्वारा उड़ीसा में जैन धर्म के अत्यधिक प्रचार के कारण ही जैन धर्म वहां १२ वीं शती तक विद्यमान रह सका।^३

सम्प्रति के समय से ही पूर्वी भारत में जैनधर्म का प्रभाव कम होने लगा था और मालवा तथा मथुरा में जैन धर्म ने विशेष लोक-प्रियता प्राप्त की। उत्तरकालीन जैन परम्परानुसार उज्जयिनी के

१. दिल्ली (टोपरा) लेख

अशोक का सातवां धर्मशासन-लेख का अंतिम भाग

द्रष्टव्य—जैनशिलालेखसंग्रह, भाग-२, संपा० पं० विजयमूर्ति बम्बई (१९५२ ई०) पृ० १-४;

सरकार, डी०सी०—सेलेक्ट इन्सक्रिप्सन्स, पृ० ६३

२. हाथी गुम्फा का शिलालेख पं० विजयमूर्ति, संपा० जैनशिलालेखसंग्रह भाग-२ लेखांक २, पृ० ४-११

३. देव, एस० बी०—पूर्वोक्त, पृ० ९३-९७

राजा, संवत्प्रवर्तक विक्रमादित्य को जैन आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने जैन धर्म में दीक्षित किया था।^१ विक्रमादित्य के पिता और उज्जयिनी के पूर्ववर्ती शासक गर्दभिल्ल को कालक नामक एक जैनाचार्य ने अपनी साध्वी बहन से दुराचार के कारण शकों की सहायता से पदच्युत कर वहां शक राज्य स्थापित करा दिया। बाद में विक्रमादित्य ने वहां से शकों को हटाकर अपना शासन स्थापित किया।^२ इसी कालकाचार्य को हम प्रतिष्ठान के सातवाहन नरेश के दरबार में देखते हैं, जहां उन्होंने पयुषणा के पंचमी तिथि को चतुर्थी में बदल दिया।^३ उत्तरकालीन जैन साहित्य में इस सम्बन्ध में प्रचुर विवरण प्राप्त होता है।^४ सांकलिया ने ई० पूर्व दूसरी शती का एक शिलालेख भी पूना के निकट पाल नामक स्थान से हाल में ही प्राप्त किया है जिसका आरम्भ एक जैन मन्त्र से होता है।^५ तथापि सातवाहनों के साथ जैनों के व्यापक सम्पर्क के प्रमाण अत्यल्प ही हैं।

ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दी में जैन संघ का श्वेताम्बर और दिगम्बर आम्नायों में विभाजन एक महत्वपूर्ण घटना थी। इस

१. इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य

[अ] नाहटा, अजरचन्द—विक्रमादित्य सम्बन्धी जैन साहित्य

[ब] जैन, बनारसीदास—जैन साहित्य में विक्रमादित्य

[स] शार्लोटे क्राउझे—जैन साहित्य और महाकाल मंदिर

उक्त तीनों लेख पूर्व ग्वालियर राज्य द्वारा प्रकाशित विक्रम स्मृति ग्रन्थ में मुद्रित हैं।

[द] Charlotte Krause—Siddhasena Divakara and Vikramaditya, *Vikram Volume*, Ujjain [1948 A. D.] pp-213-280

२. निशीथचूर्णी, भाग-३

३. (i) निशीथचूर्णी, भाग-३

(ii) कल्पसूत्रवृत्ति-धर्मसागर, पृ० ४

(iii) कल्पसूत्रवृत्ति-विनयविजय, पृ० २७०

४. देव, एस० बी०-पूर्वोक्त, पृ० ९८।

५. घोष, ए०—जैन कला और स्थापत्य, खंड १, पृ० ९२।

समय मथुरा जैन धर्म का एक महान् केन्द्र था। यहां स्थित कंकाली टीले के उत्खनन से प्राप्त ईंट निर्मित स्तूप के अवशेष, तीर्थङ्करों की प्रतिमायें, उनके जीवन की घटनाओं से अंकित पाषाणखंड, आयाग-पट्ट, तोरण, वेदिकास्तम्भ आदि प्रकाश में आये हैं, जो प्रायः कुषाण युग के हैं। इनमें से अधिकांश पर लेख भी उत्कीर्ण हैं। इन शिलालेखों से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समाज के व्यापारी तथा निम्नवर्ग के लोग बड़ी संख्या में जैन धर्म के अनुयायी थे।^१ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ई० सन् की प्रारम्भिक शती में जैन धर्म कलिङ्ग, मालवा और मथुरा में अपनी स्थिति दृढ़ बनाये हुए था। गुजरात और काठियावाड़ में भी इस समय यह धर्म लोकप्रिय था, यह बात जय-दामन के पौत्र रुद्रसिंह के जूनागढ़ अभिलेख^२ से ज्ञात होती है।

निर्ग्रन्थ धर्म के प्रारम्भिक इतिहास के उपर्युक्त सर्वेक्षण से स्पष्ट होता है कि ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों तक न केवल उत्तर भारत के विस्तृत भू-भाग में बल्कि दक्षिण और दक्षिण-पश्चिम भारत में भी इस धर्म का व्यापक प्रसार हो चुका था।

उत्तर भारत में जैन धर्म

उत्तर भारत में गुप्त काल में भी जैन धर्म विकसित अवस्था में विद्यमान रहा। गुप्त सम्राट धार्मिक रूप से पूर्णरूपेण सहिष्णु थे। साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों स्रोतों से इसका प्रमाण प्राप्त होता है। उदाहरण के लिये कुवलयमालाकहा (उद्योतनसूरि—रचना काल शक सं० ७००/ई० सन् ७७८) में किसी तोरमाण और उसके गुरु हरिगुप्त, जो गुप्त वंश के थे, का उल्लेख मिलता है। इस तोरमाण को प्रसिद्ध हूण नरेश तोरमाण जिसकी मृत्यु ई० सन् की छठीं शती के प्रथम दशक में हुई थी, से समीकृत किया जाता है और हरिगुप्त को उस हरिगुप्त से, जिसकी ताम्रमुद्रायें मिली हैं, समीकृत किया जाता

१ देव, एस० बी०-पूर्वोक्त, पृ० ९८।

२. बर्जस, जेम्स—एण्टिक्विटीज ऑफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ, प्रथम भारतीय संस्करण, (दिल्ली, १९७१ ई०) पृ० १३९ तथा आगे, सांकलिया, एच० डी०—आर्कियोलॉजी ऑफ गुजरात, (बम्बई, १९४१ ई०) पृ० ४७-५३।

हैं। ^१ रामगुप्त^२, चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य', कुमारगुप्त 'प्रथम'^३, स्कन्द-गुप्त,^४ बुधगुप्त^५ आदि के अभिलेखों से पता चलता है कि उनके शासन काल में ब्राह्मणीय और बौद्ध धर्म की भांति जैन धर्म भी विकासोन्मुख रहा।

गुप्तों के पतन के ५० वर्षों के पश्चात् हर्ष ने उत्तर भारत में उनका स्थान ग्रहण किया। यद्यपि वह बौद्ध धर्मानुयायी था, परन्तु जैन गृहस्थों द्वारा दिये गये दानों से ज्ञात होता है कि जैन धर्म ने इस काल में अपना अस्तित्व बनाये रखा, परन्तु उसकी स्थिति प्रायः दुर्बल ही रही।^६

हर्ष के पश्चात् उत्तर भारत में जिन दो शक्तियों का अभ्युदय हुआ वे हैं, प्रतिहार और पाल। प्रतिहारों के अधिकार में मध्यभारत तथा उत्तर एवं उत्तर-पश्चिम भारत तथा पालों के अधिकार में पूर्वी भारत (वर्तमान बंगाल और बिहार) के क्षेत्र थे। इन शक्तियों में साम्राज्य विस्तार के लिये सदैव आपस में होड़ लगी हुई थी। जहां तक गुर्जर प्रतिहारों का प्रश्न है, ये यद्यपि ब्राह्मणीय परम्परा के अनुयायी थे, परन्तु उन्होंने जैन धर्म को भी पर्याप्त सहायता प्रदान की। इनके साम्राज्य के अनेक भागों में जिनालयों का निर्माण कराया गया। इस वंश के प्रसिद्ध शासक वत्सराज (ई० सन् ७७५-८००) के समय

१. उपाध्ये, ए० एन०—कुवलयमाला, भाग-२, प्रस्तावना, पृ० ९७-१००।
२. गड, जी०एस०—'श्री इस्क्रिप्शन्स ऑफ रामगुप्त' जर्नल ऑफ द ओरिएण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, जिल्द १८ (१९६९ ई०) पृ० २४७-५१।
३. [अ] पाटिल, डी०आर०—'मानुमेन्ट्स ऑफ द उदयगिरि हिल' विक्रम वाल्यूम—पृ० ३९६ और आगे।
[ब] शाह, यू० पी०, स्टडीज इन जैन आर्ट (वाराणसी, १९५५ ई०) पृ० १४-१५।
४. पं० त्रिजयमूर्ति-संपा० जैनशिलालेखसंग्रह, भाग-२, लेखांक ९३ पृ० ५९।
५. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द XX, (१९२९-३० ई०) पृष्ठ ५९।
६. देव, एस० बी०—पूर्वोक्त, पृ० १०४।

ओसिया (राजस्थान) के महावीर जिनालय का निर्माण कराया गया ।^१ यह बात उक्त जिनालय में उत्कीर्ण वि० सं० १०१३/ई० सन् ९५६ के एक लेख से ज्ञात होती है ।^२ आचार्य जिनसेन, जो वत्सराज के समकालीन थे, ने शक सं० ७०५/वि० सं० ८४०/ई० सन् ७८३ में हरिवंशपुराण को पूर्ण किया ।^३ वत्सराज के पश्चात् उसका पुत्र नागभट्ट 'द्वितीय' (ई० सन् ८००-८३३) गद्दी पर बैठा । जैन प्रबन्ध ग्रन्थों में उसका एक नाम 'आम' भी मिलता है । प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि 'आम' और 'नागावलोक' एक ही थे ।^४ उसने जैन-आचार्य बप्पभट्टिसूरि का सम्मान किया और उनके निर्देश पर कई स्थानों पर जिन मन्दिरों का निर्माण कराया । वत्सराज का उत्तराधिकारी मिहिरभोज (ई० सन् ८२६-८८५) बप्पभट्टिसूरि के शिष्यों नन्नसूरि

१. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वेस्टर्न सर्किल, प्रोग्रेस रिपोर्ट १९०६-०७ ई०, पृ० १५ ।

२. नाहर, पूरनचन्द—जैनलेखसंग्रह, भाग १, लेखांक ७८८ ।

३. शाकेष्वब्दशतेषु सप्तसु दिशं पञ्चोत्तरेषूत्तरां
पातीन्द्रायुधनाम्नि कृष्णनृपजे श्रीवल्लभे दक्षिणाम् ।
पूर्वा श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादिराजेऽपरां
सूर्याणामधिमण्डलं जययुते वीरे वराहेऽवति ॥५२॥

कल्याणैः परिवर्धमानविपुलश्रीवर्धमाने पुरे
श्रीपार्श्वालयनन्नराजवसतौ पर्याप्तशेषः पुरा ।

पाश्चाद्दोस्तटिकाप्रजाप्रजनितप्राज्याचंनावर्चने
शान्तेः शान्तगृहे जिनस्य रचितो वंशो हरीणामयम् ॥५३॥

षट्षष्टितमः सर्गः—हरिवंशपुराण ।

४. नागावलोक इत्याख्यां राज्ञस्तत्र प्रभुर्ददौ ।

ततः प्रभृत्यनेनापि नाम्ना विख्यातिमाप सः ॥१८८॥

स द्यूतकृत् तदादायागम् आमनृपाग्रतः ।

मुदा निवेदयामास तच्चमत्कारकारणम् ॥१८९॥

“बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध”—प्रभावकचरित, संपादक-जिनविजय, पृ० ८६

और गोविन्दसूरि के प्रभाव में था ।^१ इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि गुर्जर प्रतिहारों के शासन काल में जैन धर्म फूलता-फलता रहा ।

जहां तक पूर्वी भारत का प्रश्न है, सातवीं शताब्दी में ह्वेनसांग के समय पुण्डवर्धन और समतट में निर्ग्रन्थों (दिगम्बरों) की संख्या ज्यादा थी^२; यद्यपि बहुत से बौद्ध संघाराम और देवालय भी वहां विद्यमान थे । बंगाल में जैन धर्म की लोकप्रियता यद्यपि ह्वेनसांग के समयोपरान्त भी बनी रही, किन्तु उसके कुछ समय पश्चात् आठवीं शताब्दी में जैन गतिविधियों के संकेत न तो साहित्यिक प्रमाणों से प्राप्त होते हैं और न ही पुरातात्विक स्रोतों से । इससे कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा हुई कि बौद्ध धर्मावलम्बी पालवंश के उदय के साथ ही सातवीं शताब्दी के पश्चात् बंगाल में जैनधर्म का ह्रास होने लगा । परन्तु उक्त धारणा का खंडन नवीं और दसवीं शताब्दी में बंगाल के

१. श्रीमदामविहाराख्यतीर्थं नन्तुं ययौ नृपः ।

तत्र शिष्यद्वयं दृष्टं बप्पभट्टेमहामुनेः ॥७६०॥

विद्याव्याक्षेपतस्ताभ्यां न चक्रे भूमिपोचितम् ।

अभ्युत्थानादिसन्मानं श्रीभोजोऽथ व्यचिन्तयत् ॥७६१॥

अज्ञातव्यवहारो हि शिष्यावेतौ प्रभोः पदे ।

न युज्येते यतो विश्वे व्यवहारो महत्त्वभूः ॥७६२॥

श्रीनन्नसूरिराचार्यः श्रीमान् गोविन्द इत्यपि ।

आहूय पूजितौ राज्ञा पट्टे च स्थापितौ प्रभोः ॥७६३॥

मोद्रेरे प्रहितो नन्नसूरिः सूरिगुणोन्नतः ।

पार्श्वे गोविन्दसूरिश्चावस्थाप्यत नृपेण तु ॥७६४॥

भोजराजस्ततोऽनेकराज्यराष्ट्रग्रहाग्रहः ।

आमादभ्यधिको जज्ञे जैनप्रवचनोन्नतौ ॥७६५॥

“बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध” प्रभावकचरित, पृ० ११० ।

२. मजुमदार, आर० सी०—‘जैनज्म इन ऐन्शियन्ट बंगाल’ महावीर जैनविद्यालयसुवर्णमहोत्सवग्रन्थ (बम्बई, ई० सन् १९६८) भाग-१, अंग्रेजी खण्ड, पृ० १३६-१३७ ।

विभिन्न भागों से प्राप्त अनेक जैन अवशेषों से होता है।^१ इस युग में यहां पाषाण और कांस्य की अनेक जिन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ, जब कि पूरे प्रदेश पर बौद्ध धर्म छाया हुआ था। दसवीं शती के पश्चात् यहां से प्राप्त जैन अवशेषों की संख्या इसी अवधि के ब्राह्मणीय और बौद्ध अवशेषों की संख्या की तुलना में अत्यन्त सीमित है। इससे स्पष्ट है कि बौद्ध और ब्राह्मणीय धर्म की तुलना में जैन धर्म का निरन्तर ह्रास होता गया। इस सम्बन्ध में यह भी उल्लेखनीय है कि इस युग में इस क्षेत्र के जैन समाज में विमलशाह जैसा राज्याधिकारी अथवा वस्तुपाल-तेजपाल ऐसा श्रेष्ठी नहीं था, इसीलिये इस क्षेत्र में इस युग में जैन धर्म के संरक्षण में कला का महत्त्वपूर्ण विकास न हो सका।^२ परन्तु उत्तरी भारत में स्थिति पूर्णतया भिन्न थी। गुर्जर प्रतिहारों की शक्ति क्षीण होने पर उनके सामन्त चन्देलों ने अपनी स्वतंत्रता घोषित कर दी। चन्देल नरेश भी ब्राह्मणीयधर्मानुयायी थे, परन्तु इन्होंने जैन धर्म के विकास में प्रचुर योगदान दिया। खजुराहो और महोबा इनकी राजधानी थी, जहां अनेक सुन्दर-सुन्दर जिनालयों का निर्माण कराया गया।^३ इसके अलावा इनके साम्राज्य के अन्य भागों यथा चन्देरी, बूढ़ी चन्देरी, सिरोंज, चांदपुर, दुधई, मदनपुर, देवगढ़ आदि स्थानों पर भी सुन्दर जिनालयों का निर्माण

१. इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य—

(i) कल्याण के० गांगुली—जैन आर्ट ऑफ बेंगाल।

(ii) डी० के० चक्रवर्ती—ए सर्वे ऑफ जैन एन्टिक्वेरियन रिमेन्स इन बेंगाल।

(iii) देवा प्रसाद घोष—ट्रेस ऑफ जैनिज्म इन बेंगाल।

उक्त तीनों लेख एक्विजिशन ऑफ जैन आर्ट सोवेनियर (१९६४-१९६५) में मुद्रित हैं।

(iv) गणेश ललवानी—संपा० जैन जर्नल, जिल्द II, अङ्क ४, (अप्रैल १९६९) पृ० १६०-६७।

२. घोष, अमलानन्द—जैन कला और स्थापत्य, खंड २, पृ० २७७-७८।

३. शर्मा, राजकुमार—मध्य प्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भ ग्रन्थ (भोपाल-१९७४ ई०) प्रास्ताविक, पृ० ६३-७०।

कराया गया, जिनमें से अनेक जिनालय आज भी विद्यमान हैं।^१ चन्देल शासकों के उदार एवं सहयोगपूर्ण नीति के कारण ही उक्त जिनालयों का निर्माण सम्भव हो सका।

परमार नरेशों के काल में भी जैन धर्म की यथेष्ट उन्नति हुई। उनकी राजधानी धारा नगरी एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विद्याकेन्द्र के रूप में विख्यात रही। भोज जैसे महान् विद्याप्रेमी सम्राट और उसके कवि मंडल ने अपनी रचनाओं द्वारा सम्पूर्ण भारत में ख्याति प्राप्त कर ली थी। जैन वाङ्मय और संस्कृति की दृष्टि से इस नगरी का अत्यधिक महत्त्व है। दसवीं शती से चौदहवीं शती तक अनेक मान्य जैनाचार्यों एवं विद्वानों ने इस नगरी में निवास किया। इस अवधि में इनके द्वारा विपुल परिमाण में साहित्य का सृजन हुआ। यह तथ्य यहां रचे गये ग्रन्थों की प्रशस्तियों एवं उनके आन्तर उल्लेखों से ज्ञात होती है।^२ परमार नरेश मुञ्ज (ई० सन् ९७२-९९५) ने अमितगति, महासेन, धनेश्वर और धनपाल नामक जैनाचार्यों को अपने दरबार में संरक्षण प्रदान किया था। भोज (ई० सन् १०००-१०५०) के दरबार में अनेक जैनाचार्यों ने संरक्षण प्राप्त किया। प्रसिद्ध दिगम्बर जैनाचार्य प्रभाचंद्र को भोज ने सम्मानित किया था।^३ धारा नगरी में कई जिनालय विद्यमान थे जिनमें दो विशेष महत्त्व के रहे, प्रथम—पार्श्वनाथ जिनालय, जहां देवसेन ने वि० सं० ९९०/ई० सन् ९३३ में दर्शनसार^४ की रचना की और द्वितीय—जिनवरविहार जहां नयनन्दी ने वि० सं० ११००/ई० सन् १०४३ में सुदर्शनचरित की रचना की।^५

ग्यारहवीं और बारहवीं शती में उत्तर भारत के अधिकांश क्षेत्रों पर चाहमानों और गहड़वालों का शासन रहा।

शाकम्भरी के चाहमान नरेश, जिन्होंने १०वीं शती के उत्तरार्ध में विशेष ख्याति प्राप्त की, साहित्य, विशेषकर कला और स्थापत्य के

१. शर्मा, राजकुमार—पूर्वोक्त, पृ० २७२-२९२।

२. शास्त्री, परमानन्द—'धारा और उसके जैन सारस्वत' गुरुगोपालदास बरैयास्मृतिग्रन्थ (सागर-१९६७ ई०) पृ० ५४३-५५२

३. भाटिया, प्रतिपाल—द परमार्स (नई दिल्ली-१९७० ई०) पृ० २६५ N

४. जिनरत्नकोश, पृ० १६७।

५. वही, पृ० ४४४।

आश्रयदाता के रूप में विख्यात रहे। यद्यपि ये ब्राह्मणीय धर्मनुयायी थे, परन्तु धार्मिक सहिष्णुता की गौरवपूर्ण नीति का पालन करते हुए इन्होंने जैन श्रमणों का सदैव सम्मान किया एवं अनेक जैन उपासकों को बिना किसी भेद-भाव के राज्य के महत्त्वपूर्ण पदों पर नियुक्त किया। मलधारगच्छीय आचार्य हेमचन्द्रसूरि के शिष्य चन्द्रसूरि द्वारा रचित मुनिसुव्रतस्वामीचरित (रचनाकाल वि०सं० ११९३/ई० सन् ११३६-३७) की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि पृथ्वीराज (प्रथम) ने रणधम्भीर के जिन मन्दिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया था।^१ उसके पुत्र अजयराज (ई० सन् ११०५-११३०) ने अपनी नई राजधानी अजमेर में अनेक सुन्दर-सुन्दर जिनालयों के निर्माण में अपना सहयोग दिया। अजयराज के पश्चात् उसका पुत्र अर्णोराज (ई० सन् ११३०-११५०) गद्दी पर बैठा। धर्मघोषगच्छीय पृथ्वीचन्द्रसूरि द्वारा रचित कल्पसूत्रटिप्पण (पयुषणकल्पटिप्पण) की प्रशस्ति^२ से ज्ञात होता है कि राजगच्छीय आचार्य धर्मघोषसूरि ने शाकम्भरी के चाहमान नरेश को प्रतिबोधित किया था। इस प्रशस्ति से यह भी पता चलता है कि धर्मघोषसूरि ने दिगम्बर विद्वान् गुणचन्द्र को अर्णोराज के राज दरबार में शास्त्रार्थ पराजित किया था।^३ इस वंश के अन्य शासकों ने भी जैन मतावलम्बियों के प्रति सहिष्णुता की नीति का पालन किया।^४

१. पुहईराएण सयंभरीनरिदेण जस्स लेहेण ।

रणखंभउरजिणहरे चडाविया कयणकलसा ॥४॥

डिस्क्रिप्टिव कैटलाग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडार्स ऐट पाटन (संपा० चिमनलाल डाह्याभाई दलाल) पृ० ३१६ ।

२. अभवद् बादिमदहर षट्तर्काभोजबोधनदिनेशः ।

श्रीधर्मघोषसूरिर्बोधितशाकंभरीभूपः ॥२॥

वही, पृ० ३७

३. वादिचंद्रगुणचंद्रविजेता विग्रहक्षितिपबोधविधाता ।

धम्मंसूरिरिति नाम पुरासीत् विश्वविश्वविदितो मुनिराजः ॥१६॥

वही, पृ० ३६ ।

४. जैन, कैलाशचन्द्र—जैनिज्म इन राजस्थान (शोलापुर, १९६३ ई०)

पृ० १९-२३

नाडोल के चाहमानों ने भी जैनधर्म को अत्यधिक प्रोत्साहन दिया। इस वंश के शासकों ने अपने राज्य में कुछ विशेष अवसरों पर पशुवध पर भी रोक लगा दिया था। राज्य की ओर से जिनालयों को प्रायः भूमि दान में प्राप्त होती रही। ब्राह्मणीय धर्मानुरागी होते हुए भी इन शासकों ने जिनालयों एवं जैनाचार्यों का सदैव सम्मान किया।^१

गहड़वाल नरेश भी यद्यपि ब्राह्मणीय धर्मानुयायी थे, परन्तु उनके समय में भी जैन धर्म को कोई क्षति नहीं उठनी पड़ी। कौशाम्बी, मथुरा, श्रावस्ती तथा अन्य स्थानों से प्राप्त तीर्थंकर प्रतिमाओं से स्पष्ट होता है कि इस वंश के शासन काल में भी जैन धर्म भलीभांति विकसित दशा में विद्यमान रहा।^२

गवालियर और दूबकुण्ड के कछवाहों तथा त्रिपुरी के हैहयों के शासन काल में भी जैन धर्म विद्यमान रहा,^३ यह बात इनके क्षेत्रों से प्राप्त तीर्थंकरों तथा जैन शासन देवियों की प्रतिमाओं से सिद्ध होता है।

इसी प्रकार कल्चुरी नरेश भी ब्राह्मणीय धर्मावलम्बी थे, परन्तु जैन धर्म को उन्होंने कोई क्षति नहीं पहुंचायी। इस वंश के दान-शासनों में यद्यपि जैनों का कोई उल्लेख नहीं है तथापि आरंग, सिरपुर, मल्लार, धनपुर, रत्नपुर, पद्मपुर आदि स्थानों से; जो इनके साम्राज्य के अन्तर्गत स्थित थे, बड़ी संख्या में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाएँ मिली हैं, अतः यह निश्चित है कि इनके साम्राज्य में भी जैन धर्म भली-भांति फूलता-फलता रहा।^४

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि उत्तर भारत में जैन धर्म राजकीय संरक्षण के अभाव में भी एक लम्बे समय तक जन सामान्य

१. जैन, कैलाशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० २२

२. घोष, अमलानन्द—जैन कला एवं स्थापत्य, खंड २, पृ० २४२-२४३

३. शर्मा, राजकुमार—पूर्वोक्त, पृ० १००-१०१।

४. मिराशी, वासुदेव विष्णु—कल्चुरी नरेश और उनका राजत्वकाल, पृ० ९४।

एवं शर्मा, राजकुमार—पूर्वोक्त, पृ० ८०-९४।

विशेषकर व्यापारी वर्ग में लोकप्रिय रहा और जैनों को अपने धार्मिक क्रियाकलापों में पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त थी। समय-समय पर जिनालयों एवं जिनप्रतिमाओं के निर्माण आदि में उन्हें राजकीय सहयोग भी प्राप्त होता रहा।

ई० सन् की बारहवीं शती के अन्तिम दशक में उत्तर भारत के एक बड़े भाग पर मुस्लिम शासन आरम्भ हो जाने पर यहाँ की पूर्ववर्ती जीवनपद्धति, परम्परायें, सौन्दर्य-दृष्टिकोण तथा कलात्मक मूल्यों की उपेक्षा हुई और एक नई संस्कृति के मापदण्ड तथा कला के एक नये क्षेत्र का विकास हुआ; जिसके अनुरूप हिन्दुओं एवं जैनों ने स्वयं को ढालने का प्रयास किया। मुस्लिम शासन काल के प्रथम चरण में देश में जनसाधारण का सांस्कृतिक जीवन अस्त-व्यस्त रहा। इस युग में भ्रमणशील मुनि ही वैचारिक आदान-प्रदान के माध्यम थे। परन्तु यह विषम स्थिति अधिक समय तक न रही और शासक तथा शासित वर्ग के मध्य परस्पर सद्भाव स्थापित हुआ जिससे उत्तर भारत के विभिन्न भागों विशेषकर गुजरात, राजस्थान तथा मध्यप्रदेश के कुछ क्षेत्रों में अनेक सुन्दर-सुन्दर जिनालयों का निर्माण संभव हुआ।^१

दक्षिण भारत में जैनधर्म

जैसा कि पहले कहा जा चुका है कि दक्षिण भारत में जैन धर्म के प्रवेश के सम्बन्ध में अधिकांश विद्वानों की प्रायः यही धारणा है कि मगध में १२ वर्षीय दुष्काल पड़ने पर आचार्य भद्रबाहु के नेतृत्व में जैन भिक्षुओं का एक दल, जिनमें मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त भी थे, दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान किया और श्रवणबेलगोला पहुँचा। वहीं से जैन धर्म दक्षिण भारत के अन्य भागों में फैला। कुछ विद्वानों के अनुसार दक्षिण भारत में तो जैन धर्म भद्रबाहु के वहाँ जाने के पूर्व भी विद्यमान था और भद्रबाहु के नेतृत्व में श्रमणों ने वहाँ जैन धर्म के प्रसार में एक नई स्फूर्ति ला दी। जो भी हो यह तो निश्चित है कि ईसा पूर्व की तीसरी शती में जैन धर्म दक्षिण भारत में विद्यमान था

१. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—घोष, अमलानन्द—पूर्वोक्त, खंड २, पृ० २४१ और आगे।

२. राव, बी० शेषगिरि—स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, भाग-२ (पुनर्मुद्रण, दिल्ली १९८८ ई०) पृ० ३।

और लगभग डेढ़ हजार से भी अधिक वर्षों तक (ई० सन् की १४वीं शती तक) दक्षिण भारत के इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता रहा ।^१ जैसा कि पहले कहा जा चुका है, मौर्य सम्राट् सम्प्रति ने आन्ध्र, द्रविण, महाराष्ट्र आदि प्रान्तों में जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया । मौर्यों के पश्चात् दक्षिण भारत में सातवाहन उनके उत्तराधिकारी हुए । उत्तरकालीन जैन परम्परा में सातवाहनों पर भी जैन प्रभाव स्वीकार किया गया है ।^२ गंग राजवंश की नींव प्रसिद्ध जैन आचार्य सिंहनन्दि के सहयोग से ही डाली जा सकी थी ।^३ इस राजवंश के सभी शासक जैन धर्मानुयायी थे । कदम्ब राजवंश के नरेश यद्यपि ब्राह्मणीय धर्मावलम्बी थे, परन्तु इस वंश के कुछ शासक जैन धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धा रखते थे, जिससे उनके साम्राज्य में जैन धर्म का प्रचार हुआ और वहां यह धर्म लोकप्रियता प्राप्त कर सका ।^४

वादाभी के चालुक्यों के शासन काल में जैन धर्म को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त रहा ।^५ इस राजवंश के कई राजाओं जिनमें पुलकेशिन द्वितीय (ई० सन् ६०९-६४२) भी था, ने जैनाचार्यों को प्रश्रय दिया ।^६ राष्ट्रकूटों का शासन काल जैनधर्म के दक्षिण भारत में प्रसार के इतिहास का स्वर्णयुग कहा जाता है । इस वंश के कई नरेशों ने जैन धर्म को प्रश्रय प्रदान किया ।^७ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष 'प्रथम' (ई० सन् ८१४-८७८) तो जैन धर्म का प्रबल समर्थक था ।^८ राष्ट्रकूटों के सामन्तों ने भी अपने अधिशासकों की प्रेरणा से जैन धर्म को

१. संघवे, विलास आदिनाथ—जैनकम्यूनिति (बम्बई १९५९ ई०) पृ० ३८१ ।
२. देव, एस० बी०—पूर्वोक्त पृ० ९८ ।
३. चौधरी गुलाबचंद—जैनशिलालेखसंग्रह भाग-३ (बम्बई-१९५७ ई०) पृ० ७१ और आगे ।
४. वही, पृ० ८१ और आगे ।
५. वही, पृ० ८५ और आगे ।
६. वही, पृ० ८६-८७ ।
७. वही, पृ० ९४ और आगे ।
८. वही, पृ० ९७ ।

प्रोत्साहन एवं संरक्षण प्रदान किया।^१ राष्ट्रकूटों के पश्चात् दक्षिण भारत में पश्चिमी चालुक्यों का अधिपत्य स्थापित हुआ। उन्होंने भी गंग, कदम्ब, बादामी के चालुक्यों और राष्ट्रकूटों की भांति ही जैन धर्म के प्रति उदार नीति अपनायी।^२ जिस प्रकार ई० सन् की दूसरी शताब्दी में गंग राजवंश की स्थापना एक जैन आचार्य के सहयोग से हुई थी, उसी प्रकार से ११वीं शती में होयसल^३ और काकतीय^४ राजवंशों की नींव भी जैन आचार्यों के सहयोग से ही डाली जा सकी। दक्षिण के अन्य छोटे-छोटे राजवंश—कल्याणी के कल्चुरी, पुन्नाट के प्रारम्भिक चौगाल्व और कोगाल्व आदि ने भी जैन धर्म को स्वीकार किया था। इसी प्रकार बेलगाम और सुन्दन्ती के रट्ट और कोल्हापुर के शिलाहार भी जैन धर्मावलम्बी माने जाते हैं।^५

जहां तक सुदूर दक्षिण का प्रश्न है, प्राचीन तमिल साहित्य (संगम साहित्य) जैन सिद्धान्तों और विचारों के अनुकूल ही लिखा गया है। सामान्य रूप से पल्लवकालीन माने जाने वाले ग्रन्थों यथा 'शिल्लप्पदिकारम्' आदि पर भी जैन धर्म का प्रभाव परिलक्षित होता है।

जहां तक पल्लवों का प्रश्न है, वे ब्राह्मणीय धर्मावलम्बी थे, परन्तु हमारे पास ऐसे भी उदाहरण हैं जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि इनके शासनकाल में भी जैन धर्म उन्नत दशा में विद्यमान रहा। दिगम्बर जैनाचार्य वज्रनन्दि द्वारा वि० सं० ५२६ में दक्षिण मथुरा (मदुरा) नगरी में द्रविण संघ की स्थापना की गयी।^६ पल्लव नरेश सिंहवर्मा (ई० सन् ५५०-५७५) के शासन काल के २२वें वर्ष में सिंहनन्दि-

१. संघवे, पूर्वोक्त पृ० ३८२।

२. वही।

३. चौधरी, गुलाबचंद—पूर्वोक्त, पृ० ९९-१०१।

४. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत—“आमरकुण्डपद्मावतीदेवीकल्प”

५. संघवे—पूर्वोक्त, पृ० ३८२-८३।

६. प्रवचमार—प्रस्तावना, पृ० २१।

ने लोकविभाग की रचना की।^१ प्रारम्भिक पाण्ड्य शासकों ने भी जैन धर्म को सहयोग प्रदान किया था। कांची और मदुरा जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र थे।^२ तथापि कुछ उदाहरणों को छोड़कर परवर्ती पल्लव और पाण्ड्य नरेशों ने शैव धर्म के प्रभाव में आकर जैन धर्म के प्रति द्वेषपूर्ण नीति अपनाया।^३ चोल राजवंश के शासकों ने भी जैन समाज और धर्म के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की।^४ चोल नरेश राजराज-प्रथम (ई० सन् ९८५-१०१४) की बड़ी बहन ने राज्य के विभिन्न भागों में अनेक जैन मन्दिरों का निर्माण कराया और इस प्रकार जैन धर्म की उज्ज्वल कीर्ति को विस्तृत करने का प्रयास किया।^५ तथापि पल्लव, पाण्ड्य और चोल राजवशों पर जैन धर्म अपना पूर्णप्रभाव कायम करने में कभी भी सफल न हो सका। अनन्तपुर, बेल्लारी, गुन्दुर, कृष्णा, कर्नूल, नेल्लोर, उत्तरी आर्काट, दक्षिण कनारा और विशाखापत्तनम् आदि स्थानों से जैन अभिलेख प्राप्त हुए हैं।^६ इनसे स्पष्ट होता है कि सम्पूर्ण दक्षिण भारतवर्ष में लगभग एक हजार से अधिक वर्षों तक दिगम्बर जैन धर्म का बड़ा प्रभाव रहा और श्रवणबेलगोला उनकी गतिविधियों का एक प्रमुख केन्द्र था। वैष्णव और शैव धर्मों के बढ़ते हुए प्रभाव से दक्षिण भारत में जैन धर्म को बड़ी क्षति उठानी पड़ी तथा इन प्रदेशों में रहने वाले कुछ जैन धर्मावलम्बी तो दूसरे स्थानों पर चले गये और कुछ ने शैव और वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया।

ई० सन् की चौदहवीं शताब्दी के मध्य विजयनगर साम्राज्य की स्थापना के समय जैन धर्म तमिल, तेलुगू और कर्णाटक में अपने पूर्व स्थान से च्युत हो चुका था। जैन धर्म के लिये यह महान् संकट का समय था। ऐसे समय में विजयनगर ने जैन धर्म के संरक्षक

१. देसाई, पी०बी०—जैनजम इन साउथ इण्डिया (शोलापुर, १९५७ ई०) पृ० ४८-४९।
२. वही, पृ० ३३, ५५।
३. देव, एस० बी०—पूर्वोक्त, पृ० १३०-१३१।
४. देसाई—पूर्वोक्त, पृ० ७८।
५. वही
६. संघवे—पूर्वोक्त, पृ० ३८३।

के रूप में कार्य किया और आने वाली शताब्दियों में उसकी लोक-प्रियता को बनाये रखने में अतुलनीय योगदान दिया। विजयनगर साम्राज्य के शासक यद्यपि ब्राह्मणीय धर्मोपासक थे, परन्तु जैन धर्म को भी उन्होंने पर्याप्त प्रश्रय दिया। इस वंश के नरेश बुक्काराय, देवराय 'प्रथम', उसकी रानी भीमादेवी, जिसने श्रवणबेलगोला के एक वसति के लिये भगवान् शान्तिनाथ की प्रतिमा का निर्माण कराया था, देवराज 'द्वितीय' आदि जैन धर्म के सहायक के रूप में विख्यात हैं।^१ देवराज 'द्वितीय' ने ई० सन् १४२४ में वराङ्ग के नेमिनाथवसति को एक ग्राम दान में दिया।^२ इसके अतिरिक्त ई० सन् १४२६ में उसने राजधानी हम्पी में भी एक चैत्यालय का निर्माण कराया।^३ कृष्णदेवराय (ई० सन् १५०९-२९) के शासनकाल की यह विशेषता थी कि उस समय सभी धर्मों के अनुयायियों के साथ उदारता और उनको समान रूप से संरक्षण प्राप्त था। ई० सन् १५१६ और ई० सन् १५१९ में उसने विभिन्न जैन वसतियों को दान दिया। ई० सन् १५२९ में बेल्लारी जिले के चिप्पगिरि स्थित एक वसति को दान दिया गया।^४ सम्राट् के अतिरिक्त उसके कुछ अधिकारियों ने भी जैन धर्म को महान् उत्कर्ष प्रदान किया। इस सम्बन्ध में एक धर्मनिष्ठ जैन सेनापति इरुगप्प (ई० सन् १३८४-१४४२) का उल्लेख किया जा सकता है जिसने हरिहर 'द्वितीय' और देवराय 'द्वितीय' के अधीन अपने सेवाकाल में साम्राज्य के विभिन्न भागों में मन्दिरों का निर्माण कराया, उन्हें उदार सहायता दी और अनेक जैन आचार्यों को संरक्षण प्रदान कर इस धर्म की निष्ठापूर्वक सेवा की।^५

गुजरात-काठियावाड़ में जैन धर्म

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, जैन धर्म का गुजरात-काठियावाड़ से यथेष्ट प्राचीन काल से ही सम्बन्ध रहा है। जैन साहित्यिक

१. सालेटोर—पूर्वोक्त—पृ० ३०१।
२. वही, पृ० ३०२।
३. वही. ३०१।
४. वही, पृ० ३०१।
५. वही, पृ० ३०३-३०४।

परम्परानुसार २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ का उज्ज्वलनगिरि पर निर्वाण हुआ था।^१ यद्यपि यह उस समय की गढ़ी हुई कल्पना भी हो सकती है जब जैनधर्म इस क्षेत्र में स्थापित हो चुका था। जहां तक ऐतिहासिक युग का प्रश्न है, विद्वानों की धारणा है कि आचार्य भद्रबाहु की दक्षिण यात्रा के समय ही यह क्षेत्र जैन धर्म के सम्पर्क में आया।^२ कुछ विद्वानों के अनुसार मौर्य सम्राट् सम्प्रति के भाई शालिशुक ने यहां जैन धर्म का प्रचार-प्रसार किया।^३ कल्पसूत्र की स्थविरावली में आर्य सुहस्ति के शिष्य ऋषिगुप्त द्वारा संगठित सौराष्ट्रिका शाखा का उल्लेख मिलता है।^४ इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि ईसा पूर्व की तीसरी शती तक यह क्षेत्र जैन धर्म के प्रभाव में आ चुका था। ईसवी पूर्व की दूसरी शती में पश्चिमी भारत में जैन धर्म की लोकप्रियता के प्रमाण-स्वरूप महाराष्ट्र के पूना जिले के पाल नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख का उल्लेख किया जा सकता है।^५

१. (i) ...अरहा अरिदुनेमी उज्जंतसेलसिहरे मासिएणं भत्तेणं
अपाणएणं पंचहि छत्तीसेहि अणगारसएहि सद्धि कालगए सिद्धे
बुद्धे मुत्ते अंतगडे परिनिब्बुडे सव्वदुक्खप्पहोणे ॥
जातृधर्मकथा (संपा० मधुकर मुनि, व्यावर, १९८१ई०) १६।२२४

(ii) तेणं कालेणं तेणं समएणं अरिहा अरिदुनेमी.....
...उज्जितसेलसिहरंसि पंचहि छत्तीसेहि अणगारसएहि
सद्धि मासिएणं भत्तेणं अपाणएणं चित्ताहि नक्खत्तेणं
जोगमुवागएणं पुव्वरत्तावरत्तकालसमयंसि नेसज्जिए कालगए
जाव सव्वदुक्खप्पहोणे ।

कल्पसूत्र [संपादक—देवेन्द्रमुनि शास्त्री, गुजराती व्याख्या सहित,
बम्बई, १९७२ ई०] १६८;

इस सम्बन्ध में विस्तार के द्रष्टव्य—

मेहता, मोहनलाल एवं चन्द्र, के० आर०—संपा० प्राकृतप्रापरनेम्स
भाग १, पृ० ६१ एवं जोहरापुरकर, विद्याधर-तीर्थवन्दनसंग्रह पृ० १२२

२. देव, एस० बा०—हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाकिज्म पृ० ११०

३. वही, पृ० ९८

४. कल्पसूत्र २१५

५. जोहरापुरकर, विद्याधर—संपा०-जैनशिलालेखसंग्रह भाग-५, लेखाङ्क १;
घोष, ए०—जैन कला और स्थापत्य खण्ड १, पृ० ९२ पाद टिप्पणी-
संख्या १

यह अभिलेख परम्परागत जैन वाक्य 'णमो अरिहंताणं' से प्रारम्भ होता है। लेख में इन्द्ररक्षित नामक एक साधु द्वारा जलाशय के निर्माण कराने का उल्लेख है। इन्द्ररक्षित के गण, कुल और शाखा का कोई उल्लेख प्राप्त नहीं होता।

जैसा कि पहले हम देख चुके हैं २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का सम्बन्ध उज्जयन्तगिरि से है। उनके जीवन की प्रमुख घटनाओं का उल्लेख हमें जैन आगम ग्रन्थ ज्ञातृधर्मकथा में प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ ईसा पूर्व की शताब्दियों में रचा माना जाता है। जैसा कि आधुनिक युग के अधिकांश विद्वानों का मत है कि अन्तिम दो तीर्थङ्कर—पार्श्वनाथ और महावीर ही ऐतिहासिक महापुरुष थे, शेष सभी काल्पनिक। परन्तु यह विचारणीय है कि शेष २२ तीर्थङ्करों की कल्पना भी महावीर के निर्वाण के प्रायः तुरन्त बाद ही उत्पन्न हुई होगी। नेमिनाथ को २२ वें तीर्थंकर के रूप में स्थान देने में जैनों ने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक काम लिया। उन्होंने समकालीन ब्राह्मणीय (वैष्णव) परम्परा, जो उस समय पश्चिमी भारत में कृष्ण-वसुदेव के सम्बन्ध में प्रचलित रही, उनसे नेमिनाथ का समकालिक सम्बन्ध जोड़कर उन्हें २२ वें तीर्थंकर के रूप में प्रतिष्ठित कर लिया।

ई० सन् की प्रथम शताब्दी में भी इस क्षेत्र में जैन धर्म भलीभांति फूलता-फलता रहा। षट्खण्डागम के टीकाकार वीरसेनाचार्य के अनुसार वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष पश्चात् श्रुतज्ञानी आचार्यों की अविच्छिन्न परम्परा में धरसेनाचार्य हुए। वे गिरिनगर (वर्तमान गिरनार) की चन्द्रगुहा में रहते थे। वहीं उन्होंने पुष्पदन्त और भूतबलि नामक शिष्यों को बुलाकर श्रुतज्ञान से परिचित कराया, जिसके आधार पर उन्होंने द्रविण देश में जाकर खट्खण्डागम की सूत्र रूप में रचना की।^१ जूनागढ़ के समीप प्राचीन जैन गुफाओं का पता चला है, जो आज बाबाप्यारामठ^२ के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें से एक गुफा से एक खण्डित शिलालेख मिला है, जो क्षत्रपवंशीय राजा जयदामन

१. (i) शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैनसाहित्यका इतिहास, भाग १, पृ० ५-७

(ii) शास्त्री, बालचन्द्र-षट्खण्डागम-परिशीलन (नई दिल्ली १९७८ ई०) पृ० २-३

२. घोष, ए०—जैन कला और स्थापत्य, खण्ड १, पृ० ९३-९४

के पौत्र रुद्रसिंह द्वारा उत्कीर्ण कराया गया है। इसमें जैन पारिभाषिक शब्द जरामरण, केवलज्ञान आदि का उल्लेख है।^१ गुफा में भद्रासन, मीनयुगल, स्वास्तिक आदि अष्टमङ्गलों का भी अंकन है।^२ ढंक नामक स्थान पर भी इसी काल की गुफाओं का पता चला है। इन गुफाओं से आदिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर तथा अन्य तीर्थंकरों की प्रतिमायें मिली हैं, जो ई० सन् की प्रथम शताब्दी की हैं।^३ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ई० सन् की प्रारम्भिक शताब्दियों में इस क्षेत्र में जैन धर्म लोकप्रिय हो चुका था।

गुप्तयुग में भी यह क्षेत्र जैन धर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा, इसका सबसे पुष्ट प्रमाण है वलभी नगरी में वीर निर्वाण के ९८० या ९९३ वर्ष पश्चात् जैन आगमों को पुस्तकारूढ़ करने के लिये एक संगीति का आयोजन;^४ जो वलभीवाचना के नाम से विख्यात है। परम्परानुसार यह वाचना वलभी के राजा ध्रुवसेन के काल में हुई।^५ परन्तु यह कथन भ्रामक है।^६ जहां तक वलभी के मैत्रकों का प्रश्न है, वे ब्राह्मणीय और बौद्ध धर्मोपासक थे, परन्तु

१. क्तृ...रग...क्षत्रप.....१

स्वामि) चष्टनस्य प्र (पौ) त्रस्य राजः क्षत्रपस्य स्वामिजयदामपोत्रस्य-
राज्ञो महाक्ष ... २

(चै) त्रशुक्लपक्षस्य दिवसे पञ्चमे ... (५) इह गिरिनगरे देवासुरनाग-
यक्षराक्षसेन्द्र ... ३

...प्रक (?) मित्र प...केवलज्ञानसंप्राप्तानां जितजरामरणानं (?)...४
वर्जेंस, जेम्स—एण्टिक्विटीज ऑफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ (नई
दिल्ली १९७१ ई०) पृ० १३९-४१

२. वही

३. वही, पृ० १५०-१५२

४. धर्मसागर—कल्पसूत्रकिरणावली (जैन आत्मानन्दसभा, भावनगर ई०
सन् १९२२) पृ० १२९-३२

विनयविजय—कल्पसूत्र सुखनोघाटीका [हीरालाल हंसराज, जाम-
नगर, १९३९ ई०] पृ० १२५-२६

५. वही

६. द्रष्टव्य—प्रस्तुत ग्रन्थ के अन्तर्गत 'वलभी'।

उन्होंने जैन धर्म को कभी कोई क्षति नहीं पहुंचायी ।^१ वलभी में आगम ग्रन्थों के संकलन से यह तो स्पष्ट होता ही है कि उस नगरी में अनेक जिनालय और उपाश्रय विद्यमान रहे होंगे । ई० सन् ६०९ के आस-पास आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने वलभी के एक जिनालय में 'विशेषावश्यकभाष्य' की रचना की ।^२ शत्रुञ्जय और गिरनार तो इस समय प्रसिद्ध जैन तीर्थ थे ही, इसके साथ-साथ अनेक छोटे-छोटे तीर्थ भी अस्तित्व में आये, जैसे स्तम्भनक (थामणा), भृगुकच्छ, मोढ़ेरा, वढवाण, तारण (तारङ्गा), सिंहपुर (सिहोर), द्वारवती (द्वारका), शंखपुर (शंखेश्वर), स्तम्भतीर्थ (खंभात), खेटक, (खेड़ा), वायड आदि । जैन प्रबन्ध ग्रन्थों के अनुसार वलभी के नगर-देवता द्वारा निकट भविष्य में नगरी के भंग होने की सूचना पाकर वहां का जैन सघ मोढ़ेरा चला गया तथा वहां के जिनालयों की प्रातिमायें विभिन्न तीर्थस्थानों में सुरक्षा के लिये भेज दी गयीं ।^३ सातवीं शती के दो गुर्जर नरेशों जयभट्ट 'प्रथम' (ई० सन् ६१०-६२०) और दद 'द्वितीय' (ई० सन् ६२०-६४५) के दानपत्रों में उनके वीतराग और प्रशान्तराग विशेषण पाये जाते हैं ।^४ यद्यपि ये नरेश जैन धर्मावलम्बी नहीं थे, परन्तु उन्होंने ये उपाधियां जैन धर्म के प्रभाव के कारण ही धारण की होंगी ।^५ इस प्रदेश में चापोत्कट वंश के संस्थापक वनराज के जैन धर्म के साथ सम्बन्ध और उसके विशेष प्रोत्साहन के प्रमाण मिलते हैं । जैन परम्परानुसार इस वंश की नींव जैन आचार्य शीलगुणसूरि के सहयोग से ही डाली गयी थी ।^६ जिनभद्र-गणि क्षमाश्रमण, जिनदासगणि महत्तर, उद्योतनसूरि, शीलगुणसूरि, बप्पभट्टिसूरि, समदर्शी आचार्य हरिभद्र आदि इस युग के महान् जैना-

१. परीख और शास्त्री—संपा० गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास, भाग ३, पृ० २५०
२. वही, पृ० २५०-२५२
३. वही, भाग ३, पृ० २५१
४. भजमूदार, एम.आर.—क्रोनोलॉजी ऑफ गुजरात [बड़ौदा, १९६०ई.] पृ० १६१, १६३
५. जैन, हीरालाल—पूर्वोक्त, पृ० ४२
६. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, भाग ४, पृ० ३६९

चार्य थे ।^१ इस युग में श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायों में आपसी वैमनस्य के भी उदाहरण मिलते हैं । बप्पभट्टिसूरि ने गिरनार तीर्थ को दिगम्बरों के अधिकार से मुक्त किया ।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि इस काल में इस क्षेत्र में दिगम्बर जैनों की पूर्व की अपेक्षा संख्या अधिक थी । बढवाण उनका प्रमुख केन्द्र था ।^३ दिगम्बर साहित्य की प्राचीनतम संस्कृत रचनायें जिनसेनकृत हरिवंशपुराण* (ई० सन् ७८३) और हरिषेणकृत बृहत्कथाकोष^५ (ई० सन् ९३१-३२) बढवाण में ही रचे गये । जिनसेन और हरिषेण पुन्नाटसंघ के आचार्य थे ।

सोलंकी युगमें तो राजाओं के साथ-साथ मन्त्रियों, श्रेष्ठियों, व्यापारियों आदि ने भी जैन मंदिरोंको भूमिदान दिया तथा उनके द्वारा मंदिरों, चैत्यों, वसतियों-उपाश्रयों आदि का निर्माण एवं जीर्णोद्धार कराया गया । श्रावकों द्वारा बड़ी संख्या में जिन प्रतिमाओं का निर्माण एवं संघ के साथ तीर्थों की यात्रायें की गयीं ।^६ सोलंकी राजा स्वयं तो शैव-धर्मावलम्बी थे, परन्तु उन्होंने जैन धर्म के प्रति अत्यन्त श्रद्धाभाव प्रदर्शित किया और जैन आचार्यों का अपने दरबार में बहुत सत्कार किया ।^७ ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं कि जैन आचार्यों के प्रभाव के कारण ही राजकुल के कई सदस्यों ने जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण कर ली । चौलुक्य नरेश मूलराज 'प्रथम' (ई० सन् ९४१-९९६) के वि०

१. बेलानी, फतेहचन्द्र—जैनग्रन्थ और ग्रन्थकार [वाराणसी १९५२ ई०] पृ० ४९ और आगे
२. बप्पभट्टिसूरिचरितम्—प्रभावकचरित [सं०-मुनिजिनविजय, कलकत्ता, १९४० ई०] पृ० ८०-१११
३. परीख और शास्त्री, पूर्वोक्त, भाग ३, पृ० २५२
४. द्रष्टव्य—हरिवंशपुराण [सं०-पन्नालाल जैन, साहित्याचार्य, वाराणसी १९६२ ई०] की प्रशस्ति
५. बृहत्कथाकोश [सं०-आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, बम्बई-१९४३ ई०] की प्रशस्ति
६. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, भाग, ४, पृ० ३६९
७. वही, पृ० ३७०

सं० १०३३/ई० सन् १७६ के वरुणसरमक दानपत्र से ज्ञात होता है कि युवराज चामुण्डराज ने वरुणसरमक के जिनालय को भूमि दान दिया।^१ वरुणसरमक को मेहसणा जिले में स्थित वर्तमान बडसम से समीकृत किया जाता है।^२ चामुण्डराज के पुत्र दुर्लभराज (ई० सन् १००९-१०२४) पर भी जैन धर्म का बड़ा प्रभाव था। खरतरगच्छपट्टावली^३ के अनुसार इसी राजा के दरबार में चैत्यवासियों और सुविहितमार्गी मुनियों में शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें चैत्यवासियों की पराजय हुई और उनका महत्त्व घटने लगा। सुविहितमार्गी मुनियों की ओर से वर्धमानसूरि के शिष्य जिनेश्वरसूरि ने शास्त्रार्थ में भाग लिया था। वर्द्धमानसूरि ने ई० सन् १०३१ में आबू पर दण्डनायक विमल द्वारा निर्मित नेमिनाथ जिनालय में मूर्तिप्रतिष्ठा की।^४ इसके कुछ समय पश्चात् उन्होंने सल्लेखना व्रत स्वीकार कर इस नश्वर शरीर को त्याग दिया।^५ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ११ वीं शती में इस क्षेत्र में जैन धर्म अत्यन्त लोकप्रिय था जिसके कारण ही आबू पर विमलवसही जैसे कला की दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट जिनालय का निर्माण सम्भव हो सका। चौलुक्य नरेश भीम 'प्रथम' (ई० सन् १०२४-६४) ने गोविन्दसूरि, सूरुाचार्य, चादिवेताल शांतिसूरि, महेन्द्रसूरि आदि कई प्रसिद्ध जैनाचार्यों का सम्मान किया था।^६ जयसिंह सिद्धराज (ई० सन् १०९४-११४२)

१. मुनिजिनविजय—'चामुण्डराज चौलुक्यनुं सं० १०३३ नुं 'ताम्रपत्र' भारतीयविद्या वर्ष १, अंक १ [बम्बई, नवम्बर १९३९ ई०] पृ० ७३-१००
२. मजुमदार, ए० के०—चौलुक्याज ऑफ गुजरात [बम्बई, १९५६ ई०] पृ० ३१०
३. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली—संपा० मुनिजिनविजय [बम्बई १९५६ ई०] पृ० ३-४
४. नाहटा, अगरचन्द—'विमलवसही के संस्थापकों में वर्धमानसूरि भी थे' जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ५, अंक ५-६, पृ० २१२-२१४
५. खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, पृ० ५
६. गांधी, लालचन्द भगवान—ऐतिहासिकजैनलेखो [बड़ौदा १९६३ ई०] पृ० २२७

के समय तो श्वेताम्बरों के सिद्धान्त गुर्जरधरा में जैन धर्म के सर्वमान्य सिद्धान्त बन गये। सिद्धराज के दरबार में ही श्वेताम्बरों और दिगम्बरों में शास्त्रार्थ हुआ। दिगम्बरों की ओर से कर्णाट देश के कुमुदचन्द्र तथा श्वेताम्बरों की ओर से आचार्य वादिदेवसूरि ने भाग लिया।^१ इस शास्त्रार्थ में दिगम्बरों की हार हुई और गुर्जरभूमि से उनका प्रभाव समाप्त हो गया।^२ जयसिंह सिद्धराज को अनेक जिनालयों के निर्माण कराने का भी श्रेय प्राप्त है। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि हेमचन्द्र को अनुरोध पर राजा ने उज्जैनगिरि पर नेमिनाथ की पूजा की और पुत्र के लिये कामना की।^३ उत्तरवर्ती जैन परम्परानुसार इस अवसर पर हेमचन्द्र भी उपस्थित थे^४ और यह बात असम्भव नहीं प्रतीत होती।

जयसिंह सिद्धराज के पश्चात् कुमारपाल [ई० सन् ११४३-११७२] गुर्जरदेश का शासक बना। कुमारपाल जैन धर्म का महान् पोषक था और उसी के प्रयास के फलस्वरूप ही गुर्जरदेश सदैव के लिये जैनधर्म के एक प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित हो सका। इस महान् कार्य के लिये हेमचन्द्राचार्य, जो उस युग के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे, को ही श्रेय दिया जाता है। हेमचन्द्र का कुमारपाल पर यह प्रभाव बहुत कुछ आचार्य के व्यक्तिगत चरित्र पर आधारित था क्योंकि उनके जीवन में धार्मिक संकीर्णता तो लेशमात्र भी न थी। कुमारपाल के समय में जैन धर्म राजधर्म के रूप में प्रतिष्ठित था।^५ ऐसा कहा जाता है कि सिंहासनारोहण के पूर्व वह शैवधर्मोपासक था और देवपत्तन में उसने एक काष्ठनिर्मित शिवालय का भी निर्माण कराया था।^६ हेमचन्द्राचार्य के सम्पर्क में जाने पर कुमारपाल ने जैन

१. प्रभावकचरित—वादिदेवसूरिचरितम् पृ० १७४

२. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द—जैनसाहित्यनो संक्षिप्तइतिहास [बम्बई १९३३ ई०] पृ० २५३-२५५

३. गांधी, लालचन्द भगवान् पूर्वोक्त, पृ० ६६ और आगे

४. वही

५. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, भाग ४—सोलंकी काल, पृ० ३७०-७१

६. मजुमदार, ए० के०—पूर्वोक्त, पृ० ३१४ और आगे

धर्म स्वीकार कर लिया। जयसिंह सिद्धराज के पश्चात् चौलुक्य सिंहासन प्राप्त करने में उसे जैनों से भी बड़ा सहयोग मिला। राज्या-रोहण के पश्चात् कुमारपाल ने न केवल जिनालयों का निर्माण कराया, बल्कि अपने सम्पूर्ण साम्राज्य में वर्ष के विशेष दिनों में पशुवध पर रोक लगा दिया। उसके सामन्तों ने भी अपने-अपने क्षेत्रों में इन नियमों को लागू किया। उसी का परिणाम है कि गुजरात की एक बड़ी जनसंख्या आज भी शाकाहारी है।^१ यद्यपि सोलंकी राजाओं ने शैव धर्म को राज-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित किया था, परन्तु कुमारपाल ने जैन धर्म स्वीकार करते हुए भी शैवधर्म के प्रति कोई विद्वेष नहीं रखा। कुमारपाल के पश्चात् अजयपाल गद्दी पर बैठा। वह जैनों का विरोधी था उसने कुमारपाल द्वारा निर्मित अनेक सुन्दर-सुन्दर जिनालयों को नष्ट करा दिया।^२

चौलुक्यों के पश्चात् बघेल गुज्रदेश के भाग्यविधाता बने। उनके समय में भी जैन धर्म अत्यन्त उन्नत अवस्था में था। चौलुक्यों के सामन्त बघेल नरेश वीरधवल (ई० सन् १३ वीं शती का द्वितीय चरण) का मन्त्री वस्तुपाल और उसका लघुभ्राता तेजपाल जैन धर्म के महान् आश्रयदाता के रूप में विख्यात थे। उन्होंने शत्रुंजय, गिरनार, आबू तथा अनेक जैन तीर्थों पर नूतन जिनालयों का निर्माण एवं प्राचीन जिनालयों एवं उपाश्रयों का जीर्णोद्धार कराया।^३ इसी समय तलाजा, आमरण (प्राचीन अम्बुरिणी, जिला जामनगर-सौराष्ट्र) और खंभात आदि तीर्थों पर भी नये-नये जिनालयों का निर्माण कराया गया।^४ वस्तुपाल-तेजपाल ने न केवल जिनालयों का निर्माण कराया बल्कि अनेक जैन आचार्यों को अपने यहां प्रश्रय भी दिया जिनमें सोमेश्वर, हरिहर, नानक, यशोवीर, सुभट, अरिसिंह, अमर-

१. मजुमदार, ए० के०—पूर्वोक्त, पृ० ३१५-६

२. प्रबन्धचिन्तामणि—[संपा० मुनि जिनविजय, शांतिनिकेतन, १९३३ई०] पृ० ९६

३. सडिसरा, भोगीलाल जयसिंह—महामात्यवस्तुपाल का साहित्यमंडल और संस्कृतसाहित्य में उसकी देन [वाराणसी १९५९ ई०] पृ० ४८ और आगे

४. वही

चन्द्रसूरि, विजयसेनसूरि, उदयप्रभसूरि, नरचन्द्रसूरि, नरेन्द्रप्रभसूरि, बालचन्द्र, जयसिंहसूरि, माणिक्यचन्द्रसूरि, मदन, हरिहर, पाल्हण-पुत्र आदि प्रमुख थे ।^१

वस्तुपाल-तेजपाल के अवसान के पश्चात् कच्छ के वणिक् जगडू-शाह ने भी जैन धर्म को उन्हीं के समान प्रश्रय दिया । इसने अनेक जैन तीर्थ क्षेत्रों में जिनालयों का निर्माण कराया ।^२ जगडूशाह की सबसे बड़ी उपलब्धि थी—वि० सं० १३१३-१५ई०सन् १२५५-५८ में दुर्भिक्ष के समय अनाज का निःशुल्क वितरण । उसने न केवल सर्व साधारण को अनाज वितरित किया बल्कि तत्कालीन शासकों ने भी उससे अनाज लिया । जैनाचार्य परमदेवसूरि उनके गुरु थे ।^३ तपा-गच्छीय सर्वानन्दसूरि विरचित जगडूचरितमहाकाव्य^४ में इस श्रेष्ठी के सत्कृत्यों का विवरण प्राप्त होता है ।

पेथडशाह इस युग के दूसरे महान् जैन श्रेष्ठि थे ।^५ इनके पिता का नाम 'देशल' था जो अवन्तिदेश स्थिति नन्दूरीपुर नामक स्थान के निवासी थे । वहाँ के राजा के दुर्व्यवहार से असन्तुष्ट होकर देशलशाह बीजापुर गये और फिर वहाँ से खंभात आये और वहीं स्थायी रूप से

१. सांडेसरा, पूर्वोक्त पृ० ६०-११६
२. स्थाने स्थाने ढवजारोपं, चकार जिनवेशमसु ।
जहार जनतादीस्थं, जगडूजंगतीतले ॥
असङ्ख्यसङ्घलोकेन, समं यात्रां विधाय सः ।
शत्रुञ्जये रैवतके, प्राय चात्मपुरं वरम् ॥
विमलाचलशृङ्गे स, श्रीनाभेयपवित्रिते ।
सप्तैव देवकुलिका रचयामासिवान् शुभाः ॥
जगडूचरितमहाकाव्य ६/४०, ४१, ५५
३. इतश्च पूर्णिमापक्षोद्द्योतिकारी महामतिः ।
श्रीमान्परमदेवाख्यः सूरिर्भाति तपोनिधिः ॥
वही, ६।१
४. संपा० विजयजिनेन्द्रसूरि, प्रकाशक—श्रीहर्षपुष्पामृत जैन ग्रन्थमाला,
लाखाबावल, शांतिपुरी, सौराष्ट्र, १९८२ ई०
५. गांधी, लालचन्द भगवान—पूर्वोक्त, पृ० ५१४ और आगे

बस गये। पथङ्ग के गुरु तपागच्छीय धर्मघोषसूरि थे^१, उनके निर्देश पर पथङ्गशाह मांडवदुर्ग आया और यहीं स्थायी रूप से रहने लगा। धर्म-घोषसूरि के निर्देश पर इसने संघ के साथ शत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा की।^२ पथङ्ग का पुत्र ज्ञान्जण भी अपने पिता के समान ही एक विशिष्ट धर्मानुरागी था। इसने भी संघ के साथ शत्रुंजय, गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा की तथा मार्ग में पड़ने वाले तीर्थों यथा-बालापुर, चित्रकूट, अबुर्दगिरि, चन्द्रावती, प्रह्लादनपुर (पालनपुर), अणहिलवाड़, तारङ्गा, कर्णावती आदि की भी यात्रा की।^३

इस सन्दर्भ में इस युग के प्रसिद्ध जैनाचार्यों का भी उल्लेख आवश्यक है। जगचन्द्रसूरि तपागच्छ के प्रथम आचार्य थे उनके विजयचंद्र और देवचन्द्र नामक दो प्रमुख शिष्य थे^४। विजयचन्द्र पहले वस्तुपाल के लिपिक थे और उन्हीं के प्रयास से इन्हें आचार्य पद प्राप्त हुआ।^५ देवचन्द्र और विजयचन्द्र में कुछ सैद्धान्तिक मतभेद था। विजयचन्द्र लगातार कई वर्षों तक खंभात में रहे, उनके अनुयायी बड़े-बड़े उपा-

१. गांधी, लालचंद भगवान—पूर्वोक्त, पृ० ४५६-५७

२. वही,

विस्तार के लिये द्रष्टव्य—मुनिमुन्दरसूरिविरचित गुर्वावली [यशो-विजयजैनग्रन्थमाला, काशी, वीरसंवत् २४३७]

एवं

दलाल, चिमनलाल डाह्याभाई—संपा० प्राचीनगूर्जरकाव्यसंग्रह, परि-शिष्ट—‘पथङ्गरास’ पृ० १५४-१५९

३. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—

तपागच्छीय नंदिरत्नसूरि के शिष्य रत्नमंडनगणि कृत—

[अ] उपदेशतरंगिणी [यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क २०, वाराणसी, वीर संवत् २४३७]

[ब] सुकृतसागरकाव्य [जैन आत्मानंद ग्रन्थमाला, ग्रन्थाङ्क ४०, भाव-नगर, विक्रम संवत् १९७१]

४. ‘तपागच्छाट्टावली’ (धर्मसागर)

त्रिपुटी महाराज—संपा०-पट्टावलीसमुच्चय, भाग-१, पृ० ५७ और आशे

५. वही, पृ० ५८

श्रियों (मठों) में रहते थे ।^१ देवचन्द्र के अनुयायी भ्रमणशील थे और वे छोटे-छोटे उपाश्रयों में रहते थे । देवचन्द्र एक विद्वान् जैनाचार्य थे, उन्होंने ५ नये कर्मग्रन्थों, उनकी टीकाओं एवं सुदर्शनचरित श्रावकदिनकृत्य, धर्मरत्नटीका आदि की रचना की ।^२

वि० सं० १३०२/ई० सन् १२४६ में सुधर्मागच्छीय सर्वानन्दसूरि ने चन्द्रप्रभवचरित^३, वि० सं० १३४० / ई०सन् १२४८ में देवभद्रसूरि के शिष्य परमानन्दसूरि ने हितोपदेशमालावृत्ति,^४ वि० सं० १३०५/ ई० सन् १२४९ में यशोदेव ने प्राकृत भाषा में धर्मोपदेशमाला^५ की रचना की । वि० सं० १३०७ ई०सन् १२५१ में वीरप्रभसूरि के शिष्य अजितप्रभसूरि ने शान्तिनाथाचरित की रचना की ।^६ वि० सं० १३०७/ई०सन् १२५१ में ही खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य पूर्णकलश ने प्राकृतद्वयाश्रय पर टीका लिखी ।^७ वि० सं० १३११ । ई० सन् १२५५ में खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य लक्ष्मीतिलक ने प्रत्येकबुद्ध नामक ग्रन्थ रचा ।^८ वि० सं० १३१२ / ई०सन् १२५६ में लक्ष्मीतिलक के शिष्य अभयतिलक ने हेमसूरि द्वारा रचित संस्कृत-द्वयाश्रय पर टीका लिखी ।^९ वि० सं० १३१२ / ई० सं० १२५६ में

१. त्रिपुटी महाराज—पूर्वोक्त, भाग, १ पृ० ५८

२. वही. पृ० ५९

३. जिनरत्नकोश, पृ० ११९

४. वही, पृ० ४६१

५. वही, पृ० १९६-१७

६. वही, पृ० ३७९

७. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द—पूर्वोक्त, पृ० ४१०

८. श्रीमत्सूरिजिनेश्वरप्रभृतिभिः साहित्यसिधोः पिवैः,
श्रीद्विव्याकरणः (?) सुधीभिरमलीचक्रे प्रयत्नाच्च तत् ।

प्रेक्षावत्प्रवरैः परैश्च विमलीकार्यं विचार्याऽऽदराद्,

सद्राग्नौदु १३११ शरत्तपस्यविमलैकादश्यहेऽपूरि च ॥३३॥

मूनि श्रीपुण्यत्रिजय संपा०—कैटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत

मैन्युस्क्रिप्ट्स—जैसलमेरकलेक्शन [अहमदाबाद—१९७२ ई०]
पृ० ११७-१२०

९. वही, पृ० १४०-४१

ही खरतरगच्छीय जिनेश्वरसूरि के शिष्य चन्द्रतिलकसूरि ने अभय-कुमारचरित की रचना की।^१ तपगच्छीय देवेन्द्रसूरि के शिष्य विद्या-नन्दसूरि ने विद्यानन्द नामक एक व्याकरण ग्रन्थ की रचना की। वि० सं० १३०२ में मुनि दीक्षा लेने से पूर्व इनका नाम वीरधवल था। इनके पिता का नाम जिनचन्द्र था, जो उज्जैन के निवासी थे।^२ वि० सं० १३२० / ई० सन् १२६४ में जिनेश्वरसूरि के शिष्य प्रबोध-चन्द्रगणि ने सन्दिहदोहावली पर टीका की रचना की।^३ वि० सं० १३२२ / ई० सन् १२६६ में जिनेश्वरसूरि के ही एक अन्य शिष्य धर्मतिलक ने अजितशान्तिलघुस्तव टीका की रचना की।^४ वि० सं० १३२२ में ही वडगच्छीय मदनचन्द्रसूरि के शिष्य मुनिदेवसूरि ने संस्कृत भाषा में ४८५५ श्लोक-प्रमाण शांतिनाथचरित की रचना की।^५ इन्होंने जयचन्द्रसूरि द्वारा लिखित धर्मोपदेशमाला पर वृत्ति की रचना की।^६ उपरोक्त जैन ग्रन्थकारों के अलावा सिंहतिलकसूरि, नर-चन्द्रसूरि, प्रद्युम्नसूरि, विनयचन्द्रसूरि, सोमचन्द्रसूरि, तपगच्छीय धर्म-घोषसूरि, सोमप्रभसूरि, क्षेमकीतिसूरि, राजगच्छीयप्रभाचन्द्रसूरि, मल्लिसेनसूरि आदि इस युग के प्रमुख जैनाचार्य थे।^७

यद्यपि वि० सं० १३५४ / ई० सन् १२९७ से गुर्जर देश मुस्लिम शासन के अन्तर्गत आ गया, फिर भी जैन समुदाय ने नये शासकों से सौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करते हुए अपनी सामाजिक और धार्मिक गतिविधियों को पूर्ववत् जारी रखा। वि० सं० १३६६ में स्तंभतीर्थ

१. मुनि श्री पुण्य विजय, पूर्वोक्त, पृ० १२१

२. देमाई, मोहनलाल दलीचन्द—पूर्वोक्त पृ० ४११

३. वही, पृ० ४११

४. वही, पृ० ४१२

५. शांतिनाथचरित्र की प्रशस्ति, श्लोक ११

६. जिनरत्नकोश, पृ० १९६

७. बेलानी, फतेचन्द—जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, (वाराणसी १९५० ई०) पृ० ३१ और आगे

(खम्भात) में जेसलशाह ने अजितनाथ जिनालय का निर्माण कराया ।^१ वि० सं० १३७१ में उसने शत्रुञ्जयतीर्थ स्थित जिनालयों को जो मुस्लिम आक्रमणकारियों द्वारा नष्टप्राय कर दिया गया था, पुनर्निर्मित कराया ।^२

समराशाह ने अनेक तीर्थों पर जिनालयों का निर्माण कराया तथा संघ के साथ कई बार तीर्थ यात्रा भी की । कक्कसूरि द्वारा वि० सं० १३९३ / ई० सन् १३३८ में रचित नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबंध में समराशाह के सुकृत्यों का विस्तृत विवरण प्राप्त होता है ।^३ आबू के जगत्प्रसिद्ध विमलवसही और लूणवसही जिसे मुसलमानों ने क्षतिग्रस्त कर दिया था, वि० सं० १३७८ / ई० सन् १३२१ में धर्मघोषगच्छीय आचार्य ज्ञानचन्द्रसूरि के उपदेश से पुनर्निर्मित कराया गया ।^४

१. अहं संवत् १३६६ वर्षे प्रतापाक्रान्तभूतलश्रीअलावदीनसुरत्राणप्रतिशरीर-श्रीअल्पखानविजयराज्ये श्रीस्तंभतीर्थे
.....सकलसाधमिकवत्सलेन साहेजेसलसुश्रावकेण कोदडिकास्थापनपूर्व श्रीश्रावकपोषधशालासहितः सकलविधिलक्ष्मीविलासालयः श्रीअजित-स्वामिदेवविधिचैत्यालयः कारित आचन्द्रार्कं यावन्नंदतात् ॥

अलाखान के राज्यकाल में निर्मित स्तम्भनपाश्वर्नथ जिनालय का शिलालेख

दलाल, चिमनलाल डाह्याभाई, संपा० प्राचीनगूर्जरकाव्यसंग्रह (द्वितीय संस्करण, बडोदरा—१९७० ई०), परिशिष्ट viii, पृ० १५२

२. द्रष्टव्य—इसी ग्रन्थ के अन्तर्गत शत्रुञ्जयकल्प

३. संपा० पं० भगवानदास हरखचन्द्र (अहमदाबाद, वि० सं० १९९५).

४. श्रीज्ञानचंद्र इति नंदतु सूरिराजः

पुण्योपदेशविधिबोधितस(*)त्समाजः ॥४१॥

८ ७ ३ १
वसु-मुनि—तु (गु) ण—शसि शि। वर्ष (षे)
ज्येष्ठे (ष्टेऽ) सितिनर (व) मिसोमयुतदिवसे ।

श्रीज्ञानचंद्रगुरुणा

प्रतिष्टि(ष्ठि)तोऽर्बुदगिरो ऋषभः ॥४२॥

मुनि जयन्तविजय—संपा० अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, लेखांक ९

इस युग में भी अनेक प्रसिद्ध जैन ग्रन्थकार हुए हैं। वि० सं० १३६१/ई० सन् १३०४-५ में नागेन्द्रगच्छीय मेरुतुङ्गसूरि ने प्रबन्ध-चिन्तामणि की रचना की।^१ वि० सं० १३७२/ई० सन् १३१५-१६ में ठक्करफेरु ने वास्तुसार नामक ग्रन्थ लिखा।^२ इसी वर्ष पूर्णिमा-गच्छीय रत्नप्रभाचार्य के शिष्य कमलप्रभ ने पुण्डरीकचरित की रचना की।^३ तपागच्छीय सोमप्रभसूरि के शिष्य सोमतिलक ने क्षेत्रसमाप्त, विचारसूत्र और सप्ततिस्थानक आदि ग्रन्थों की रचना की।^४ सप्त-तिस्थानक वि० सं० १३८७ / ई० सन् १३३० में रचा गया।^५ वि० सं० १३८२ / ई० सन् १३२४-२५ में मलधारगच्छीय राजशेखर के शिष्य सुधातिलक ने संगीतोपनिषद्^६ और एकाक्षरनाममाला^७ की रचना की।

१. नृपश्रीविक्रमकालातीतसंवत् १३६१ वर्षे फाल्गुनसुदि १५ रवावचेह श्रीव-
र्धमानपुरे चिन्तामणिग्रन्थः समाप्तः ॥

प्रबन्धचिन्तामणि की प्रशस्ति

२. दलाल, चिमनलाल डाह्याभाई—ए डिस्ट्रिक्टिव कैटलॉग ऑफ मैन्यु-
स्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडार्स ऐट पाटन, जिल्द १, इन्ट्रोडक्शन, पृ० ६१

३. द्रष्टव्य, पुण्डरीकचरित की प्रशस्ति

४. त्रिपुटी महाराज—संपा० पट्टावलीसमुच्चय, भाग १, पृ० ६२-६३

५. तेरहसयसगसीए, लिह्मिणं सोमतिलयसूरीहि ॥

अब्धत्थणाएहेम-स्स संघवइरयणतणयस्स ॥३५८॥

त्रयोदशशतसप्ताशीतितमे, लिखितमिदंसोमतिलकसूरिभिः ॥

सप्ततिशतस्थानप्रकरण बुद्धिसागरसूरिजैनज्ञानमंदिर, बीजपुर से वि० सं० १९९० में प्रकाशित है।

६. तत्पट्टाद्विरविशिचरं विजयतां सन्मार्गसन्दर्शकः

सूरीन्द्रः किल राजशेखरगुरुर्वादीभपञ्चानतः ।

शिष्यस्तस्य पुनः सुधाकलश इत्याख्यां दधानो व्यधात्
संगीतोपनिषत्सुसारमखिलं विज्ञानिसौख्याय यत् ॥१५१॥

संगीतोपनिषद्ग्रन्थं खाष्टाग्रिशवत्सरे ।

ऋतुशून्ययुगेन्द्रवे तत्सारं चापि निर्ममे ॥१५२॥

उमाकान्त पी० शाह—संपा० संगीतोपनिषत्सारोद्धार (बड़ोदरा, १९६१ ई०) की प्रशस्ति ।

७. जिनरत्नकोश, पृ० ६१

वि० सं० १३८३ / ई० सन् १३२४-२५ में ही जिनकुशलसूरि ने जिनदत्तसूरि द्वारा रचित चैत्यवंदनकुलक पर वृत्ति की रचना की।^१ वि० सं० १३८९ / ई० सन् १३३२ में रुद्रपल्लीयगच्छ के संघतिलक-सूरि के शिष्य सोमतिलक अपरनाम विद्यातिलक ने वीरकल्प और षट्दर्शनसूत्रटीका,^२ वि० सं० १३९४ / ई० सन् १३३७ में शील-तरंगिणोवृत्ति^३ और वि० सं० १३९७ / ई० सन् १३४० में लघु-स्तवकटीका^४ की रचना की।

उपर्युक्त साक्ष्यों—राजाओं द्वारा जैन मुनियों को संरक्षण, जैनाचार्यों की साहित्यिक गतिविधियां, जिनालयों के निर्माण और जीर्णोद्धार, तीर्थयात्राओं के विभिन्न संदर्भ आदि से यह भली-भांति सिद्ध है कि चापोटकट, सोलंकी और बाघेलवंशीय राजाओं के राज्यकाल में जैन धर्म पश्चिमी भारत में अत्यन्त लोकप्रिय और निरन्तर विकासोन्मुख रहा। मुस्लिम शासन स्थापित हो जाने पर भी जैन मतावलम्बियों की प्रत्येक धार्मिक गतिविधियां पूर्ववत् जारी रहीं। अत्यन्त समृद्ध जैन धर्म का यही चित्र जिनप्रभसूरि और उनके कल्पप्रदीप की पृष्ठभूमि है। बाद के युगों में भी प्रायः यही स्थिति रही और इसी का परिणाम है कि जैन धर्म आज भी गुजरात-कठियावाड़ में देश के अन्य भागों की अपेक्षा अधिक समुन्नत दशा में विद्यमान है।

१. जिनरत्न कोश, पृ० १२४

२. वही, पृ० ४०२-४०३

३. वही, पृ० ३८५

४. देसाई, मोहनलाल दलीचंद, पूर्वोक्त, पृ० ४३२

तीर्थों का विभाजन

इस अध्याय के अन्तर्गत सर्वप्रथम तीर्थ शब्द के अर्थ तत्पश्चात् कल्पप्रदीप के तीर्थों का परम्परागत एवं प्रदेशानुसार विभाजन प्रस्तुत किया गया है।

तीर्थ शब्द का अर्थ

भारत वर्ष की धार्मिक संस्कृति में तीर्थ शब्द का अत्यधिक महत्त्व है। वैयाकरणों ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'तृ' धातु के साथ 'थक्' प्रत्यय लगाकर की है, अर्थात् जिसके माध्यम से तिरा जाये, या पार किया जाये, वह तीर्थ है। ऋग्वेद तथा अन्य वैदिक संहिताओं में तीर्थ शब्द का प्रयोग मार्ग अथवा सड़क के अर्थ में आया है। कुछ स्थानों पर इसका तात्पर्य है नदी का छिछला भाग, जहाँ उसे आसानी से पार किया जा सके।¹ ऋग्वेद में ही एक अन्य स्थल पर तीर्थ शब्द 'एक पवित्र स्थान' के अर्थ में आया है।² आर्यों में अग्निपूजा, सूर्यपूजा आदि प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। इन कृत्यों को करने से पहले स्नान आवश्यक समझा जाता था। नदी का वह स्थान जहाँ स्नान किया जाता रहा, पवित्र माने जाने लगे। इसी प्रकार पूजा के स्थान भी पवित्र माने जाते थे।³ अथर्ववेद में भी जल को शुद्ध और पवित्र करने वाला माना गया है। नदी तथा जलीयस्थानों के अलावा प्राकृतिक रमणीय स्थल एवं मुनियों के रहने तथा तपस्थल भी पवित्र माने गये। ऋग्वेद में तो पर्वतों की घाटियों एवं नदियों

१. काणे, पी०वी०— हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) तृतीय भाग, पृ० १२००।

२. वही, पृ० १२००।

३. वही, पृ० १२०१।

के संगम भी पवित्र माने गये हैं।^१ चूँकि भारतीय संस्कृति में आर्य, द्रविण, निषाद, किरात आदि संस्कृतियों का सम्मिश्रण है और इस सम्मिश्रण का सबसे ज्यादा प्रभाव धार्मिक क्षेत्र में देखा जा सकता है।^२ इस क्षेत्र में तो आदान-प्रदान की बहुलता के कारण किसी एक देवता का मूल रूप क्या था? अथवा वह किस संस्कृति से प्राचीन काल में सम्बन्धित रहा, यह सदा निश्चय से कह पाना कठिन है। इस विषय में जो शोध कार्य हुए हैं, उनसे रोचक निष्कर्ष सामने आये हैं। भारतीय लोक में प्रचलित वीरब्रह्म, जिसकी पूजा आज सम्पूर्ण भारत-वर्ष में किसी न किसी रूप में प्रचलित है, प्राचीन काल में प्रचलित यक्ष पूजा की ही प्रतिनिधि है।^३ प्राचीन भारतीय साहित्य, कला और धर्म इन तीनों क्षेत्रों में यक्षविषयक मान्यता का प्रभाव रहा। यक्ष पूजा का प्रभाव ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन तीनों धर्मों पर पड़ा।^४ लोक धर्म अत्यन्त प्राचीन माना जाता है। लोक में प्रतिवर्ष समय-समय पर देवी-देवताओं के मेले लगते थे और ये किसी न किसी रूप में आज भी प्रचलित हैं। प्रत्येक जनपद या प्रदेश में मुख्य-मुख्य मेलों की छान-बीन करने से ज्ञात होता है कि इनके पीछे देवी-देवता की पूजा ही मुख्य कारण है। प्राचीन काल में ये मेले अथवा उत्सव 'मह' कहे जाते थे। उच्चवर्गीय लोगों के जीवन में जो स्थान वैदिक यज्ञों का था, वही स्थान लोकजीवन में 'मह' नामक उत्सवों का था।^५ तीर्थों की कल्पना के विकास में लोक धर्म के इन परम्पराओं ने भी अवश्य ही योगदान किया होगा।

वैदिक धर्म और लोक धर्म में मेल-जोल की प्रक्रिया वैदिक युग से ही आरम्भ हो चुकी थी।^६ वैदिक साहित्य में इस बात के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिये अथर्ववेद के एक सूक्त में बड़ी

-
१. काणे, पी० वी०—पूर्वोक्त, तृतीय भाग, पृ० १३०४।
 २. अग्रवाल, वासुदेवशरण—प्राचीनभारतीयलोकधर्म, पृ० २।
 ३. वही, पृ० ३।
 ४. वही
 ५. वही, पृ० ४।
 ६. वही, पृ० ३।

स्वाभाविक रीति से वैदिक देवताओं के साथ अन्य लोक देवताओं का अनौपचारिक उल्लेख पाया जाता है। इस सूची में जहां अग्नि, इन्द्र, बृहस्पति, वरुण, विष्णु आदि वैदिक देवता हैं वहीं दूसरी ओर यक्ष, राक्षस, भूत, सर्प आदि उस कोटि के भी देवता हैं जिनका आदिम-जातियों से सम्बन्ध था।^१ भूमि, पर्वत, नदी, समुद्र और नक्षत्र ये भूमि सम्बन्धी देवता थे, जिनकी परम्परायें लोक और साहित्य में प्राप्त होती हैं। महाभारत, गीता और पुराणों आदि में देवी-देवताओं की विस्तृत सूची प्राप्त होती है जिनमें लोक में प्रचलित देवी देवताओं की भी गणना है।^२

सूत्रों एवं मनु तथा याज्ञवल्क्य आदि प्राचीन स्मृतियों में तीर्थों को कोई महत्त्व नहीं दिया गया है अपितु यज्ञों की महिमा बतलाई गयी है। इसके विपरीत महाभारत एवं पुराणों में तीर्थ यात्रा के महत्त्व को बतलाते हुए उन्हें यज्ञों की तुलना में श्रेष्ठ बतलाया गया है।^३ महाभारत में तीर्थों के नाम एवं उनकी यात्रा पर जाने का भी वर्णन मिलता है।^४ मत्स्य, नारदीय, पद्म, वाराह आदि पुराणों में तो तीर्थों के माहात्म्य के साथ-साथ उनकी संख्या भी गिनाई गयी है। मत्स्य-पुराण के अनुसार ३५ कोटि तीर्थ हैं, जो आकाश एवं भूमि पर स्थित हैं। ब्रह्मपुराण के अनुसार तीर्थों एवं पुनीत स्थलों की संख्या इतनी बड़ी है कि उन्हें सैकड़ों वर्षों में भी नहीं गिना जा सकता। समय-समय पर नये-नये तीर्थों को पुराणों में शामिल कर लिया गया और तीर्थपुरोहितों ने धन लाभ की कामना से प्रेरित होकर संदिग्ध प्रमाणों से युक्त बहुत से माहात्म्यों को रच कर इन्हें महाभारत के प्रसिद्ध रचयिता व्यास से सम्बन्धित बतलाया।^५ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि ब्राह्मणीय परम्परा में वैदिक युग के प्रारम्भ से ही पवित्र स्थानों का तीर्थों के रूप में उदय हुआ और उनका पूर्ण विकसित स्वरूप हमें महाभारत तथा पुराणों में दिखाई देता है।

१. अग्रवाल, वासुदेवशरण, पूर्वोक्त, पृ० ४।

२. वही, पृ० ५-१९।

३. काणे, पी० वी०—पूर्वोक्त—पृ० १३०६।

४. वही, पृ० १३०६।

५. वही, पृ० १९।

बौद्ध परम्परा में भी अति प्राचीन काल से ही तीर्थयात्रा को बड़ा महत्त्व दिया गया है। महापरिनिर्वाणसूत्र^१ के अनुसार भगवान् बुद्ध के जन्म, ज्ञानप्राप्ति, धर्मचक्रप्रवर्तन और निर्वाण इन चार घटनाओं से सम्बन्धित स्थानों को पवित्र माना गया है और इनकी यात्रा करने का निर्देश दिया गया है। इन स्थानों की श्रद्धालु बौद्धों द्वारा यात्रा करने का भी उल्लेख मिलता है। अशोक ने इन स्थानों की यात्रा की और वहां स्तूप भी बनवाये। बुद्ध के जन्मस्थान लुम्बिनी में तो उसने भूमिकर भी माफ कर दिया था, यह बात वहां से प्राप्त स्तम्भ लेख से ज्ञात होती है। चीनी यात्रियों—फाहियान, ह्वेनसांग, इत्सिन आदि तो बौद्ध तीर्थों की यात्रा हेतु ही यहां आये थे। उनके विवरणों से बौद्ध केन्द्रों की तत्कालीन स्थिति पर प्रकाश पड़ता है। आज भी श्रद्धालु बौद्ध उक्त तीर्थों की यात्रा करते हैं। यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध धर्म से सम्बन्धित प्रत्येक तीर्थ स्थानों की भौगोलिक स्थिति के सम्बन्ध में प्रायः कोई विवाद नहीं है, इससे भी यह स्पष्ट है कि बौद्धों में तीर्थ यात्रा की दीर्घकालीन और पुष्ट परम्परा थी।

ब्राह्मणीय और बौद्ध परम्परा की तरह जैन परम्परा में भी तीर्थों का बड़ा महत्त्व है। जिस प्रकार बौद्ध परम्परा में भगवान् बुद्ध से सम्बन्धित ४ स्थानों को पवित्र माना गया है, उसी प्रकार जैनों में भी तीर्थकरों के जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण आदि से सम्बन्धित स्थानों को पवित्र माना गया है। आगम ग्रन्थों में तो इन स्थानों की कोई चर्चा नहीं मिलती, परन्तु आगमिक व्याख्याओं—निर्युक्ति, चूर्णी, भाष्य, वृत्ति एवं टीका आदि में इस सम्बन्ध में विस्तार से चर्चायें हैं। इनमें निर्युक्तियां सबसे प्राचीन और भद्रबाहु द्वारा रचित मानी जाती हैं।^२ आधुनिक विद्वानों ने इस भद्रबाहु को श्रुतकेवली भद्रबाहु से भिन्न बतलाते हुए इन्हें प्रसिद्ध ज्योतिषी वाराहमिहिर का सहोदर बतलाया है तथा इनका समय विक्रम सम्वत्

१. राहुल सांकृत्यायन—बुद्धचर्या, महापरिनिब्बानसुत्त) पृ० ५००
(सारनाथ, बनारस, १९५२ ई०)
२. मेहता, मोहनलाल—जैनसाहित्यकाबृहद्इतिहास, भाग ३,
प्रस्तावना, पृ० ९

की छठीं शती निर्धारित किया है।^१ भद्रबाहु 'द्वितीय' से पूर्व भी नियुक्तियां लिखी गयी थीं, परन्तु वे आज उपलब्ध नहीं हैं, केवल कुछ ग्रन्थों में उनका उल्लेख प्राप्त होता है।^२ दिगम्बर आम्नाय (?) के ग्रन्थ मूलाचार में भी आवश्यकनियुक्तिगत कई गाथायें हैं, इससे भी स्पष्ट होता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर सम्प्रदाय का स्पष्ट भेद होने के पूर्व भी नियुक्ति की परम्परा थी।^३ इस प्रकार यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि जैनागम की व्याख्या का नियुक्ति नामक प्रकार प्राचीन है।^४ चूंकि नियुक्तियों में ही सर्वप्रथम हमें तीर्थविषयक मान्यता का परिचय मिलता है, अतः यह मानना अनुचित न होगा कि ई० सन् की पूर्व या प्रारम्भ की शताब्दियों में ही जैनों में तीर्थ सम्बन्धी मान्यता का जन्म हो चुका था।

आचाराङ्गनियुक्ति में कहा गया है—

जम्माभिसेय-निक्खमण चरण-नाणुप्पया य निव्वाणं।

दियलोअभवण-मंदर-नंदीसर-भोमनगरेसु ॥३३१॥

अट्ठावय-उज्जिते, गयगपए य धम्मचक्के य।

पाअरहावत्तनगं, चमरुप्पायं च वंदामि ॥३३२॥

अर्थात् जन्मकल्याणकस्थान, जन्माभिषेकस्थान, दीक्षास्थान, श्रमणावस्था की विहारभूमि, देवलोक, असुर आदि के भवन, मेरु-पर्वत, नन्दीश्वर के चैत्यों और व्यन्तर देवों के भूमिस्थ नगरों में रही हुई जिन प्रतिमाओं को अष्टापद तथा उज्जयन्त गजाग्रपद, धर्मचक्र, अहिच्छत्रा स्थित पार्श्वनाथ, रथावर्त पर्वत, चमरोत्पात आदि इन नामों से प्रसिद्ध जैन तीर्थों में स्थित जिन प्रतिमाओं को मैं वन्दन करता हूँ।

निशीथचूर्णी में भी कहा गया है कि—

तित्थकराण य तिलोगपूइयाण जम्मण णिक्खमण-विहार-केवल्लु-
प्पाद-निव्वाणभूमीओ य पेच्छंतो दंसणसुद्धि काहिसि, ...।

.....निशीथचूर्णी, खंड ३, पृ० २४।

१. मेहता, मोहनलाल—पूर्वोक्त, भाग-३, प्रस्तावना, पृ० ६९।

२. वही, पृ० ६८, पादटिप्पणी।

३. वही।

४. वही।

अर्थात् तीर्थंङ्करो के जन्म, अभिनिष्क्रमण, विहारभूमि, केवल-ज्ञान और निर्वाण आदि से सम्बन्धित स्थानों की यात्रा से दर्शनशुद्धि होती है। यहां दर्शनशुद्धि का तात्पर्य तीर्थयात्रा से प्राप्त पुण्य ही है।

उपरोक्त संदर्भों से स्पष्ट है कि कल्याणक क्षेत्रों के अलावा कुछ ऐसे भी स्थान थे, जो किसी मंदिर या प्रतिमा विशेष के कारण महत्व-पूर्ण माने जाते थे, जैसे उत्तरापथ में धर्मचक्र, मथुरा में देवनिर्मित स्तूप, कोशल में जीवन्तस्वामी की प्रतिमा आदि।^१ ऐसे स्थानों की यात्रा कर जैनी बोधिलाभ प्राप्त करते थे।^२

कुछ प्राचीन ग्रन्थकारों ने तीर्थ के स्थान पर 'क्षेत्रमंगल' शब्द का प्रयोग किया है। षट्खण्डागम^३ (प्रथम खंड, पृ० २८) में क्षेत्र-मंगल के सम्बन्ध में इस प्रकार विवरण दिया गया है—

तत्र क्षेत्रमंगलं गुणपरिणतासन-परिनिष्क्रमण-केवलज्ञानोत्पत्तिपरि-निर्वाणक्षेत्रादिः । तस्योदाहरणम्—उर्जयन्त-चम्पापावानगरादिः ।

यही बात तिलोयपण्णत्ती^४ (यतिवृषभ-ई० सन् ६ठीं शती) में भी कही गयी है—

१. उत्तरावहे धम्मचक्रं, मथुराए देवणिम्मिय थूभो, कोसलाए व जियंत-पडिमा तित्थकराण वा जम्मभूमिओ.....।

निशीथचूर्णी, खंड ३, पृ० ७९

२. तित्थकराण य तिलोगपूइयाण जम्मण-णिवक्खमण-विहार-केवलप्पाद-निव्वाणभूमिओ य पेच्छंतो दंसणसुद्धि काहिसि, तथा अण्णोण्णसाहु-समागमेण य सामायारिकुसलो भविस्ससि, सव्वापुब्बे य चेइए वंदंतो बोहिलाभं निज्जित्तेहिसि।

निशीथचूर्णी, खंड ३, पृ० २४

३. षट्खंडागम, संपा० डा० हीरालाल जैन; प्रथम खंड, (अमरावती, ई० सन् १९३९)

४. तिलोयपण्णत्ती—भाग १-२; संपा० ए० एन० उपाध्ये, हीरालाल जैन, (श्रीलापुर, ई० सन् १९४३)

गुणपरिणदासणं परिणिक्रमणं केवलस्स णाणस्स ।
 उप्पत्ती इयपहुदी बहुभेयं खेत्तमंगलयं ॥२१॥
 एदस्स उदाहरणं पावाणगरुज्जयंतचंपादी ।
 आउट्टुहत्थपहुदी पणुवीसब्भहियपणसयधणूणि ॥२२॥
 देहअवट्ठिदकेवलणाणावट्टुद्धगयणदेसो वा ।
 सेठिघणमेत्तअप्पप्पदेसगदलोयपूरणापुण्णा ॥२३॥
 विस्साणं लोयाणं होदि पदेसा वि मंगलं खेत्तं ।
 जस्सि काले केवलणाणादिमंगलं परिणमति ॥२४॥

तिलोयपण्णत्ती १|२१-२४

गोम्मटसार^१ (आचार्य नेमिचन्द्र ई० सन् ११ वीं १२ शती) में कहा गया है—

क्षेत्रमंगलमूर्जयन्तादिकमर्हदादीनाम् ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि तीर्थ शब्द के आशय में ही क्षेत्रमंगल शब्द का प्रयोग किया गया है। धीरे-धीरे तीर्थङ्करों के विहारस्थल, पुरातन मुनियों के सिद्धत्वप्राप्ति-स्थल, किसी सातिशय जिनप्रतिमा के चमत्कार के कारण प्रसिद्ध स्थल आदि की भी तीर्थ-रूप में गणना होने लगी और इसीलिये ये स्थान प्रसिद्ध हुए। यह बात श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों में समान रूप से लागू होती है, परन्तु व्यवहार में केवल दिगम्बरों ने ही इस विभाजन को स्वीकार किया है,^२ श्वेताम्बरों ने नहीं। २२ वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ को छोड़कर अन्य सभी तीर्थङ्करों के प्रायः सभी कल्याणक वर्तमान उत्तरप्रदेश और बिहार प्रान्त में ही सम्पन्न हुए हैं, अतः यहां के अधिकांश तीर्थ इसी कोटि में आते हैं। इसके अलावा देश के अन्य भागों में स्थित जैन तीर्थ प्रायः सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र ही हैं।

कल्पप्रदीप में उल्लिखित तीर्थस्थान वर्तमान उत्तरप्रदेश, बिहार, बंगाल, उड़ीसा, मध्यप्रदेश, राजस्थान, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक,

१ जैन, बलभद्र—भारतकेदिगम्बरजैनतीर्थ, प्राक्कथन,

पृ० १० से उद्धृत

२. प्रेमी, नाथूराम—जैनसाहित्यऔरइतिहास, पृ० १८६।

आन्ध्रप्रदेश एवं केरल आदि प्रांतों में अवस्थित हैं। ग्रन्थकार ने तीर्थों का कोई भी वर्गीकरण नहीं किया है। न तो उन्होंने तीर्थों का कल्याणकक्षेत्र, सिद्धक्षेत्र और अतिशयक्षेत्र आदि में विभाजन किया है और न ही उनको भौगोलिक स्थिति के अनुसार ही रखा है। चूंकि ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित तीर्थ प्रायः सम्पूर्ण भारतवर्ष में हैं और कुछ तीर्थों को वे स्वयं उनकी भौगोलिक स्थिति, यथा-अमुक तीर्थ पूर्व देश में स्थित है, अमुक पश्चिम देश में, अमुक दक्षिण देश में है; आदि बतलाते हैं, अतः सुविधा के लिये उन्हें निम्नलिखित विभागों में बांटते हुए वर्णक्रमानुसार उनका अध्ययन प्रस्तुत किया गया है—

१—उत्तर भारत—	उत्तरप्रदेश
२—पूर्व भारत—	बिहार, बंगाल और उड़ीसा
३—मध्य भारत—	मध्यप्रदेश
४—पश्चिम भारत—	राजस्थान और गुजरात
५—दक्षिणापथ एवं दक्षिण भारत—	महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक और केरल

१—उत्तर भारत—

इस विभाग के अन्तर्गत वर्तमान उत्तरप्रदेश में स्थित तीर्थों का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इनकी दर्णक्रमानुसार सूची इस प्रकार है—

- १—अयोध्या
- २—अहिच्छत्रा
- ३—काम्पिल्य
- ४—कौशाम्बी
- ५—चन्द्रावती
- ६—प्रयाग
- ७—मथुरा
- ८—रत्नवाहपुर
- ९—वाराणसी
- १०—विन्ध्याचल

- ११—शौरीपुर
 १२—श्रावस्ती
 १३—हस्तिनापुर

इनमें से चन्द्रावती, प्रयाग, विन्ध्याचल और शौरीपुर का चतुर-शीतिमहातीर्थानामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है तथा शेष तीर्थों का स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग वर्णन है।

२—पूर्व भारत—

इस विभाग के अन्तर्गत वर्तमान बिहार, बंगाल और उड़ीसा में स्थित जैन तीर्थों को रखा गया है जिनकी प्रदेशानुसार सूची इस प्रकार है—

बिहार	बंगाल	उड़ीसा
१—कुण्डग्राम	१—कोटिवर्ष	१—कलिङ्गदेश
२—कोटिशिला	२—पुण्ड्रवर्धन	२—माहेन्द्रपर्वत
३—चम्पापुरी		
४—पाटलिपुत्र		
५—मिथिला		
६—वैभारगिरि		
७—सम्मत्तशिखर		

इनमें से कोटिशिला, चम्पापुरी, पाटलिपुत्र, मिथिला और वैभारगिरि पर स्वतन्त्र रूप से अलग-अलग विवरण हैं तथा शेष तीर्थों का चतुरशीतिमहातीर्थानामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है।

३—मध्य भारत—

इस विभाग के अन्तर्गत वर्तमान मध्यप्रदेश में स्थित जैन तीर्थों का वर्णन किया गया है जिनकी वर्णक्रमानुसार सूची इस प्रकार है—

- १—अवन्तिदेशस्थअभिनन्दनदेवकल्प
 २—ओंकारेश्वर
 ३—कुडुगेश्वर
 ४—चन्देरी

- ५—दशपुर
- ६—ढींपुरी
- ७—विदिशा

इनमें से ओंकारेश्वर, चन्देरी, दशपुर और विदिशा का चतुर-शीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है तथा शेष तीर्थों का स्वतन्त्र रूप से वर्णन है।

४—पश्चिम भारत—

इस विभाग के अन्तर्गत राजस्थान और गुजरात के तीर्थों को सम्मिलित किया गया है जो इस प्रकार हैं—

अ - राजस्थान

- १—अर्बुदगिरि
- २—उपकेशपुर (ओसिया)
- ३—करहेटक (करेड़ा)
- ४—नन्दिवर्धन (नान्दिया)
- ५—नागहृद (नागदा)
- ६—नाणा (नाना)
- ७—पल्ली (पाली)
- ८—फलवर्धिका (फलोधी)
- ९—मुण्डस्थल (मुंगथला)
- १०—शुद्धदन्ती (सोजत)
- ११—सत्यपुर (सांचौर)

उपरोक्त तीर्थों में से अर्बुदगिरि, फलवर्धिका, शुद्धदन्ती और सत्यपुर का ही स्वतंत्र रूप से वर्णन है, शेष तीर्थों का चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है।

ब—गुजरात-सौराष्ट्र

- १—अजाहरा (अजारी)
- २—अम्बुरिणीग्राम (आमरण)
- ३—अणहिल्लपुर

- ४—अश्वावबोध (भड़ौच)
- ५—उर्ज्जयन्तगिरि (गिरनार)
- ६—काशहद
- ७—कोकावसतिपाश्वनाथ
- ८—खेटक (खेड़ा)
- ९—खङ्गारगढ़ (जूनागढ़)
- १०—तारण (तारङ्गा)
- ११—द्वारका
- १२—नगरमहास्थान (वडनगर)
- १३—पाटलानगर
- १४—प्रभासपाटन
- १५—मोढेरक (मोढेरा)
- १६—रामसैन
- १७—वलभी
- १८—वायड
- १९—शत्रुञ्जय
- २०—शंखेश्वर
- २१—सिंहपुर (सिहोर)
- २२—स्तम्भनक (थामणा)
- २३—स्तम्भतीर्थ (खम्भात)

उपरोक्त तीर्थों में से अणहिलपुर, उर्ज्जयन्त, शत्रुञ्जय, शंखेश्वर और स्तम्भनक पर स्वतंत्र कल्प लिखे गये हैं तथा शेष तीर्थों का चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है।

५—दक्षिणापथ और दक्षिण भारत

जैसा कि पहले कहा जा चुका है इस विभाग के अन्तर्गत महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक और केरल को सम्मिलित किया गया है।

अ- महाराष्ट्र

- १—कोल्हापुर
- २—डाकिनीभीमशंकर
- ३—नासिक्यपुर (नासिक)

४—प्रतिष्ठानपुर (पैठन)

५—श्रीपुर (सिरपुर)

६—सूर्पारक (सोपारा)

इनमें से कोल्हापुर, डाकिनीभीमशंकर और सूर्पारक का चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है, शेष तीर्थों पर स्वतंत्र कल्प लिखे गये हैं।

ब—आन्ध्रप्रदेश

१—आमरकुण्डपद्मावतीदेवी

२—कुल्पाकमाणिक्यदेव

३—श्रीपर्वत (श्रीशैलपर्वत)

इनमें से श्रीपर्वत का चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है, शेष दोनों तीर्थों पर कल्प रूप में विवरण प्राप्त होता है।

स—कर्णाटक

१—किष्किन्धा

२—दक्षिणापथ गोम्मटेश्वरबाहुबली (श्रवणबेलगोला)

३—शंखजिनालय (लक्ष्मेश्वर)

इन तीर्थों का चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उल्लेख है।

द—केरल

जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित तीर्थों में से केवल एक तीर्थ इस प्रदेश में अवस्थित है और वह है मलयगिरि, जिसका चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प में उल्लेख है।

इसके अलावा इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे भी तीर्थों का उल्लेख है जो वर्तमान युग में (राजनैतिक कारणों से) देश की सीमा के बाहर स्थित हैं, यथा—अष्टापद (कैलाश—तिब्बत, चीन); पारस्कर (थरपाकर—सिन्ध, पाकिस्तान); वीतभयपुर (सिन्ध, पाकिस्तान) त्रिकूटगिरि (श्रीलंका); सिंहलद्वीप (श्रीलंका)।

इसी प्रकार कुछ ऐसे तीर्थों की भी चर्चा है जिनकी भौगोलिक स्थिति के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती है, यथा— कुक्कुटेश्वर, क्रींचद्वीप, महानगर, माणिक्यदण्डक, मोक्षतीर्थ, पाताल लंका, सरस्थान, हंसद्वीप आदि। प्रस्तुत ग्रन्थ में केवल उन्हीं तीर्थों का अध्ययन किया गया है, जो आज देश की सीमा के अन्तर्गत स्थित हैं और जिनकी भौगोलिक स्थिति भी प्रायः ज्ञात है।



उत्तर भारत के जैन तीर्थ

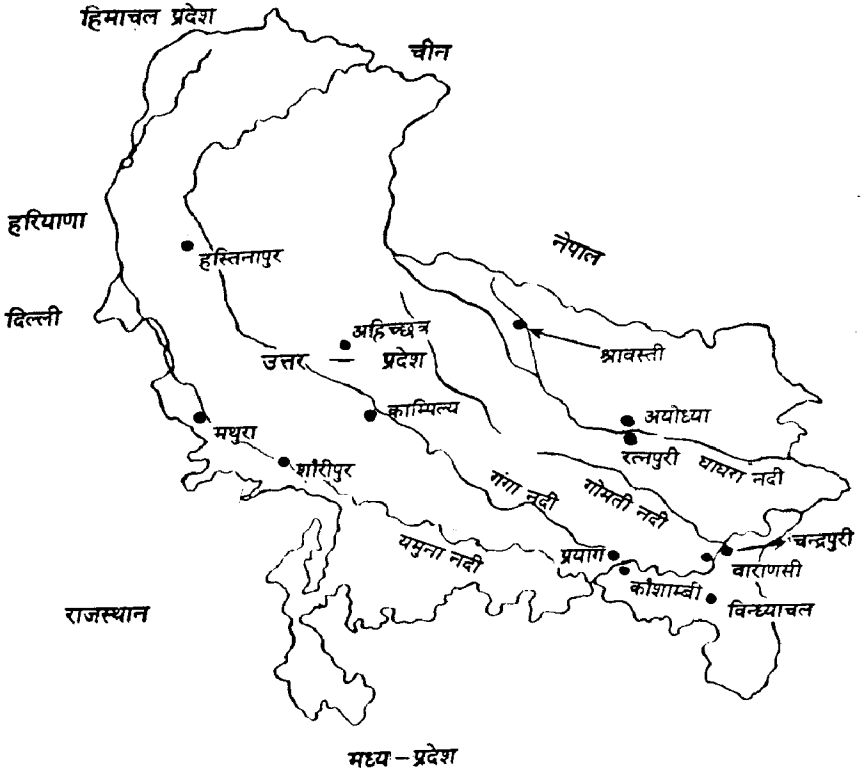
पिछले अध्याय में जहां तीर्थों के विभाजन की चर्चा है, यह स्पष्ट किया गया है कि उत्तर भारत में उन्हीं तीर्थों को रखा गया है जो वर्तमान उत्तरप्रदेश की सीमा में स्थित हैं। अब इन तीर्थों का वर्ण-क्रमानुसार अध्ययन प्रस्तुत है—

- (१) अयोध्या
- (२) अहिच्छत्रा
- (३) काम्पल्य
- (४) कौशाम्बी
- (५) चन्द्रावती
- (६) प्रयाग
- (७) मथुरा
- (८) रत्नवाहपुर
- (९) वाराणसी
- (१०) विन्ध्याचल
- (११) शौरीपुर
- (१२) श्रावस्ती
- (१३) हस्तिनापुर

१. अयोध्यानगरीकल्प

अयोध्या भारतवर्ष की अति प्राचीन नगरियों में से एक है। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इस नगरी के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। जैन परम्परानुसार यहां ७ कुलकरों तथा ऋषभदेव आदि ५ तीर्थङ्करों का जन्म हुआ, इसीलिये इस नगरी को जैन तीर्थ के रूप में मान्यता मिली। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस नगरी का वर्णन किया है जिसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

उत्तर भारत (उत्तर प्रदेश)



“अवज्ज्ञा, अउज्ज्ञा, विनीता, कुशला, साकेत, इक्ष्वाकुभूमि और रामापुरी आदि इस नगरी के विभिन्न नाम समय-समय पर प्रचलित हुए। यहां सात कुलकरोँ एवं ऋषभ, अजित, अभिनन्दन, सुमति और अनन्त इन ५ तीर्थंकरों तथा महावीर स्वामी के नवें गणधर अचल-भ्राता का जन्म हुआ। ऋषभदेव के राज्याभिषेक के समय शक्रेन्द्र ने उन्हें ‘विनीतपुरुष’ कहा, उसी समय से इस नगरी का एक नाम ‘विनीता’ भी प्रचलित हुआ। यह नगरी दक्षिणाह्नं भरत क्षेत्र के पृथ्वी के मध्य १२ योजन लम्बी और ९ योजन चौड़ी परिमाण वाली एवं सरयू नदी के तट पर स्थित है। यहां स्थित आयतन में गोमुख यक्ष तथा चक्रेश्वरी यक्षी की प्रतिमायें विद्यमान हैं। नवाङ्गी वृत्तिकार अभयदेवसूरि की शाखा के देवेन्द्रसूरि अयोध्या से आकाश मार्ग द्वारा ४ बिम्ब (जिन प्रतिमायें) रात्रि के समय सेरिसयपुर ले जाने के लिये चले। ३ बिम्ब तो उन्होंने वहां पहुंचा दिया, परन्तु चौथी ले जाते समय रात्रि बीत गयी तब उसे पास के ‘धारासेणक’ नामक ग्राम में छोड़ दिया। चौलुक्य नरेश कुमारपाल ने उस चौथे बिम्ब को सेरिसयपुर लाकर वहीं स्थापित कर दिया। अयोध्या नगरी में इस समय नाभिराजा का मंदिर-महल, पार्श्वनाथवाटिका, सीताकुंड, सहस्रधारा, मत्तगयंदयक्ष का चैत्य, गोपदराई आदि अनेक लौकिक तीर्थ विद्यमान हैं। यहीं घघरदह सरयू नदी के साथ मिलती है और वह स्थान ‘स्वर्गद्वार’ के नाम से प्रसिद्ध है।”

जैन मान्यतानुसार अयोध्या आदितीर्थ एवं आदिनगर है। जैन साहित्य में इस नगरी के कई नाम मिलते हैं यथा—विनीता, साकेत, इक्ष्वाकुभूमि, कोशल, अवज्ज्ञा, अउज्ज्ञा आदि।^१ ये नाम विभिन्न कारणों से रखे गये प्रतीत होते हैं जैसे आवश्यकनिर्युक्ति^२ के अनुसार यहां के निवासी अत्यन्त विनम्र स्वभाव के थे, अतः इस नगरी का नाम विनीता पड़ा। इसी प्रकार यहां के निवासी अपने-अपने कार्यों में कुशल थे अतः यह नगरी कुशला नाम से प्रसिद्ध हुई।^३ इक्ष्वाकुवंशीय

१. मेहता और चन्द्रा — संपा० प्राकृतप्रापरनेम्स, पृ० ३

२. आवश्यकनिर्युक्ति (दीपिका) पृ० ५६

३. तत्र विनीताया नगर्या दूरस्थिता जना विनीतावास्तव्यान् जनान् कलासु विशारदानुपलभ्यैवमूचुः—अहो कुशला अमी जनाः, ततः

राजाओं की राजधानी होने के कारण इसका नाम इक्ष्वाकुभूमि पड़ा होगा। जिनप्रभसूरि ने इस नगरी के विनीता नाम पड़ने के सम्बन्ध में जो बात कही है, उसका भी उल्लेख आवश्यकनिर्युक्ति^१ में प्राप्त होता है।

बुद्ध और महावीर के समय अयोध्या को साकेत कहा जाता था।^२ जैन साहित्य में इन दोनों को एक नगर बतलाया गया है।^३ कुछ आधुनिक विद्वानों ने बौद्ध साहित्य के आधार पर इन्हें अलग-अलग नगर सिद्ध करने का प्रयास किया है।^४ जैन मान्यतानुसार कुलकरों द्वारा ही सांसारिक नियमों का निर्माण किया गया है। इन कुलकरों की संख्या ७ है उनके नाम हैं—विमलवाहन, चकखुम, जसम, अभिचंद, पसेणीय, मरुदेव और नाभि।^५ जिनप्रभ ने भी यही बात कही है। जैन परम्परानुसार ऋषभ, अजित, अभिनन्दन, सुमति और अनन्त इन

कुशलपुरुषयोगात् विनीता नगरी कुशलेत्युच्यते,.....।

आवश्यकसूत्रवृत्ति—मलयगिरि (बम्बई, १९२८ ई०) पृ० २१४

१. ततः इन्द्र आह साधु विनीताः पुरुषाः,.....।

आवश्यकनिर्युक्ति (दीपिका) पृ० ५६

२. जैन, जगदीश चन्द्र—भारतकेप्राचीनजैनतीर्थ, पृ० ३९

३. वही

४. राइजडेविड्स, टी० डब्ल्यू०—बुद्धिस्टइंडिया (हिन्दीअनुवाद-इलाहाबाद, १९५८ ई०, पृ० ३२)

५. पठमित्थ विमलवाहण, चकखुम जसमं चउत्थमभिचन्दे ।

ततो अ पसेणइए, मरुदेवे चेव नाभी य ।

आश्यकनिर्युक्ति (दीपिका) सूत्र १५५

जैन साहित्य में ही कहीं १० और कहीं १४ कुलकरों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य—

मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० १९३-१९४

जिनेन्द्र वर्णी—जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० १३०

५ तीर्थङ्करों का इस नगरी में जन्म हुआ।^१ ग्रन्थकार ने भी इसी तथ्य का उल्लेख किया है।

अचलभ्राता महावीर स्वामी के ११ गणधरों में से एक थे। उनका जन्म इसी नगरी में हुआ था।^२ इनके पिता का नाम वसु और माता का नाम नन्दा था। इन्हें अच्छे-बुरे कर्मों के अस्तित्व में विश्वास न था। महावीर स्वामी ने इनके भ्रम को दूर किया जिससे प्रभावित होकर इन्होंने अपने ३०० शिष्यों के साथ उनसे दीक्षा ले ली।^३ जिनप्रभसूरि ने भी 'महावीरगणधरकल्प' के अन्तर्गत इनके सम्बन्ध में सविस्तार चर्चा की है।

जिनप्रभसूरि ने रघुवंशीय दशरथ, राम और भरत को यहां का राजा बतलाया है। यह उल्लेख जैन^४ और ब्राह्मणीय^५ परम्परा के ग्रन्थों में भी पायी जाती है। उन्होंने इस नगरी की भौगोलिक स्थिति और विस्तार के बारे में जिस खगोलशास्त्रीय मान्यता का उल्लेख किया है वह भी जैन परम्परा पर ही आधारित है।^६ अष्टापद पर्वत

१. आवश्यकनिर्युक्ति, सूत्र ३८२-८३

तिलोयपण्णत्ती (यतिवृषभ-६ठीं शताब्दी) ४,५२६ और आगे पद्मपुराण (रविसेण-७वीं शती) ९८/१४१-१४८

आद्यो जिनेन्द्रस्त्वजितो जिनश्च अनन्तजिच्चाप्यभिनन्दनश्च ।

सुरेन्द्रवन्द्यः सुमतिर्महात्मा साकेतपुर्यां किल पञ्च जाताः ॥

वराङ्गचरित (रचनाकाल ७वीं शती) २७/८१

२. अयलो य कोसलाए, कोसला नाम अयोज्जा,।

आवश्यकचूर्णी, पूर्व भाग, पृ० ३३७

३. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, भाग, १ पृ० ३

दिग्म्बर परम्परा में भी भगवान् महावीर के ११ गणधरों का उल्लेख है, विस्तार के लिये द्रष्टव्य—जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग २, पृ० २१३

४. निशीथचूर्णी, भाग १, पृ० १०४

पद्मपुराण २२/१६२; २५/२२-३६

५. पाण्डेय, राजबली—पुराणविषयानुक्रमणिका, पृ० २५०

६. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति—४१

पर ऋषभदेव के विहार करने,^१ निर्वाण प्राप्त करने^२ एवं वहां उनके पुत्र भरत द्वारा चैत्यों के निर्माण कराने का ग्रन्थकार ने जो उल्लेख किया है उसका भी विवरण प्राचीन जैन साहित्य में प्राप्त होता है।^३

जिनप्रभ ने नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेवसूरि की शाखा के देवेन्द्रसूरि द्वारा अपने मन्त्रविद्या से अयोध्या नगरी से ४ प्रतिमाओं को सेरिसय पुर^४ ले जाने का उल्लेख किया है। यही बात कवकसूरि द्वारा रचित नाभिनंदनजिनोद्धारप्रबन्ध^५ (रचनाकाल वि० सं० १३९३) में

१. तित्थयराणं पढमो उसभरिसी विहरिओ निरुवसग्गो ।

अट्टावओ णगवरो, अग्ग(य)भूमि जिणवरस्स ॥

आवश्यकनिर्युक्ति—३३८

तेणं समएणं भगवं अट्टावयमागतो विहरमाणो, ……………।

आवश्यकचूर्णी, पूर्व भाग, पृ० २०९

२. अट्टावयंमि सेले, चउदसभत्तेण सो महरिसीणं ।

दसहि सहस्सेाह, समं निव्वाणमणुत्तरं पत्तो ॥

आवश्यकनिर्युक्ति, ४३५

३. आवश्यकचूर्णी, पूर्व भाग, पृ० २२३

४. सेरिसयपुर जैनों का प्रसिद्ध तीर्थ है। यह आज सेरीसा के नाम से जाना जाता है। यह स्थान गुजरात राज्य के गांधीनगर जिले में अडालज नामक स्थान से १३ किलोमीटर दूर स्थित है।

परीख और शास्त्री—गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास

खंड १, पृ० ३७५

५. संघप्रयाणकेव्वेवं, दीयमानेव्वहनिशम् ।

धीसेरीसाह्वयस्थानं प्राप देसलसंघपः ॥

श्रीवामेयजिनस्तस्मिन्नुद्धवंप्रतिमया स्थितः ।

घरणेन्द्राशसंस्थांहिः (?) सकलो यः कलावपि ॥

यः पुरा सूत्रधारेण पट्टाच्छादितचक्षुषा ।

एकस्यामेव शर्वर्या देवादेशादघट्यत ॥

श्रीनागेन्द्रगणाधीशैः श्रीमद्देवेन्द्रसूरिभिः ।

प्रतिष्ठितो मन्त्रशक्तिसम्पन्नसकलेहितैः ॥

तैरेव सम्मेतगिरेर्विशतिस्तीर्थनायकाः ।

आनिन्यिरे मन्त्रशक्त्या, त्रयः कान्तीपुरीस्थिताः ॥

भी प्राप्त होती है, परन्तु उन्होंने प्रतिमाओं को अयोध्या से नहीं अपितु “कान्तीपुरी” से लाने का उल्लेख किया है और देवेन्द्र-सूरि को नागेन्द्रगच्छीय बतलाया है। इनका समय ई० सन् की बारहवीं शती का अन्त और तेरहवीं शती का प्रारम्भ माना जाता है।^१

इस प्रकार दोनों ग्रन्थकारों ने सेरीसा तीर्थ की स्थापना का श्रेय समानरूप से देवेन्द्रसूरि को दिया है। अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि देवेन्द्रसूरि किस गच्छ के थे? जिनप्रभसूरि जहाँ उन्हें नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेव की परम्परा का बतलाते हैं, वहीं कक्कसूरि ने उन्हें नागेन्द्रगच्छीय बतलाया है। चूँकि नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेव की परम्परा में किसी देवेन्द्रसूरि का नाम नहीं मिलता, जबकि नागेन्द्र-गच्छीय देवेन्द्रसूरि द्वारा रचित चन्द्रप्रभचरित की प्रशस्ति में जो गुर्वा-बली^२ दी गयी है, उसमें अभयदेवसूरि का उल्लेख है, अतः सेरीसा-

तदादीदं स्थापितं, सत् तीर्थं देवेन्द्रसूरिभिः ।

देवप्रभावविभवि सम्पन्नजनवाञ्छितम् ॥

नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध [रचनाकार—उपकेशगच्छीयकक्कसूरि सं०—पं० भगवानदास हरखचंद, अहमदाबाद, वि० सं० १९८५] प्रस्ताव ४, श्लोक ३२९-३३४

१. देसाई, मोहनलालदजीचन्द—जैनसाहित्यनो संक्षिप्तइतिहास, पृ० ३४१
२. नागेन्द्रगच्छे विख्याताः, परमारात्वरयोः तमाः ।
श्रीवर्द्धमाननामानः, सूरायासूरोयाःऽभवन् ॥
गुणप्रामातिरामो, धराभृत्सूरिर्बभूव सः ।
यदास्यकमःक्रीडे, विक्रीडुर्वंनूनश्रियः ॥२॥
सिद्धान्तादित्यमाश्रित्य, कलापूर्णः सुदूतभाक् ।
चन्द्रवत्प्रीतितः सोऽभूच्चन्द्रसूरिस्ततः परम् ॥३॥
विद्यावल्लीमहावृक्षः, संयमप्रतिमारथः ।
संसारान्धिसदायानं, देवसूरिर्गुरुस्ततः ॥४॥
सिद्धविद्यारसस्पर्शात्, सुवर्णत्वमुपागते ।
शिवायाभयसूरिणां, वयं सूरिमुपास्महे ॥५॥

तीर्थोद्धारक देवेन्द्रसूरि और चन्द्रप्रभचरित के रचनाकार नागेन्द्रगच्छीय देवेन्द्रसूरि को अभिन्न माना जा सकता है ।

ग्रन्थकार ने अयोध्या नगरी में स्थित चैत्य में गोमुख यक्ष और चक्रेश्वरी यक्षी की प्रतिमाओं के दूने की बात कही है । चूंकि ये ऋषभदेव के यक्ष-यक्षी माने जाते हैं,^१ अतः यह कहा जा सकता है कि उक्त चैत्य जिन ऋषभदेव को ही समर्पित रहा होगा । जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित पार्वनाथवाटिका भी जैनों से ही सम्बन्धित रही होगी । उन्होंने यहां स्थित सीताकुंड, सहस्रधारा आदि लौकिक तीर्थों का जो नामोल्लेख किया है वे ब्राह्मणीय परम्परा से सम्बन्धित हैं । ग्रन्थकार ने यहां घघरदह (घाघरा) एवं सरयू के संगम पर स्वर्गद्वार होने की बात कही है, जो वस्तुतः यहां का एक प्राचीन और प्रसिद्ध घाट है। गहड़वाल शासक चन्द्रदेव (वि०सं० ११४२-११५७ ई० सन् १०८५-११००) के चन्द्रावतीदानपत्र में भी इसका उल्लेख मिलता है ।^२

वर्तमान में यहाँ कई श्वेताम्बर और दिगम्बर जिनालय विद्यमान हैं, जो अर्वाचीन हैं ।^३

निर्वास्यान्यगिरश्चित्तान्यवष्टभ्य स्थिता नृणाम् ।

यद्वाक् सोऽभूज्जगःस्थातः, श्रीमद्धनेश्वरः प्रभुः ॥६॥

यद्वाग्ङ्गा त्रिभिर्मार्गैस्तर्कसाहित्यलक्षणैः ।

पुनाति जीयाद्विजयसिंहसूरिः स भूतले ॥७॥

श्रीधनेशपदेसूरिदेवेन्द्राख्यः स्वभक्तितः ।

पुण्याय चरितं चक्रे, श्रीमन्चन्द्रप्रभप्रभोः ॥८॥

व्योमस्वानलस्थितिः प्रतिदिशं विक्षिप्य तारीदत्तं,

पीत्वा चन्द्रमहःपयोऽदधदवष्टभं च घात्र्यां करैः ।

बालार्कः पतदिन्दुकन्दुकमामावास्यासु धृत्वा क्षिपेद्यावत्तवदिदं

चरित्रमवनो चान्द्रप्रभं नन्दतात् ॥९॥

चतुःषट्द्वयेकसङ्घ्रये च, '१२६४' जाते विक्रमवत्सरे ।

सोमेश्वरपुरेऽत्रैतद्द्विमास्यां चरितं कृतम् ॥१०॥

चन्द्रप्रभस्वामिचरित की प्रशस्ति

१. तिवारी, मारुतीनन्दन—जैनप्रतिमाविज्ञान, पृ० १६६

२. इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द XIV, पृ० १९४ और आगे ।

३. तीर्थदर्शन, भाग १, पृ० १११

जैन, ज्योतिप्रसाद—आदितीर्थअयोध्या [लखनऊ १९७९ ई०] पृ० ४८ और आगे

२. अहिच्छत्रानगरीकल्प

अहिच्छत्रा प्राचीन भारतवर्ष के प्रमुख नगरियों में एक थी। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इसके बारे में विवरण प्राप्त होता है। वर्तमान में यहां हुए उत्खनन से उपलब्ध अवशेषों से यहाँ की प्राचीन स्थिति पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है।

अहिच्छत्रा जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। ज्ञातधर्मकथा तथा आवश्यकनिर्मुक्ति आदि प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख है। जिनप्रभ-सूरि ने भी इस नगरी का जैनतीर्थ के रूप में उल्लेख किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :—

‘जम्बूद्वीप - भारतवर्ष के कुरु-जाङ्गल जनपद में शंखावती नामक प्राचीन नगरी थी। एक समय पार्श्वनाथ छद्मावस्था में विहार करते हुए यहां आये और नगर के बाहर कायोत्सर्ग मुद्रा में ध्यानावस्थित हो गये। उसी समय उनके पूर्वभव के वैरी कमठ ने उन्हें देखा और पूर्व वैरवश उसने उनके ऊपर उपसर्ग करना प्रारम्भ किया और अपनी वैक्रिय शक्ति मे बादलों को प्रकट कर घनघोर वृष्टि प्रारम्भ कर दी। वर्षा का जल चारों ओर फैल गया और पार्श्वनाथ की नासिका तक पहुंच गया तो धरणेन्द्र, जिसकी उन्होंने पूर्व भव में रक्षा की थी, वहां आया और अपने फणों को उनके ऊपर छत्र-रूप में फैलाकर रक्षा की। उसी समय से इस नगरी का नाम अहिच्छत्रा पड़ा। पार्श्वस्वामी के वहां से अन्यत्र विहार करने के पश्चात् संघ ने उसी स्थान पर उनका चैत्य बनवाया। बाद में दो अन्य चैत्य भी वहीं पर बनवाये गये, जिनमें एक पार्श्वनाथ का और दूसरा नेमिनाथ का था। यहां हिरण्य-गर्भ, चण्डिकाभवन, हरिहर, ब्रह्मकुण्ड आदि लौकिक तीर्थ भी हैं। कृष्ण की जन्मभूमि भी यहीं है।’

यद्यपि पार्श्वनाथ के माता-पिता के नामों की सूचना आगम ग्रन्थों से भी प्राप्त होती है, परन्तु उनकी विस्तृत जीवनी सर्वप्रथम कल्पसूत्र^१

१. पासे ण अरहा पुरिसादाणीए तेसीइं राइदियाइं निच्चं वोसट्टुकाए चियत्त-
देहे जे केइ उवसग्गा उप्पज्जंति, तंजहा-दिग्वा वा माणुस्सा वा तिरिक्ख-
जोणिया वा, अणुलोमा वा पडिलोमा वा, ते उप्पन्ने सम्भं सहइ तित्ति-
क्खइ खमइ अहियासेइ ॥

कल्पसूत्र [जयपुर संस्करण, १९७७ ई०] सूत्र १५४

में ही प्राप्त होती है, फिर भी उन पर कमठ द्वारा किये गये उपसर्ग की यहां चर्चा नहीं मिलती। उत्तरकालीन जैन ग्रन्थों^१, जिनमें पार्श्वनाथ के जीवनचरित्र का विवरण है, उनपर किये गये उपसर्गों का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इन विवरणों में कोई भेद है तो वह विघ्न डालने वाले के नाम और स्थान का। उत्तरपुराण (गुणभद्र—९वीं शती उत्तरार्ध), महापुराण (पुष्पदन्त—रचनाकाल ९६'१ई० सन्) आदि ग्रन्थों में विघ्नकर्त्ता का नाम शंबर^२ दिया गया है। पार्श्वनाथचरित^३ (वादिराज—रचनाकाल शक संवत् ९७७) में उसका नाम भूतानन्द बतलाया गया है। सिरिपासणाहचरिय^४ (देवप्रभसूरि, रचना काल वि०सं० ११६८), त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित^५—(हेमचन्द्र वि०सं० ११४५-१२२९) तथा श्वेताम्बर परम्परा के अन्य सभी ग्रन्थों—जिनमें पार्श्वनाथ का जीवन-विवरण प्राप्त होता है, उस विघ्नकर्त्ता का नाम मेवमलिन दिया गया है। पासणाहचरिउ^६ (पद्मकीर्त्ति—ई० सन् की १०वीं शताब्दी) में भी यही नाम मिलता है।

पार्श्व के ध्यानावस्था में विघ्न डालने का वर्णन श्वेताम्बर या दिगम्बर—किस परिपाटी या सम्प्रदाय से प्रारम्भ हुआ, यह कहना कठिन है। यह निश्चित है कि कल्पसूत्र की रचना के पश्चात् और उत्तरपुराण की रचना के पूर्व यह मान्यता अस्तित्व में आयी।^७ आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रणीत कल्याणमंदिरस्तोत्र से ज्ञात होता है कि उस समय तक यह मान्यता स्थापित हो चुकी थी कि पार्श्व के तप को कमठ द्वारा भंग करने का प्रयास किया गया। इस

१. जिनरत्नकोश, पृ० २४४-२४८

२. जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ४, पृ० १

३. पार्श्वनाथचरित्र—१०/८८

४. ताव पुव्वुत्तकढो, मेहकुमारत्तणेण वट्टंती।

सिरिपासणाहचरिउ ३।१९१

५. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित—९/३

६. तं पेक्खेवि धवलज्जलु थक्कउ अविचलु मेहमल्लिभडु कुद्धउ।

—पासणाहचरिउ १४।५।११९

७. मोदी, प्रफुल्लकुमार—संपा० पासणाहचरिउ, प्रस्तावना, पृ० ३७

स्तोत्र के ३१वें छंद में इसका स्पष्ट संकेत है कि कमठ ने पार्श्वनाथ पर उपसर्ग किया ।

प्राग्भारसम्भृतनभांसि रजांसि रोषाद्
उत्थापितानि कमठेन शठेन यानि ।
छायापि तैस्तव न नाथ ! हता हताशो
ग्रस्तस्त्वमीभिरयमेव परं दुरात्मा ॥

—कल्याणमन्दिरस्तोत्र —३१

(हे स्वामी, उस शठ कमठ ने क्रोधावेश में जो धूल आप पर फेंकी, वह आपकी छाया पर भी आघात न पहुंचा सकी ।)

इससे अनुमान होता है कि सिद्धसेन दिवाकर के समय तक कमठ, पार्श्वनाथ के विरोधी के रूप में ज्ञात रहा, बाद में जब उत्तरकालीन ग्रन्थों में पार्श्वनाथ के पूर्व भवों का विस्तृत वर्णन किया जाने लगा तब कमठ को उनके प्रथम-भव का विरोधी मान लिया गया और अंतिम भव के विरोधी को विभिन्न नाम दे दिये गये ।

पार्श्वनाथ पर किये गये उपसर्ग को दूर करने का श्रेय दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों में धरणेन्द्र को समान रूप से दिया गया है । परन्तु यह उपसर्ग कहीं घटित हुआ, इसके बारे में मतभेद है । श्वेताबर परम्परानुसार यह घटना “आश्रम”^१ में घटित हुई और दिगम्बरों के अनुसार “दीक्षावन”^२ में । परन्तु यह स्पष्ट हो जाता है कि नगर के बाहर किसी उपवन या एकान्त स्थल पर ही यह घटना घटित हुई । आचाराङ्गनिर्युक्ति (कर्ता-भद्रबाहु ‘द्वितीय’ रचनाकाल प्रायः ५२५ई० सन्) के अनुसार धरणेन्द्र ने अहिच्छत्रा नगरी में पार्श्वनाथ की महिमा

१. एवं च भवयं पासनाहो कुक्कुडेसराओ निक्खंतो गामाणुगामं
विहरमाणो संपत्तो पुब्बुत्ते आसमपयंमि ।

—पासनाहचरियं ३।१९१

२. नयन्स चतुरो मासान्, छासस्थेन विशुद्धिभाक् ।
दीक्षाग्रहवने देवदारुभूरिमहीरुहः ॥

—उत्तरपुराण ७३।१३४

की।^१ ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि धरणेन्द्र ने पार्श्वनाथ के उपसर्ग को दूर किया अतः यह कहा जा सकता है कि अहिच्छत्रा नगरी में ही कमठ ने पार्श्वनाथ पर उपसर्ग किया और धरणेन्द्र ने उसे दूर कर उनकी महिमा वर्णित की। जिनप्रभसूरि ने भी इसी बात को ही लिखा है।

सर्पफण के छत्र से युक्त पार्श्वनाथ की प्रतिमायें हमें कुषाण काल से ही प्राप्त होने लगती हैं, परन्तु पार्श्वनाथ की वे प्रतिमायें जिनमें उन पर कमठ से उपसर्ग को दर्शाया गया है, ई० सन् की छठीं शताब्दी से पूर्व की नहीं मिली हैं। ये प्रतिमायें वादामी, ऐहोल, ग्यारसपुर और अर्थूणा, आदि स्थानों से प्राप्त हुई हैं और ये छठीं से ११ वीं शताब्दी तक की हैं।^२

यहां उत्खनन से जैन प्रतिमायें भी प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ प्रतिमायें कुषाणकालीन अभिलेखों से युक्त हैं।^३

इस प्रकार स्पष्ट होता है कि अहिच्छत्रा कुषाण कालमें एक प्रसिद्ध जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहा। जिनप्रभसूरि ने भी यहां पार्श्वनाथ का एक प्राचीन चैत्य होने का उल्लेख किया है। उन्होंने यहाँ के जिन लौकिक तीर्थों का नामोल्लेख किया है वे ब्राह्मणीय परम्परा से

१. [i] अट्टावयमृज्जिते गयगपयए य धम्मचक्के ग ।

पासरहावत्तनगं चमरुप्पायं च वंदामि ॥

—आचाराङ्गनियुक्ति ॥३३५॥

[ii] अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने,.....।

आचाराङ्गटीका [शीलांकाचार्य] भाग-२, पृ० ४१८

२. ढाकी, एम०ए०—‘सान्तरा स्कलचसं’, जर्नल ऑफ इंडियन सोसाइटी आफ ओरियण्टल आर्ट, जिल्द ४, [१९७०-७१ ई०], पृ० ७८-९७

शाह, यू०पी०—‘ए पार्श्वनाथ स्कल्पचर इन क्वीवलेड’, द बुलेटिन ऑफ द क्वीवलेड म्यूजियम ऑफ आर्ट, जिल्द—५-६, दिसम्बर, १९७० ई०], पृ० ३०३-३११

३. बैनर्जी, आर०डी०—‘न्यू ब्राह्मी इंस्क्रिप्शन्स ऑफ सीथियन पीरियड,’ इपिग्राफिया इंडिया, जिल्द १०, पृ० १०७

सम्बन्धित रहे होंगे। जैन परम्परानुसार कृष्ण नवें वामुदेव थे।^१ ब्राह्मणीय परम्परा^२ में उन्हें विष्णु के अवतारों में गिना जाता है। दोनों ही धर्मों में उनका जन्म स्थान मथुरा (गोकुल) स्वीकार किया गया है। परन्तु जिनप्रभ ने उनका जन्मस्थान अहिच्छत्रा बतलाया है जो भ्रामक है। अहिच्छत्र की पहचान बरेली जिले के आंवला तहसील में स्थित रामनगर नामक स्थान से की जाती है।^३ यहां दोनों सम्प्रदायों के अलग-अलग जिनालय विद्यमान हैं^४ जो वर्तमान युग के हैं।

३. काम्पिल्यपुरकल्प

काम्पिल्य पांचाल जनपद की राजधानी और भारतवर्ष की एक प्रसिद्ध नगरी थी। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इसके बारे में विवरण प्राप्त होता है। महाभारत में काम्पिल्य को दक्षिण पांचाल की राजधानी बतलाया गया है। जैन मान्यतानुसार १३ वें तीर्थङ्कर विमलनाथ का यहाँ जन्म हुआ, इसीलिए यह जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हुआ। जिनप्रभसूरि इस तीर्थ के सम्बन्ध में जिन मान्यताओं का उल्लेख किया है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

“जम्बूद्वीप दक्षिण भरत खण्ड के पूर्व दिशा में पांचाल जनपद के अन्तर्गत गंगा नदी के तट पर काम्पिल्य नगरी बसी हुई है। यहाँ १३वें तीर्थङ्कर विमलनाथ के च्यवन, जन्म, राज्याभिषेक, दीक्षा और केवल-ज्ञान ये ५ कल्याणक हुए। उनके पिताका नाम कृतवर्मा और माता का नाम सोमादेवी था। यहाँ उनके ५ कल्याणक होने तथा उनका लांछन शूकर होने के कारण इस नगरी को पंचकल्याणक नगर और शूकर क्षेत्र भी कहा जाने लगा। दसवें चक्रवर्ती हरिषेण तथा १२ वें चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त भी यहीं उत्पन्न हुए। कौण्डिन्य का शिष्य अश्वमित्र जो वीर निर्वाण के २१० वर्ष पश्चात् चतुर्थं निह्लव हुआ, भ्रमण करते हुए इम नगरी में आया था। यहाँ के राजा संजय ने गर्दभिल अणगार से दीक्षा लेकर सद्गति पायी। पिंढर और जसवती का पुत्र गांगली

१. समवायाङ्ग १५९, उत्तराध्ययन २२।८, २५, ३१; आवश्यकचूणी, पूर्व भाग, पृ० २३५
२. पाण्डेय, राजबली—पुराणविषयानुक्रमणिका, पृ० ७४
३. डे, नंदोलाल—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐशियन्ट एण्ड मेडिटल इंडिया, पृ० ८८
४. तीर्थदर्शन, भाग १, पृ० ११९

कुमार इसी नगरी में उत्पन्न हुआ। उसके मामा साल और महासाल पिठिठचम्पा के राजा थे। उन्होंने अपने भांजे को राज्य देकर महावीर स्वामी से दीक्षा ले ली। कालक्रम से गांगलिकुमार ने माता-पिता के साथ गणधर गौतम स्वामी से दीक्षा ले ली। इसी नगरी के एक राजा दुमुख ने कौमुदीमहोत्सव के अवसर पर इन्द्रध्वज को अलंकृत और लोगों द्वारा उसका सम्मान करते हुए देखा। कुछ समय बाद उसी ध्वज को भूमि पर लोगों के पैरों के नीचे पड़ा देखकर उसे ऋद्धि के अनृद्धि-स्वरूप का स्मरण हुआ और वह प्रत्येकबुद्ध बना। यहीं राजा द्रुपद की कन्या द्रौपदी का स्वयंवर में पंचपाण्डवों के साथ विवाह हुआ। इसी नगरी का एक अन्य राजा धर्मरुचि बहुत धर्मनिष्ठ था। काशी के राजा से युद्ध के समय वह अपने पुण्य के प्रताप से अपनी सारी सेना आकाश मार्ग से काशी ले गया। अनेक संविधानरूपी रत्नों की निधान यह नगरी महातीर्थ है। भव्य लोग यहां की यात्रा कर जैन शासन की प्रभावना करते हुए अपना कल्याण करते हैं।”

१३वें तीर्थङ्कर विमलनाथ के जन्मस्थान, माता-पिता तथा उनके च्यवन, जन्म आदि कल्याणकों के बारे में जैन साहित्य^१ में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। उन्होंने (जिनप्रभ ने) इस नगरी के अन्य नामों “पंचकल्याणकनगर” एवं “शूकरक्षेत्र” का जो उल्लेख किया है, वह जैन साहित्य में अन्यत्र अप्राप्त है, अतः जिनप्रभ के उक्त कथन को उनकी व्यक्तिगत विश्वास पर ही आधारित समझना चाहिए।

१. (i) आवश्यकनियुक्ति—३८२
- (ii) आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २३७ और आगे
- (iii) कंपिलपुरे विमलो जादो कदवम्मजयस्सामाहि ।
माघसिदचोद्दसीए णक्खत्ते पुव्वभट्टपदे ॥
तिलोयपण्णत्ती ४।५३८
- (iv) सुरलोकादिमं लोकमिन्द्रेऽस्मिन्नागमिष्यति ।
क्षेत्रेऽत्र पुरि काम्पिल्ये पुरुदेवान्वयो नृपः ॥
उत्तरपुराण ५९।१४
- (v) काम्पिल्यजातो विमलो मुनीन्द्रो.....।
वराङ्गचरित २७।८४

पृथ्वी के महान् राजा को चक्रवर्ती कहा जाता है,^१ जैन परम्परा में १२ चक्रवर्ती राजाओं की कल्पना है।^२ इनमें से १० वें हरिषेण एवं १२ वें ब्रह्मदत्त इसी नगरी से सम्बन्धित थे।^३ जिनप्रभसूरि ने भी इसी मान्यता का उल्लेख किया है।

श्वेताम्बर जैन मान्यतानुसार मूल सिद्धान्तों की प्रामाणिकता में शंका प्रकट करने वाले या भिन्न प्रकार से उसका अर्थ बतलाने वाले श्रमण को निह्लव कहा जाता है।^४ उनके यहां कुल ७ निह्लवों की चर्चा है, उनके नाम हैं—जामालि, तिस्यगुप्त, आसाढ़, असिमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठामिहिल।^५ वीर निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात् आर्य महागिरि का प्रशिष्य और कौडिन्य का शिष्य असिमित्र चम्पा नगरी के लक्ष्मीधरचैत्य में चतुर्थ निह्लव हुआ और उसने काम्पित्यपुर की भी यात्रा की।^६ यही बात जिनप्रभसूरि ने भी कही है।

१. आवश्यकचूर्णी, पूर्व भाग, पृ० २०८

२. होही सगरो मघवं, सणकुमारो य रायसद्दूलो ।
संती कुंधू अ अरो, होइ सुभूमो य कोरव्वो ॥
णवमो अ महापउमो, हरिसेणो चव रायसद्दूलो ।
जयनामो अ नरवई, बारसमो वंभदत्तो अ ॥

आवश्यकनियुक्ति, ३७४-३७५

३. आवश्यकनियुक्ति, ३९७-४००

४. आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ४१५

५. बहुरय जमालिपभवा, जीवपएसा य तीसगुत्ताओ ।
अव्वत्ताऽऽसाढाओ, सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥
गंगाओ दोकिरिया, छलुगा तेरासियाण उप्पत्ती ।
थेरा य गोट्टमाहिल, पट्टमवद्धं पर्व्वति ॥

आवश्यकनियुक्ति ७८०-७८१

६. सामिस्स दो वाससताणि वीसुत्तराणि सिद्धि गतरस्स तो चउत्थो उप्पण्णो ॥
महिला नगरी, लच्छीधरं चेतियं, महागिरी य आयरिया, तत्थ तेसि
सीसो कोडिण्णो, तस्सऽवि आसमित्ती सीसो.....
..... भावेंतो कंपेत्लपुरं गत्तो ।

आवश्यकचूर्णी, पूर्व भाग, पृ० ४२२

यहां के राजा संजय के सम्बन्ध में जिनप्रभ ने जिस कथानक की चर्चा की है, वह उत्तराध्ययनसूत्र^१ और उसकी चूर्णी में सविस्तार कही गयी है। इसी प्रकार उन्होंने गांगलिकुमार के सम्बन्ध में जो बात कही है, वह भी श्वेताम्बर जैन परम्परा^२ पर आधारित है। इस नगरी के एक राजा दुमुह, जिसका जिनप्रभ ने उल्लेख किया है, के बारे में जैन ग्रंथों^३ में सविस्तार विवरण प्राप्त होता है। जातकों^४ में भी इस राजा का उल्लेख है और उसे मिथिला के अन्तिम शासक नमि का समकालीन बतलाया गया है। ऐतरेयब्राह्मण^५ में भी दुमुह को एक विजेता के रूप में उल्लिखित किया गया है और बृहदुक्थ को उसका पुरोहित बतलाया गया है। इस प्रकार दुमुह का ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन तीनों परम्पराओं में उल्लेख हुआ है, अतः दुमुह एक ऐतिहासिक व्यक्ति माना जा सकता है। द्रौपदी के सम्बन्ध में भी जैन साहित्य में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।^६

जिनप्रभ ने इस नगरी के एक राजा धर्मरुचि और काशी के राजा (नाम अज्ञात) सम्बन्धी जिस कथानक की चर्चा की है वह जैन साहित्य में अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता, अतः यह कहा जा सकता है

१. उत्तराध्ययनसूत्र १८, उत्तराध्ययनचूर्णी पृ० २४८-४९
२. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ५२; उत्तराध्ययनसूत्रवृत्ति (शान्तिसूरि) पृ० ३२१ और आगे
३. इतो य पंचालामु जणवदेसु, कंपिल्लं नगरं, तत्थ दुम्मुहो राया, सो इंदकेतुं पासति लोणेण महिज्जंतं अणेगकुडभीसहस्सपरिमंडिताभिरामं, पुणो य विलुत्तं पडितं च मुत्तपुरीसाण मज्झे, सोवि संबुद्धो, जो इंदकेतुं सुयलंकियं तु०। आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग, पृ० २०७
विस्तार के लिये द्रष्टव्य—
मेहना और चन्द्रा—प्राकृतप्रापरनेम्स, भाग १, पृ० ३७९
४. मलालसेकर, जी० पी०—डिक्सनरी ऑफ पालीप्रापरनेम्स, भाग १, पृ० १०९८
५. सूर्यकान्त—वैदिककोश, पृ २०३
६. मेहना और चन्द्रा—पूर्वोक्त, भाग १, पृ० ३९०;
जैनेन्द्रसिद्धान्तकोश, भाग ३, पृ० ४६१

कि किसी अज्ञात स्रोत के आधार पर जिनप्रभसूरि ने उक्त कथानक का उल्लेख किया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि ग्रन्थकार ने इस नगरी से सम्बन्धित जिन कथानकों का उल्लेख किया है, वे प्रायः जैन परम्परा पर आधारित हैं, किन्तु उनसे इस तीर्थ के समसामयिक स्थिति के बारे में कोई जानकारी प्राप्त नहीं होती।

वर्तमान में यहां उत्खनन से गुप्तयुग से लेकर मध्ययुग तक के अनेक पुरावशेष प्राप्त हुये हैं जो ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन परम्परा से सम्बद्ध हैं। इसने स्पष्ट होता है कि यह नगरी ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन धर्म के केन्द्र के रूप में विख्यात रही। यहां के जिनालयों में प्रतिष्ठापित तीर्थङ्करों की प्रस्तर एवं धातु-प्रतिमायें कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं। यहां से प्राप्त अनेक पुरावशेष लखनऊ स्थित राजकीय संग्रहालय में संरक्षित हैं।^१

काम्पित्य की पहचान उत्तर प्रदेश के फर्रुखाबाद जनपद के अन्तर्गत कायमगंज रेलवे स्टेशन से ८ किमी० दूर स्थित वर्तमान काम्पिल नामक स्थान से की जाती है। यहां जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों के अलग-अलग जिनालय हैं, जो अर्वाचीन हैं।

४. कौशाम्बीनगरीकल्प

कौशाम्बी वत्स जनपद की राजधानी और प्राचीन भारतवर्ष के प्रमुख नगरियों में एक थी। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इसके बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। ब्राह्मणीय परम्परानुसार पौरववंशीय राजाओं ने हस्तिनापुर के बाढ़ से नष्ट हो जाने के पश्चात् कौशाम्बी को अपनी राजधानी बनायी।^२ बुद्ध और महावीर का भी यहां आगमन हुआ था। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस नगरी का उल्लेख किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

१. बाजपेयी. कृष्णदत्त—संपा० काम्पित्यकल्प (कानपुर, १९७८ ई०)

पृ० ८० और आगे

२. पाण्डेय, राजबली—पूराणविषयानुक्रमणिका, पृ० ८०

“इस नगरी में छठें तीर्थङ्कर पद्मप्रभ के च्यवन, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक सम्पन्न हुए। साध्वी चन्दनबाला ने यहाँ महावीर स्वामी को प्रथम पारणा करायी। कौशाम्बी नरेश शतानीक और रानी मृगावती का पुत्र उदयन गन्धर्व विद्या में बड़ा निपुण था। मृगावती के अनुरोध पर उज्जयिनीनरेश चण्डप्रद्योत ने इसी नगरी में ईंटों का एक किला बनवाया। एक बार महावीर स्वामी के यहाँ आगमन के अवसर पर उनके समवशरण में चन्दनबाला और मृगावती भी थीं। सन्ध्या होने के पूर्व सभी लोग अपने अपने घरों को लौट आये परन्तु मृगावती वहीं देर तक बैठी रही, क्योंकि उस समवशरण में सूर्य और चन्द्रमा के भी उपस्थित होने से उसे समय के बारे में भ्रम हो गया। परन्तु जब उसे रात्रि होने का पता चला, तो वह तुरन्त उपाश्रय लौटी, वहाँ चन्दनबाला ने उसे उपालम्भ दिया। अपने दोष को स्वीकार करते हुए मृगावती ने उसी रात्रि अपने कर्मों की निर्जरा कर कैवल्य प्राप्त किया। यह नगरी यमुना तट पर स्थित है। यहाँ अनेक चैत्य हैं जिनमें सुन्दर-सुन्दर जिनप्रतिमायें विद्यमान हैं। यहाँ स्थित पद्मप्रभ के जिनालय में महावीर स्वामी को पारणा कराती हुई चन्दनबाला की एक प्रतिमा भी रखी है।”

जैन मान्यतानुसार पद्मप्रभ छठें तीर्थङ्कर थे। उनके माता-पिता, जन्मस्थान तथा कल्याणकों आदि के सम्बन्ध में जैन ग्रन्थों^१ में विस्तृत

१. (i) समवायाङ्ग (सं० मधुकरमुनि) २४।१६०

(ii) जणणी सव्वत्थ विणिच्छएसु सुमइत्ति तेण सुमइजिणो ।

पउमसयणंमि जणणीइ डोहलो तेण पउमामो ॥

आवश्यकनिर्युक्ति— १०८९

(iii) अस्सजुदकिण्हतेरसिदिणम्मि पउमप्पहो अ चित्तासु ।

धरणेण सुसीमाये कोसंबिपुरवरे जादो ॥

तिलोयपण्णत्ती— ४।५३१

(iv) कौशाम्ब्यां पद्मतेजसम् ।

पद्मपुराण (रविसेण) ९८।१४५

विवरण प्राप्त होता है। भगवान् महावीर की प्रथम पारणा इस नगरी में हुई।^१ चन्दनबाला महावीर स्वामी के श्रमणीसंघ की प्रधान थीं।^२ इनके बारे में जैन ग्रन्थों^३ में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। ग्रन्थकार ने कौशाम्बीनरेश शतानीक की पत्नी और उदायन की माता मृगावती के बारे में जिन बातों की चर्चा की है, उनका आवश्यकचूर्णी^४ में विस्तार पूर्वक उल्लेख है।

जिनप्रभसूरि ने यहां गंगातट पर अनेक जिनालयों के होने की बात कही है। यह विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि कोसम और उसके आसपास के क्षेत्रों से बड़ी संख्या में जिन प्रतिमाएं, तोरण, मानस्तम्भ, आयागपट्ट आदि प्राप्त हुए हैं, इनमें से अधिकांश स्थानीय पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित हैं।^५ कोसम स्थित एक कच्चे मकान से भी कुछ महत्त्वपूर्ण जैन पुरावशेष मिले हैं, इनमें कुषाणकालीन अभिलेख युक्त एक आयागपट्ट भी शामिल है।^६ यहाँ से प्राप्त जिन प्रतिमायें एवं अन्य पुरावशेष ८ वीं से २ वीं शती तक के हैं।^७ चौदहवीं शती में जिनप्रभसूरि के समय में भी यह नगरी जैन तीर्थ के रूप में विद्यमान थी। परन्तु बाद में मुस्लिम शासकों

(v) ऊर्जकृष्णत्रयोदश्यां पद्मप्रभजिनेश्वरः।

हरिवंशपुराण(जिनसेन) ६०।१७१

कौशाम्बी धरणश्चित्रा सुसीमा जिनपुङ्गवः।

पद्मप्रभः प्रियङ्गुश्च मङ्गलं वः स पर्वतः ॥ वही ६०।१८७

१. आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ३१८-१९
२. वही पृ० ३२०
३. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, भाग १, पृ० २४६-४७
४. भगवं वद्धमाणसामी कोसंबीए समोसरितो, तत्थ चंदसूरा भगवंतं वंदगा सविमाणा उत्तिण्णा, तत्थ मिगावती अज्जा उदयणमाता दिवसोत्तिकातुं चिरं ठिता, सेसाओ साधुणीओ तित्थगरं वंदितूण सनिलयं गताओ, चंदसूरावि तित्थगरं वंदितूण पडिगता,। आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ६१५
५. प्रमोदचन्द्रा—स्टोन स्कल्पचर्स इन द इलाहाबाद म्यूजियम संख्या—४०६-४१०, ४१८, ४५५ आदि।
६. बैनर्जी, आर० डी०—“सम स्कल्पचर्स फ्राम कोसम” आ० स० इ० वाषिकरिपोर्ट, १९१३-१४, पृ० २६२-६४
७. प्रमोदचन्द्रा—पूर्वोक्त,

की कृपादृष्टि! से यह समृद्धशाली नगरी पूर्णरूपेण सदैव के लिए उजड़ गयी। कौशाम्बी नगरी को इलाहाबाद शहर से दक्षिण-पश्चिम में ३० मील दूर स्थित कोसम नामक स्थान से समीकृत किया जाता है।^१ यहाँ दोनों सम्प्रदायों के अलग-अलग जिनालय विद्यमान हैं, जो वर्तमान युग के हैं।^२

५. चन्द्रावती

जैन परम्परा में भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थङ्कर माने गये हैं। उनके च्यवन, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान—ये ४ कल्याणक चन्द्रावती (चन्द्रपुरी) नामक नगरी में सम्पन्न हुये थे, ऐसा जैन परम्परा के दोनों सम्प्रदायों के प्राचीन ग्रन्थों में उल्लेख है।^३ यद्यपि ये सभी ग्रन्थ इस नगरी की भौगोलिक अवस्थिति का कोई संकेत नहीं करते हैं।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने इस नगरी के सम्बन्ध में प्रचलित जैन मान्यताओं का उल्लेख करते हुये सर्वप्रथम इसकी भौगोलिक अवस्थिति

१. जैन, जगदीशचन्द्र—भारतवर्षके प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ३७।
२. तीर्थदर्शन, भाग १, पृ० १००।
३. (अ) समवायाङ्ग, १५७; आवश्यकचूर्णी ३८२;
(ब) चंदपहा चंदपुरे जादो महसेणलच्छिमइआहि।
पुस्सस्स किण्हएयारसिए अणुराहणक्खत्ते ॥

तिलोपपण्णत्ती ४।५३३

चन्द्राभं चन्द्रपुरी.....।

पद्मपुराण ९१।१४६

चन्द्रप्रभश्चन्द्रपुरे प्रसूतः.....—....।

वराङ्गचरित २७/८२

वन्धा चन्द्रपुरी चन्द्रप्रभो नागतर्हगिरिः।

सोऽनुराधा महासेनो लक्ष्मणा जननी सताम् ॥

हरिवंशपुराण ६०।१८९

तस्मिन् षण्मासशेषायुष्या गमिष्यति भूतले।

द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे नृपश्चन्द्रपुराधिपः ॥

उत्तरपुराण ५४।१६३

की चर्चा की है। उन्होंने इसे वाराणसी नगरी से अढ़ाई योजन दूर स्थित बतलाया है :

अस्याश्च सार्धयोजनद्वयात्परतश्चन्द्रावती नाम नगरी, यस्यां श्रीचन्द्रप्रभोर्गर्भावतारादिकल्याणिकचतुष्टयमखिलभूवनजनतुष्टिकरम-जनिष्ट। कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प—पृ० ७४

मध्ययुग में लिखी गयी श्वेताम्बर परम्परा की तीर्थमालाओं^१ में भी जिनप्रभसूरि की मान्यता का ही अनुसरण किया गया है। इस सम्बन्ध में यह विशेषरूप से उल्लेखनीय है कि मध्ययुग में ही लिखी गयी दिगम्बर परम्परा की चैत्यपरिपाटियों, तीर्थवन्दनाओं आदि में इस तीर्थ की चर्चा नहीं मिलती, इससे प्रतीत होता है कि इस युग में यहां दिगम्बर परम्परा का कोई जिनालय नहीं था।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि वर्तमान चन्द्रावती की प्राचीनता क्या है? क्या जैनों के अलावा किसी अन्य परम्परा से भी इसका सम्बन्ध रहा है? क्या यहां से कुछ पुरावशेष प्राप्त हुये हैं, जिनके आधार पर इसकी ऐतिहासिकता को स्पष्ट किया जा सके?

सर्वप्रथम हम चन्द्रावती की भौगोलिक स्थिति की चर्चा करेंगे। यह स्थान वाराणसी से लगभग २० मील उत्तर-पूर्व में गंगा नदी के पश्चिमी तट पर एक प्राचीन एवं विस्तृत टीले पर अवस्थित है। भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण द्वारा यह प्राचीन स्मारक घोषित है। यहां श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के एक-एक जिनालय हैं, जो क्रमशः वि० सं० १८९२ और वि० सं० १९१३ में निर्मित हैं। यह बात इन जिनालयों पर उत्कीर्ण लेखों से ज्ञात होती है।

सन् १९१२ की बाढ़ में गंगा नदी की धारा द्वारा यहां टीलों के रूप में अवस्थित भग्नावशेषों के तीव्र कटाव से एक पाषाण पेटिका प्राप्त हुई, जिसमें गहड़वालशासक चन्द्रदेव (वि०सं० ११४२-५७) के दो ताम्रपत्र प्राप्त हुये।^२ प्रथम ताम्रपत्र वि०सं० ११५० और द्वितीय

१. सूरि, विजयधर्म—संग० प्राचीनतीर्थमालासंग्रह पृ० १३-१४

२. साहनी, दयाराम—“चन्द्रावती प्लेट्स ऑफ चन्द्रदेव—वि० सं० ११५०—११५६, इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द XIV पृ० १९२-२०७

वि० सं० ११५६ का है। द्वितीय ताम्रपत्र में चन्द्रावती स्थित चन्द्र-माधव के देवालय को सम्राट चन्द्रदेव द्वारा दिये गये भूमिदान का विस्तृत विवरण है।^१ इससे स्पष्ट है कि विक्रम की बारहवीं शती में चन्द्रावती में चन्द्रमाधव का एक प्रसिद्ध एवं महिम्न देवालय विद्यमान था।

उपरोक्त ताम्रपत्रों के सम्पादन के संदर्भ में सन् १९१२ में भारतीय पुरातत्त्व सर्वेक्षण विभाग की ओर से श्री दयाराम साहनी ने इस स्थान का सर्वेक्षण भी किया। उनके अनुसार यहां स्थित श्वेताम्बर जिनालय स्थानीय ग्रामवासियों में चन्द्रमाधो के मंदिर के नाम से जाना जाता था।^२ साहनी ने इस मंदिर के उत्तरी दीवाल पर वि० सं० १७५६ का एक शिलालेख तथा मंदिर में वि० सं० १५६४ की भगवान् शांतिनाथ की एक प्रतिमा होने की बात कही है।^३ आज यहां उक्त जिनालय में न तो सं० १७५६ का शिलालेख ही दिखाई देता है और संभवतः वह प्रतिमा भी वाराणसी में भेलूपुर स्थित दिगम्बर जैन मंदिर में स्थानान्तरित कर दी गयी है।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है जैन परम्परा में चन्द्रावती (चन्द्रपुरी) की भौगोलिक अवस्थिति की चर्चा सर्वप्रथम कल्पप्रदीप में ही प्राप्त होती है। इस स्थान की अति प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रमाणों के अभाव में तो कुछ भी नहीं कहा जा सकता, किन्तु उक्त ताम्रपत्रों के विवरणों से यह स्पष्ट है कि १० वीं-११ वीं शती में यह एक प्रसिद्ध स्थान था। संभवतः इसकी विश्रुति एवं नामसाम्य के आधार पर जैनों ने इसे आठवें तीर्थकर के जन्मस्थान से समीकृत किया होगा और १४ वीं शती तक यहाँ चन्द्रप्रभ का एक जिनालय भी निर्मित हो चुका था, यह बात कल्पप्रदीप के विवरण से स्पष्ट है।

१. तः चंद्रावत्यां देवश्रीचंद्रमाधवाय पूजाद्यर्थं शासनोक्त्य प्रदत्त इति ।।
साहनी, पूर्वोक्त—इपिग्राफिया इंडिका, जिल्द XIV, पृ० १९९

२. वही, पृ० १९७

३. वही

६. प्रयाग

गंगा-यमुना के संगम पर अवस्थित प्रयाग (वर्तमान इलाहाबाद) हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। ब्राह्मणीय परम्परा के प्राचीन ग्रन्थों में यहाँ दो नदियों का संगम माना गया है, परन्तु उत्तरकालीन ग्रन्थों में यहाँ गंगा-यमुना और सरस्वती इन तीन नदियों के संगम स्थल की कल्पना की गयी है। रामायण तथा महाभारत में इस तीर्थ का उल्लेख मिलता है।^१ बौद्ध साहित्य में भी इस नगरी का उल्लेख है, परन्तु वहाँ किसी बड़े नगर के रूप में इसकी चर्चा नहीं मिलती।^२

ब्राह्मणीय और बौद्ध परम्परा के अतिरिक्त जैन परम्परा में भी इस नगरी का उल्लेख है। श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में इस नगरी के प्रयाग' नामकरण के सम्बन्ध में अलग-अलग कथानक प्राप्त होते हैं।

आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप में इस तीर्थ की उत्पत्ति का सविस्तार वर्णन करते हुए यहाँ ऋषभदेव और शीतलनाथ के चैत्यालय होने की बात कही है।

कल्पप्रदीप में दो बार इस तीर्थ का उल्लेख आया है—

प्रथम पाटलिपुत्रकल्प के अन्तर्गत जहाँ उन्होंने अन्निकापुत्राचार्य की कथा दी है और बतलाया है कि पुष्पभद्रपुर में एक बार गंगा नदी पार करते हुए अन्निकापुत्राचार्य ने कैवल्य प्राप्त किया और वहीं उनका निर्वाण भी हुआ, इसीलिये यह स्थान प्रयाग नाम से प्रसिद्ध हुआ।

द्वितीय चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उन्होंने यहाँ ऋषभदेव और शीतलनाथ के चैत्यालय होने की बात कही है।

अन्निकापुत्राचार्य की कथा हमें आवश्यकनिर्मुक्ति,^३ आवश्यक-

१. लाहा, विमलाचरण—प्राचीनभारत का ऐतिहासिकभूगोल, पृ० १९८-२००
२. माथुर, विजयेन्द्र—ऐतिहासिकस्थानावली, पृ० ५८५-८७
३. सूत्र ११९०-९१

चूर्णी^१, निशीथचूर्णी^२ धर्मोपदेशमालाविवरण^३, परिशिष्टपर्व^४ आदि श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

चूँकि ये सभी रचनायें कल्पप्रदीप से पूर्ववर्ती हैं, अतः यह माना जा सकता है कि जिनप्रभसूरि द्वारा वर्णित उक्त कथानक का मूलभूत आधार उपरोक्त ग्रन्थ ही रहे होंगे।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, दिगम्बर परम्परा में भी इस नगरी के 'प्रयाग' नामकरण के सम्बन्ध में एक भिन्न कथानक मिलता है। उसके अनुसार आदिनाथ ने कैवल्य प्राप्त होने पर यहाँ अपनी प्रजा को सम्बोधित किया, तत्पश्चात् प्रजा ने उनकी पूजा की और इसीलिये यह स्थान प्रयाग के नाम से विख्यात हुआ।^५

आचार्य रविषेण द्वारा विरचित पद्मपुराण में कहा गया है कि भगवान् आदिनाथ ने इस स्थान पर उत्कृष्ट त्याग किया, इसीलिये इसका एक नाम प्रयाग भी प्रसिद्ध हुआ।^६

१.अणियपुत्ता पुष्कूलाए आणिएल्लयं न भुंजंतो, तेणेव य भवेणं सिद्धो, तो के अत्थ दोसोत्ति ।

— आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग, पृ० ३६

पयागं तत्थ जातं तित्थं । वही, पृ० १७९

२. ...उत्तरमहुरावणिएण वा अणियपुत्तो ।

निशीथचूर्णी, द्वितीय भाग, पृ० २३९

३. मुनि जिनविजय—संपा० धर्मोपदेशमालाविवरण (कर्त्ता-जयसिंहसूरि, रचनाकाल—वि० सं० ९१५) 'गुरु-विनये पुष्कूल-कथा' पृ० ४१-४६

४. हमंन जाकोवी—संपा० परिशिष्टपर्व (कर्त्ता-हेमचन्द्रसूरि, सर्ग ६, श्लोक ४३-१७४

५. एवमुक्त्वा प्रजा यत्र प्रजापतिमपूजयन् ।
प्रदेशः स प्रजागारुयो यतः पूजार्थयोगतः ॥

हरिवंशपुराण १।९६

६. प्रजाग इति देशोऽसौ प्रजाभ्योऽस्मिन् गतो यतः ।

प्रकृष्टो वा कृतस्त्यागः प्रयागस्तेन कीर्तितः ॥

पद्मपुराण ३।२८९

वस्तुतः ब्राह्मणीय परम्परा में प्रचलित प्रयाग की महत्ता को देखते हुये जैन आचार्यों द्वारा भी अपनी परम्परा में इस नगरी की महत्ता दर्शाने के लिये ही उक्त कथानकों की रचना की गयी ।

उत्तरकालीन श्वेताम्बर ग्रन्थकारों ने जैन आगमों में वर्णित 'पुरिमताल' को प्रयाग से समीकृत किया है, यह वस्तुतः उनका भ्रम है, क्योंकि आवश्यकनियुक्ति और उस पर मलयगिरि (ई०सन् १२वीं शती का द्वितीय एवं तृतीय चरण) द्वारा रची गयी टीका में स्पष्ट रूप से पुरिमताल को अयोध्या का एक उद्यान बतलाया गया है, जहाँ ऋषभदेव को कैवल्य प्राप्त हुआ था ।^१

जहाँ तक जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित यहाँ ऋषभदेव और शीतलनाथ के जिनालय होने की बात है, आज वहाँ कोई प्राचीन अथवा मध्ययुगीन जिनालय विद्यमान नहीं है और न ही उसके कोई अवशेष मिले हैं, जिससे उक्त तथ्य का समर्थन हो सके । तथापि इलाहाबाद के आस-पास के स्थानों से कुछ जिन प्रतिमायें अवश्य उपलब्ध हुई हैं^२, जिनके आधार पर पूर्व-मध्ययुग में इस क्षेत्र में जैन धर्मावलम्बियों की उपस्थिति को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । संभव है कि जिनप्रभसूरि के समय में यहाँ उक्त जिनालय विद्यमान रहे हों और बाद में वे मुस्लिम शासकों की धार्मिक असहिष्णुता की नीति के शिकार हो गये हों । संभवतः यही कारण है कि आज यहाँ न केवल जैनों का बल्कि हिन्दुओं का भी कोई प्राचीन मंदिर नहीं मिलता ।

आज यहाँ श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के अलग-अलग जिनालय हैं । दिगम्बरों के तीनों जिनालय स्थानीय चाहचंद नामक मुहल्ले में

१. उज्जाणपुरिमताले, पुरी विणीआइ तत्थ नाणवरं ।

चक्कुप्पाया य भरहे, निवेअणं चेव दुण्हं पि ॥

आवश्यकनियुक्ति ३४९

गमनिका-उद्यानं च तत्पुरिमतालं च उद्यानपुरिमतालं तस्मिन्, पुर्या

विनीतायां तत्र ज्ञानवरं भगवत उत्पन्नमिति ।

आवश्यकटीका (मलयगिरि) पूर्वभाग, पृ० २२८

२. द्रष्टव्य, प्रमोदचन्द्र—स्टोन स्कल्पचर्स इन द इलाहाबाद म्यूजियम

हैं। श्वेताम्बरों का जिनालय 'बाई का बाग' नामक मुहल्ले में है, जिसका हाल में ही निर्माण हुआ है।

७. मथुरापुरी-कल्प

मथुरा नगरी शूरसेन जनपद की राजधानी और प्राचीन भारत की प्रमुख नागरियों में से एक है। रामायण, महाभारत तथा बौद्ध एवं जैन साहित्य में इस नगरी के बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। रामायण के अनुसार शत्रुघ्न ने मधुवन में लवण नामक राक्षस का बध कर एवं यहां के वन को काट कर इस नगरी को बसाया था। महाभारत में शूरसेन देश की राजधानी के रूप में इस नगरी का उल्लेख है। यहां कंस के बंदीगृह में श्रीकृष्ण का जन्म हुआ। बौद्ध परम्परानुसार मथुरा नरेश अवन्तिपुत्र के समय भगवान् बुद्ध यहां बधारे थे। जैन परम्परा में भी इस नगरी से सम्बन्धित अनेक कथानक प्रचलित हैं। आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस नगरी का एक जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख करते हुये यहां स्थित देवनिर्मित स्तूप और अनुश्रुतियों के रूप में प्रचलित कथानकों तथा यहां के प्रमुख स्थानों का सुन्दर वर्णन किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें संक्षेप में इस प्रकार हैं—

“भगवान् सुपाश्वनाथ के काल में धर्मघोष और धर्मरुचि नामक दो मुनि वर्षाबास हेतु मथुरा नगरी में आये और यहाँ स्थित भूतरमण नामक उद्यान में ठहरे। इनके तपश्चरण और अध्ययन से प्रभावित होकर उपवन की स्वामिनी कुबेरा ने इनसे जैन श्राधिका के व्रत ग्रहण किया। बाद में कुबेरा ने उक्त मुनियों के निर्देश से यहाँ रत्नमय स्तूप की रचना कर मूलनायक के रूप में वहाँ सुपाश्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की। स्तूप के निर्माण के पश्चात् बौद्धों ने इस पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहा, पर उन्हें सफलता न मिली और जैनों का पूर्ववत् अधिकार बना रहा। एक बार यहाँ के राजा ने लोभवश स्तूप के रत्नों को लेना चाहा, तो देवी ने उसी की कुल्हाड़ी से उसका बध कर दिया, लोगों ने भयभीत हो देवी से क्षमा-याचना की तब उसने उनको अपने घरों में जिन प्रतिमा पूजने का आदेश दिया। यह

बात बृहत्कल्पसूत्र में कही गयी है। पाश्वनाथ का यहाँ बिहार हुआ और उसी समय देवी ने लोगों के लोभ-वृत्ति को देखते हुए स्तूप को ईंटों से ढंक दिया। वीरनिर्वाणसम्बत् १३०० के पश्चात् बप्पभट्टिसूरि हुए, जिन्होंने आमराजा द्वारा इस स्तूप का जीर्णोद्धार कराया। वि०सं० ८२६ में उन्होंने (बप्पभट्टिसूरि ने) यहाँ महावीर स्वामी की प्रतिमा स्थापित की। आज भी यहाँ अनेक जिन प्रतिमायें हैं, जिनकी रक्षा देव करते हैं। १३वर्षीय दुष्काल के पश्चात् स्कन्दिलाचार्य ने यहाँ आगमों की वाचना की। देवनिर्मितस्तूप के समक्ष ही देवधिगणि क्षमाश्रमण ने त्रुटित और दीमकभक्षित महानिशीथसूत्र को पूर्ण किया। राजा जितशत्रु के पुत्र कालवेशिक मुनि, राजर्षिशंख, साध्वी कुबेरा, आर्यमंगु, मिथ्यादृष्टिपुरोहित इन्द्रदत्त, आर्यरक्षित, वसहपुष्यमित्र, घृतपुष्यमित्र, दुर्बलिकपुष्यमित्र, सुरेन्द्रदत्त और उसकी भार्या राधविध, जिनदत्त श्रेष्ठी के संबल-कंबल नामक बछड़े आदि इसी नगरी से सम्बन्धित थे। यहाँ ५ स्थल, १२ वन एवं ५ लौकिक तीर्थ हैं, जो इस प्रकार हैं—

स्थल—१-अकंस्थल, २-वीरस्थल, ३-पद्मस्थल, ४-कुशस्थल और ५-महास्थल।

वन—१. लोहवन, २. मधुवन, ३. विल्ववन, ४. तालवन, ५. कुमुदवन, ६. वृन्दावन, ७. भण्डीरवन, ८. खदिरवन, ९. कामिकवन, १०. कोलवन, ११. बहुलावन और १२. महावन।

लौकिकतीर्थ—१. विश्रान्तिक तीर्थ, २. असिकुण्ड तीर्थ, ३. वैकुण्ठ-तीर्थ, ४. कलिजरतीर्थ और ५. चक्रतीर्थ।

स्तूप निर्माण के सम्बन्ध में जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित उक्त कथानक हमें जैन साहित्य में अन्यत्र प्राप्त नहीं होता, अतः उनके इस विवरण का आधार क्या है, कहना कठिन है। कल्पप्रदीप के इस कल्प (मथुराकल्प) ने जिन आधुनिक विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है उनमें सर्वाधिक महात्वपूर्ण बुहलर महोदय हैं, जिन्होंने 'वियना ओरियण्टल जर्नल' (ई० सन् १८९७) में 'ए लीजेन्ट आफ द जैन स्तूप ऐट मथुरा' नामक एक गवेषणात्मक लेख प्रकाशित कराया।

मथुरा के देव-निर्मित स्तूप का प्राचीन जैन साहित्य में उल्लेख प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में जिन ग्रन्थों का प्रधानतया उल्लेख किया जा सकता है, वे इस प्रकार हैं—

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य^१—ग्रन्थकार—संघदासगणि क्षमाश्रमण (ई० सन् ७वीं शती)।

बृहत्कथाकोष^२—हरिषेण—(ई० सन् ९३२)।

यशस्तिलकचम्पू^३—सोमदेवसूरि (ई० सन् ११वीं शती)।

बृहत्कल्पसूत्रभाष्य में कहा गया है कि यहाँ के लोग अपने घरों में जिन-प्रतिमा की पूजा करते थे^४। यही बात जिनप्रभ ने भी बृहत्कल्पसूत्रका उद्धरण देते हुए कहा है। देवधिगणि क्षमाश्रमण द्वारा त्रुटित एवं दीमक-भक्षित महानिशीथसूत्र को पूर्ण करने का जो उल्लेख कल्पप्रदीप में मिलता है, वह अन्य जैन ग्रन्थों में नहीं प्राप्त होता है। अतः यह विवरण विशेष महत्त्व का है। इसी प्रकार बप्पभट्टिसूरि एवं आम राजा के सम्बन्धों एवं उनके द्वारा मथुरा स्थित स्तूप के जीर्णोद्धार की विस्तृत चर्चा प्रभाचन्द्राचार्य कृत प्रभावक-चरित^५ में प्राप्त होती है। स्तूप के स्वामित्व के सम्बन्ध में बौद्धों से हुए विवाद का हरिषेण एवं सोमदेवसूरि ने भी उल्लेख किया है। परन्तु इसमें जैनों की ही विजय हुई।

मथुरा में हुए उत्खनन के परिणामस्वरूप एक स्तूप और दो मन्दिरों के खंडहर प्राप्त हुए हैं।^६ इनमें बड़ी मात्रा में मूर्तियां, उनके सिंहासन और आयागपट्ट आदि मिले हैं। वहाँ प्राप्त पुरावशेषों से ज्ञात होता है कि ई० पूर्वं की दूसरी शताब्दी से लेकर लगभग ११वीं

१. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य-गाथा ६२७५।

२. बृहत्कथाकोष—“श्रीवैरकुमारसम्यक्त्वगुणप्रभावनाख्यानकमिदम्” कथा १२।

३. “अत एवाद्यापि तत्तीर्थं देवनिर्मिताख्यया प्रथते” यशस्तिलकचम्पू (निर्णयसागर प्रेस, बम्बई), भाग २, पृ० ३१५।

४. जैन, जगदीशचन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ४४।

५. प्रभावकचरित—“बप्पभट्टिसूरिचरितम्” पृ० ८८-१११।

६. स्मिथ, वीसेन्ट—जैन स्तूप एण्ड अदर एन्टीक्वीटीज ऑफ मथुरा (वाराणसी, १९६९ ई०) पृ० ८।

शताब्दी तक यह नगरी जैन धर्म के महान केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रही।^१ मूर्तियों के सिंहासनों और आयागपट्टों पर जो लेख मिले हैं उनमें से कुछ पर कनिष्क, हुविष्क, वासुदेव आदि कुषाण नरेशों के नाम, राज्यकाल आदि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, इससे सिद्ध होता है कि ये ई० सन् के प्रारम्भिक काल के हैं।^२ जैन धर्म के प्राचीन इतिहास की दृष्टि से भी ये लेख बड़े महत्त्व के हैं। इन लेखों में मूर्ति के संस्थापकों ने अपने नाम और राजा के नाम के अलावा अपने धर्म-गुरुओं के नाम, उनके सम्प्रदाय, उपाधि आदि का भी उल्लेख किया है। इन लेखों में अनेक गण, कुल, और शाखाओं के नाम आये हैं जो कल्पसूत्रा की स्थविरावली के गण, कुल और शाखा के समीप हैं। इस कारण इनका और भी महत्त्व बढ़ जाता है।^३

सामाजिक इतिहास की दृष्टि से भी इन लेखों का बड़ा महत्त्व है। इन लेखों में गणिका, नर्तकी, लुहार, गन्धिक, सुनार, ग्रासिक तथा श्रेष्ठी आदि जाति के लोगों के नाम मिलते हैं जिन्होंने मूर्ति आदि का निर्माण प्रतिष्ठा एवं दान-कार्य किये थे। इससे स्पष्ट हो जाता है कि लगभग दो हजार वर्ष पूर्व जैनसंघ में सभी व्यवसायों के लोग धर्मारोधन करते थे।^४ अधिकांश लेखों में दातावर्ग के रूप में स्त्रियों की प्रधानता है। वे बड़े गर्व से अपने माता-पिता, सास-श्वसुर, पुत्र-पुत्री-आदि को आत्मीय बनाती थीं। इन लेखों से^५ यह भी स्पष्ट होता है कि उस समय लोग अपने व्यक्तिवाचक नामों के साथ माता का नाम जोड़ते थे; जैसे वात्सीपुत्र, तेवणीपुत्र, वैहिदरीपुत्र, गोतिपुत्र आदि।^६

यहाँ से प्राप्त एक प्रतिमालेख जो कुषाण सं० ७९ अर्थात् वासुदेव के शासन काल का है, ई० सन् की गणना के अनुसार इस मूर्ति की प्रतिष्ठा ७९+७८=१५७ ई० में हुई थी। इस लेख में देव-

१. स्मिथ-पूर्वोक्त, पृ० ५।

२. वही, पृ० ५।

३. वही, पृ० ६।

४. चौधरी, गुलाबचन्द्र—जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ३, प्रस्तावना, पृ० १४।

५. वही, पृ० १४।

६. वही, पृ० १४।

निर्मितबोद्धस्तूप ऐसा नाम (उक्त स्तूप का) दिया गया है।^१ अर्थात् इस समय तक लोग इसके वास्तविक निर्माता को भूल गये थे और उसे देवों द्वारा निर्मित मानने लगे थे।^२ १६ वीं-१७ वीं शताब्दीके तिब्बती इतिहासकार लामा तारानाथ के अनुसार मौर्यकला, यक्षकला कहलाती थी और इससे पूर्व की कला देवनिर्मित। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने इस स्तूप को ५वीं-६ठीं शती ईसापूर्व का माना है।^३ परन्तु यहाँ से प्राप्त अभिलेखों के आधार पर इसे ईसापूर्व दूसरी शती के पहले का नहीं माना जा सकता।

श्वेताम्बर जैन साहित्य में कालवेशिक मुनि^४, राजषिंख^५, आर्य मंगु^६, आर्यरक्षित,^७ साध्वी कुबेरा,^८ मिथ्यादृष्टि पुरोहित इन्द्रदत्त^९, वसहपुष्यमित्र, घृतपुष्यमित्र, दुर्बलिकपुष्यमित्र,^{१०} श्रेष्ठी जिनदत्त,^{११} श्रावक सुरेन्द्रदत्त^{१२} और उसकी पत्नी राजविध आदि के बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। परम्परानुसार ये मथुरा नगरी से सम्बन्धित थे। जिनप्रभसूरि द्वारा 'मथुरापुरीकल्प' के अन्तर्गत इनका नामोल्लेख करना स्वाभाविक ही है।

ग्रन्थकार ने इस नगरी के ५ लौकिक तीर्थों, ५ स्थलों एवं १२ वनों का जो नामोल्लेख किया है, उनके बारे में ब्राह्मणीय परम्परा

१. विजयमूर्ति पं०—जैनशिलालेखसंग्रह, भाग २, लेखाङ्क ५९।

२. चौधरी, गुलाबचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ८।

३. वही, पृ० ८।

४. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० १७२।

५. वही, पृ० ५९०।

६. वही, पृ० ५९०।

७. वही, पृ० ५९० तथा ६१६।

८. जैन साहित्य में अन्यत्र साध्वी कुबेरा का उल्लेख नहीं मिलता, केवल जिनप्रभसूरि ने अपने विवरण में कुबेरा को यहाँ स्तूप निर्मित करने का श्रेय दिया है।

९. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० ५९०।

१०. वही, पृ० ४७९।

११. वही, पृ० २८५।

१२. वही, पृ० ८३६।

के ग्रन्थों में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं।^१ अतः यह माना जा सकता है कि उन्होंने इस विवरण को उक्त परम्परा के आधार पर ही उल्लिखित किया होगा।

८. रत्नवाहपुर-कल्प

भगवान् धर्मनाथ जैन परम्परा में १५वें तीर्थङ्कर के रूप में मान्य हैं। उनका जन्म कोशल जनपद के अन्तर्गत रत्नवाहपुर नामक नगरी में हुआ था, इसी कारण यह स्थान जैन तीर्थ के रूप में विख्यात हुआ। जिनप्रभसूरि ने भी कल्पप्रदीप में इस नगरी को रत्नवाहपुर नाम से एक जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

जम्बूद्वीप भारतवर्ष के कोशल जनपद के अन्तर्गत घाघरा नदी के तट पर रत्नवाहपुर नामक एक नगरी है। वहाँ इक्ष्वाकुवंशीय राजा भानु के पुत्र के रूप में १५वें तीर्थङ्कर भगवान् धर्मनाथ का जन्म हुआ। उनके माता का नाम सुव्रता था। धर्मनाथ की दीक्षा और केवलज्ञान कल्याणक भी इसी नगरी में सम्पन्न हुए और सम्मेत्-शिखर पर उनका निर्वाण हुआ। बहुत कालोपरान्त एक नागकुमार (जिसकी कथा भी ग्रन्थकार ने संक्षिप्त रूप से इसी कल्प के अन्तर्गत उल्लिखित की है) ने भगवान् धर्मनाथ का एक चैत्यालय बनवाया, जिसमें नागमूर्ति युक्त धर्मनाथ की प्रतिमा विराजमान है। धर्मनाथ के शासन देवता किन्नर और शासन देवी कन्दर्पा का भी ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है।

धर्मनाथ के जन्मस्थान, माता-पिता, पंचकल्याणक आदि के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने जो सूचना दी है वह पूर्व-परम्परा पर आधा-

१. काणे, पी० वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास, (हिन्दी अनुवाद) भाग ३, पृ० १४००-१५०५;

गुप्त, सरयू प्रसाद—महाभारत तथा पुराणों के तीर्थों का आलोचनात्मक अध्ययन, पृ० १३९।

रित है।^१ नागकुमार के सम्बन्ध में जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित कथानक जैन साहित्य में अन्यत्र उल्लिखित नहीं है, अतः इस कथा का स्रोत क्या है? यह कहना कठिन है। जहाँ तक जिनालय और उसमें रखी प्रतिमा का प्रश्न है, यह तो स्पष्ट है कि उक्त प्रतिमा आज लुप्त है। १७वीं शती के श्वेताम्बर आचार्य जयसागर^२ ने यहाँ दो मन्दिरों की चर्चा की है और बतलाया है कि इनमें एक चरणपादुका और ३ जिन-प्रतिमायें विराजमान हैं। सौभाग्य विजय^३ (१७वीं शती ई० सन्) ने भी इस तीर्थ का उल्लेख किया है। इस प्रकार स्पष्ट है कि १७वीं शती में भी यह स्थान तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध था। वर्तमान में यहाँ दोनों सम्प्रदायों के दो-दो जिनालय हैं,^४ परन्तु ये जिनालय और उनमें प्रतिष्ठापित प्रतिमायें वर्तमान युग की हैं।

रत्नवाहपुर को फैजाबाद-बाराबंकी रेलमार्ग पर स्थित सोहावल स्टेशन से २ किमी० दूर सरयू नदी के तट पर स्थित रोनाही नामक ग्राम से समीकृत किया जाता है।^५

९. वाराणसीनगरी-कल्प

वाराणसी नगरी काशी जनपद की राजधानी और भारतवर्ष की अति प्राचीन नगरियों में एक है। पहले इसका नाम काशी था, किन्तु बाद में वाराणसी नाम प्रचलित हुआ। ब्राह्मणाय, बौद्ध और जैन साहित्य में इस नगरी तथा यहाँ से सम्बन्धित अनेक कथानकों का

१. आवश्यकनियुक्ति-३८३;

रयणपुरे धम्मजिणो भाणुणरिदेण सुव्वदाए य ।

माघसिदतेरसीए जादो पुस्सम्मि णक्खत्ते ॥ तिलोयपण्णत्ती ४।५४०

.....धर्मस्तस्था रत्नपुरे प्रसूतः ।—वराङ्गचरित २७/८४

धर्मश्च दधिपर्णश्च भानुराजश्च सुव्रता ।

पुष्यो रत्नपुरं सोऽद्रिर्धर्मं बुद्धि ददातु वः ॥ हरिवंशपुराण ६०।१९६

२. विजयधर्मसूरि—प्राचीनतीर्थमालासंग्रह पृ० ३७

३. वही, पृ० ३७

४. जैन, बलभद्र—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, खंड १, पृ० १६०-६२

५. विजयधर्मसूरि—पूर्वोक्त, पृ० ३७

विस्तृत उल्लेख मिलता है। जैन मान्यतानुसार ७वें तीर्थङ्कर सुपाश्वनाथ एवं २३वें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ का इस नगरी में जन्म हुआ, इसीलिए यह नगरी एक जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हुई। जिन-प्रभसूरि ने भी कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस नगरी का एक जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख किया है और इसके सम्बन्ध में जैन परम्परा और अनुश्रुतियों के रूप में प्रचलित कथानकों एवं इसकी समसामयिक स्थिति का सुन्दर वर्णन किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

‘दक्षिणाद्धं भरतक्षेत्र के मध्य खंड में काशी जनपद स्थित है, जिसकी राजधानी वाराणसी उत्तरवाहिनी गंगा के तट पर बसी हुई है। वरुणा और असी नाम की दो नदियाँ यहाँ गंगा में मिलती हैं, इसीलिए इसका नाम वाराणसी पड़ा। ७वें तीर्थङ्कर भगवान् सुपाश्वनाथ और २३-वें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ का इस नगरी में जन्म हुआ। सुपाश्व-नाथ के पिता का नाम सुप्रतिष्ठ और माता का नाम पृथ्वीदेवी था। पार्श्वनाथ के पिता का नाम अश्वसेन और माता का नाम वामादेवी था। इसी नगरी में रहने वाले जयघोष एवं विजयघोष नामक दो ब्राह्मण भ्राताओं ने प्रसंगवश जैन मुनि की दीक्षा ग्रहण कर ली। नन्द नामक एक नाविक ने मुनि धर्मरुचि की विराधना की, जिसके परिणामस्वरूप उसने छिपकली, हंस और सिंह के रूप में जन्म लिया तथा अन्त में इसी नगरी का राजा हुआ। एक बार पिछले जन्मों का स्मरण आने पर उसने मुनि धर्मरुचि से दीक्षा ले ली। इसी नगरी के तिन्दुक उद्यान में रहने वाले बल नामक एक जैन मुनि ने ब्राह्मणों द्वारा किये गये उपहासों को सहन किया, बाद में ब्राह्मणों ने उनसे अपने कुकृत्यों के लिये क्षमा मांगी। आवश्यकनियुक्ति में यहाँ से सम्बन्धित दो कथायें हैं—पहली कथा नन्दश्री नामक एक जैन साध्वी की है और दूसरी धर्मघोष एवं धर्मयश नामक जैन मुनियों की।

अयोध्या के राजा हरिश्चन्द्र अपना राज्य दान में देकर इस नगरी में अपनी पत्नी और पुत्र के साथ विक्रयार्थ आये।

यहाँ कौट पतंग, पापी मनुष्य, चतुर्विध हत्या करने वाले मनुष्य आदि सभी मृत्योपरान्त शिवपद (मोक्ष) प्राप्त करते हैं। इस नगरी

में ब्राह्मण, परिव्राजक, जटाधारी, योगी तथा चारों दिशाओं से आबे हुए लोग निवास करते हैं; जो रसविद्या, धातुविद्या, खननविद्या, मन्त्र-शास्त्र, तर्कशास्त्र, निमित्तशास्त्र, नाटक, अलंकार, ज्योतिष आदि के ज्ञाता हैं। यह नगरी चार भागों में विभक्त है :—

प्रथम—देववाराणसी—जहाँ विश्वनाथ का मन्दिर है, उसमें २४ तीर्थङ्करों से युक्त एक पाषाण-पट्ट भी रखा हुआ है।

द्वितीय—राजधानीवाराणसी—जहाँ यवन लोग रहते हैं।

तृतीय—मदनवाराणसी और

चतुर्थ—विजयवाराणसी।

यहाँ अनेक लौकिक तीर्थ भी हैं। दण्डखात तालाब के निकट भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म स्थान है। यहाँ से तीन कोश दूर धर्मेशा-स्तूप एवं बौद्ध मन्दिर हैं तथा अढ़ाई योजन पर चन्द्रप्रभस्वामी का जन्मस्थान चन्द्रपुरी स्थित है।”

वाराणसी नगरी काशी जनपद की राजधानी थी।^१ यह आज भी उत्तरवाहिनी गंगातट पर स्थित है। इस नगरी का नाम वाराणसी क्यों पड़ा ? इस सम्बन्ध में जैन साहित्य में कोई चर्चा नहीं मिलती। ग्रन्थकार ने इस सम्बन्ध में जो कारण बतलाये हैं, वे ब्राह्मणीय परम्परा के पुराणों^२ में मिलते हैं, अतः यह माना जा सकता है कि इस बात को उन्होंने वहीं से लिया होगा।

सातवें तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ और तेइसवें तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के

१. प्रज्ञापना ३७; निशीथचूर्णी, भाग २, पृ० ४६६;

सूत्रकृतांगवृत्ति (शीलांक) पृ० १२३

२. काणे, पी० वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास (हिन्दी अनुवाद) खंड ३,

पृ० १३४३;

पाण्डेय, राजबली—हिन्दूधर्मकोश, पृ० ५८६;

पुराणविषयानुक्रमणिका, पृ० ३८५-८६

जन्मस्थान, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने जो सूचना दी है वह भी पूर्व परम्परा^१ पर आधारित है।

जयघोष एवं विजयघोष नामक ब्राह्मण तपस्वियों के सम्बन्ध में हमें उत्तराध्ययनसूत्र, उसकी नियुक्ति और चूर्णी में सविस्तार विवरण प्राप्त होता है।^२ इसी प्रकार नन्द नाविक के सम्बन्ध में जिस कथा का जिनप्रभ ने उल्लेख किया है वह विस्तार-पूर्वक हमें आवश्यक-चूर्णी^३, आख्यानकमणिकोश तथा उसकी वृत्ति^४ में प्राप्त होता है।

१. (i) सुपाश्वर्चनाथ

गम्भगाए जं जणणी जाय सुपासा तओ सुपासजिणो ।

जणणीए चंदपियणंमि, डोहलो तेण चंदाभो ॥

आवश्यकनियुक्ति, सूत्र १०९०

वारणसीए पुहवीसुपइट्टेहि सुपासदेवो य ।

जेट्टस्स सुक्कवारसिदिणम्मि जादो विसाहाए ॥

तिलोयपण्णत्ती ४।५३२

वाराणसौ तौ च सुपाश्वर्पाश्वौ..... । वराङ्गचरित २७।८३

पृथिवी सुप्रतिष्ठोऽस्य काशी वा नगरी गिरिः ।

स विशाखा शिरीषश्च सुपाश्वर्षश्च जिनेश्वरः ॥

हरिवंशपुराण ६०।१८८

(ii) पार्श्वनाथ

आवश्यकनियुक्ति, सूत्र २२१-२३२; २९९, ३८४-३९०

तेणं कालेणं तेणं समएणं पासे अरहा पुरिसादाणीए जे से हेमंताणं दोच्चे

मासे तच्चे पक्खे पोसबहुले तस्स णं पोसबहुलस्स दसमीपक्खेणं नवणं

मासाणं बहुपडिपुण्णाणं अद्धट्टमाणं राइंदियाणं विइक्कंताणं.....

जाव तं होउ णं कुमारे पासे नामेणं ॥ कल्पसूत्र-१५१

हयसेणवम्मिल्लाहि जादो हि वाणारसीए पासजिणो ।

पूसस्स बहुलएक्कारसिए रिक्खे विसाहाए ॥ तिलोयपण्णत्ती ४।५४८

वाराणसी च वर्मा च विशाखा च धवाह्लिपः ।

अश्वसेननृपः पार्श्वं सम्मेदश्च मुदेऽस्तु वः ॥ हरिवंशपुराण ६०।२०४

२. उत्तराध्ययनसूत्र २५।२-३, ५-६; उत्तराध्ययननियुक्ति, पृ० ५२१;

उत्तराध्ययनचूर्णी, पृ० २६८

३. आवश्यकचूर्णी, पूर्व भाग, पृ० ५१६।

४. आख्यानकमणिकोश (मूल तथा वृत्ति, रचनाकाल वि० सं० १२वीं शती)

पृ० २२० (प्रका० प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद।)

इस प्रकार स्पष्ट है कि ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित उपरोक्त दोनों कथानक जैन परम्परा पर आधारित हैं।

जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित बल नामक मुनि की कथा का उल्लेख उत्तराध्ययनसूत्र के १२वें अध्याय में है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणों द्वारा कभी-कभी निम्न जातियों से दीक्षित होने वाले जैन मुनियों का निरादर भी किया जाता था और वे लोग उसे शांतिपूर्वक सहन करते थे। संभवतः साधना में जाति के स्थान पर तप के महत्त्व को दर्शाने वाला एक आदर्श कथानक होने से जिनप्रभ ने इसे उल्लिखित किया है।

आवश्यकचूर्णों की जिन दो कथाओं का ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है, वे आज भी उसी रूप में आवश्यकनिर्युक्ति तथा उसकी चूर्णों में पायी जाती है।

अयोध्या के राजा हरिश्चंद्र के बारे में कल्पप्रदीप के अतिरिक्त जैन साहित्य में अन्यत्र कोई उल्लेख नहीं मिलता। ब्राह्मणीय परम्परा के पुराणों में हरिश्चंद्र की कथा प्राप्त होती है।^२ ग्रन्थकार ने निश्चय ही उन्हीं के आधार पर यह कथा उल्लिखित की है।

काशी-माहात्म्य के सम्बन्ध में जो मान्यता ब्राह्मणीय परम्परा में प्रचलित रही है, उसका ग्रन्थकार ने स्वाभाविक ही खंडन किया है। जैन परम्परा में कर्म सम्बन्धी मान्यता, ब्राह्मणीय परम्परा में प्रचलित कर्म सम्बन्धी मान्यता से भिन्न है अतः एक जैन धर्मावलम्बी मुनि द्वारा ऐसी मान्यताओं का खंडन करना अस्वाभाविक नहीं लगता।

इस नगरी में बसने वाले ब्राह्मणों तथा परिव्राजकों की एक बड़ी संख्या का ग्रन्थकार ने जो उल्लेख किया है, वह यहां आज भी देखी जा सकती है।

जिनप्रभ के इस विवरण की सबसे उल्लेखनीय बात है वाराणसी नगरी का चार भागों में विभाजन। अन्यत्र इस प्रकार के किसी विभा-

१. आवश्यकनिर्युक्ति, गाथा १३०२-१३०६;

आवश्यकचूर्णों—उत्तर भाग, पृ० २०२-२०४।

२. पाण्डेय, राजबली—पुराणविषयानुक्रमणिका, प्रथम भाग, पृ० ४७३।

जन का कोई उल्लेख नहीं मिलता, अतः यह विवरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जा सकता है। देववाराणसी के अन्तर्गत उन्होंने विश्वनाथ के मन्दिर की चर्चा की है और बताया है कि इस मन्दिर में चौबीस तीर्थङ्करों से युक्त एक पाषाणफलक रखा है। चतुरशीतिमहातीर्थनाम संग्रहकल्प के अन्तर्गत उन्होंने विश्वनाथ मन्दिर के मध्य में चन्द्रप्रभ की प्रतिमा होने का उल्लेख किया है।^१ वाराणसी का वर्तमान विश्वनाथ मन्दिर तो १८वीं शती में बना है। हो सकता है कि प्राचीन काशी-विश्वनाथ मन्दिर में जिनप्रतिमायुक्त कोई पाषाणखंड रहा हो। फिर भी एक ब्राह्मणीय परम्परा के मन्दिर में जैन प्रतिमाओं का रखा जाना साधारणतया अस्वाभाविक ही प्रतीत होता है, किन्तु इसे असम्भव भी नहीं कहा जा सकता।

राजधानीवाराणसी जहां यवनों के निवास करने का उल्लेख है, वर्तमान में अलईपुर के आसपास का क्षेत्र हो सकता है। यहां आज भी मुसलमानों की आबादी अधिक है। वाराणसी का वर्तमान मदनपुरा मुहल्ला ही मदनवाराणसी हो सकता है। विजयवाराणसी वर्तमान में छावनी (कैन्टोनमेन्ट क्षेत्र) हो सकता है। चूँकि प्राचीन काल में शहर के बाहर विजयस्कन्धावार, जिसे छावनी भी कहा जाता था, स्थापित किये जाते रहे। इसी आधार पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि वाराणसी का वर्तमान कैन्ट क्षेत्र, जिसे छावनी भी कहते हैं, विजयवाराणसी हो सकता है।

वाराणसी नगरी के अनेक तालाबों एवं दण्डखात नामक तालाब के निकट स्थित पार्श्वनाथ के मन्दिर का उल्लेख अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आज भी इस नगरी में अनेक पक्के तालाब हैं। दण्डखात तालाब के निकट जो पार्श्वनाथ का मन्दिर बतलाया गया है, उसे वर्तमान भेलूपुर मुहल्ले में स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर के ही स्थान पर मानना चाहिए। यहाँ मन्दिर के जीर्णोद्धार हेतु करायी जा रही खुदाई में भगवान् पार्श्वनाथ की एक भव्य एवं प्राचीन प्रतिमा तथा कुछ अन्य जैन प्रतिमायें तथा कलाकृतियाँ प्राप्त हुई हैं। खुदाई करते समय असावधानी से पार्श्वनाथ की प्रतिमा खंडित हो गयी। प्राचीन भारतीय

१. वाराणस्यां विश्वेश्वरमध्ये श्रीचन्द्रप्रभः । विविधतीर्थकल्प, पृ० ८५ ।

स्थापत्यकला के प्रसिद्ध अध्येता प्रो० एम. ए. ढाकी ने इस दुर्लभ प्रतिमा को ई०सन् की ५वीं शती का तथा अन्य कलाकृतियों को ९वीं और ११वीं शती का बतलाया है। मंदिर के व्यवस्थापकों की अज्ञानता-वश यहाँ खुदाई से प्राप्त अनेक मूल्यवान् जैन कलाकृतियां मंदिर की नींव में डाल दी गयीं। यहाँ से प्राप्त पुरावशेषों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि आज जहाँ पार्श्वनाथ का मंदिर है, वहीं ५वीं शताब्दी में भी रहा होगा। दन्तखात तालाब की स्थिति भी यहीं आस-पास मानी जा सकती है।

जिनप्रभसूरि के वाराणसी नगरी सम्बन्धी उक्त विवरण में उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उन्होंने यहां सुपाश्वनाथ के जन्म होने की बात तो कही है, परन्तु यहां के किसी स्थान-विशेष से उसकी पहचान, उसकी अवस्थिति अथवा सुपाश्वनाथ का कोई मंदिर-स्मारक आदि का कोई उल्लेख नहीं किया है। इसी प्रकार वे वर्तमान सारनाथ स्थित बौद्ध आयतन-धर्मेशासंनिवेश (धमेखस्तूप) की तो चर्चा करते हैं, परन्तु वहीं श्रेयांसनाथ के जन्मस्थान के रूप में आज प्रतिष्ठित स्थान का कोई निर्देश नहीं करते।

वाराणसी से धर्मेशास्तूप (धमेखस्तूप) और बौद्ध मंदिर की दूरी भी वही है जो जिनप्रभसूरि ने बतलायी है। उन्होंने चन्द्रपुरी नगरी को वाराणसी से अढ़ाई योजन दूर बतलाया है जो वर्तमान में भी लगभग ३२ किलोमीटर होता है। मध्ययुगीन तीर्थ-यात्रियों ने भी इस तीर्थ का उल्लेख किया है।^१ वाराणसी में आज श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के २० से अधिक जिनालय हैं,^२ परन्तु वे सभी अर्वाचीन हैं।

१०. विन्ध्याचल पर्वत

विन्ध्यपर्वतमाला सामान्य रूप से बिहार प्रान्त की पश्चिमी सीमा से प्रारम्भ होकर अनेक शाखाओं-प्रशाखाओं में विभक्त होकर दक्षिण-पश्चिम दिशा में गुजरात-काठियावाड़ तक पहुँचती है और इस प्रकार

१. विजयधर्मसूरि—प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० १३-१५।

२. तीर्थ-दर्शन खंड १, पृ० ८२-८४।

यह प्रायः सम्पूर्ण मध्यप्रदेश में फैली हुई है। वर्तमान में मिर्जापुर शहर से ६ किमी० दूर स्थित पहाड़ी, जहाँ विन्ध्यवासिनी देवी का एक महिम्न मंदिर है, विन्ध्याचल के नाम से अभिहित की जाती है। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत इस पर्वत का उल्लेख किया है और यहाँ मुनि सुव्रत और श्रीगुप्त के जिनालयों के होने की बात कही है।

जैन साहित्य^१ में विन्ध्याचल पर्वत का उल्लेख तो है, परन्तु जैन तीर्थ के रूप में जिनप्रभ के अलावा किसी अन्य जैन ग्रन्थकार ने इसका उल्लेख ही नहीं किया है। परन्तु यह रोचक है विन्ध्यवासिनी देवी के मंदिर और उसके आसपास की पहाड़ियों पर यत्र-तत्र अनेक जिन प्रतिमाओं के भग्नावशेष मिले हैं।^२ इससे जिनप्रभसूरि की आन्यता का स्वतः ही समर्थन होता है और हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि उनके समय में यहाँ निश्चित रूप से कुछ जिनालय विद्यमान रहें होंगे।

११. श्रावस्तीनगरी-कल्प

श्रावस्ती कुणाला जनपद की राजधानी और प्राचीन भारत की प्रसिद्ध नगरी थी। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इसके बारे में वर्णन प्राप्त होता है। बुद्ध और महावीर ने यहाँ विहार किया था। जैन मान्यतानुसार यहाँ तीसरे तीर्थंकर भगवान् सम्भवनाथ का जन्म हुआ था, इसीलिए यह नगरी जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हुई। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप में इस तीर्थ का उल्लेख करते हुये इस नगरी के सम्बन्ध में जैन परम्परा में प्रचलित कथानकों की चर्चा की है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

१. भगवतीसूत्र ३, २।१४४; १४, ८।५२८; परमचरिउ १०।२७; ३१। १००; आदिपुराण २९।८८।
२. मुनिकान्तिसागर—खोज की पंगडंडियां (भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा ई० सन् १९६० प्रकाशित), पृ० २२२-२७। मुनि जी ने इन अवशेषों को ई० सन् ५वीं शती से १२वीं शती तक का बतलाया है।

“दक्षिणाढ्यं भारतवर्ष के कुणाला जनपद में श्रावस्ती नामक नगरी अब “महेठ” के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ तीसरे तीर्थंङ्कर सम्भवनाथ के चप्रवन, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये चार कल्याणक सम्पन्न हुए हैं। २४वें तीर्थंङ्कर महावीर स्वामी ने अपना एक वर्षावास इसी नगरी में व्यतीत किया। यहीं के तिन्दुक नामक उद्यान में महावीर स्वामी के गणधर गौतम और पार्श्वनाथ की परम्परा के अनुयायी केशीकुमार के मध्य सैद्धान्तिक नियमों की चर्चा हुई। महावीर का शिष्य और उनकी पुत्री प्रियदर्शना का पति जामालि इसी नगरी में स्थित कोष्ठक चैत्य में प्रथम निह्वन हुआ। कौशाम्बी नरेश जितशत्रु के पुरोहित काश्यप और उनकी पत्नी यक्षा को कपिल नामक एक पुत्र था। पिता के मृत्यो-परान्त वह उनके मित्र इन्द्रदत्त उपाध्याय, जो श्रावस्ती में रहते थे, के पास अध्ययनार्थ गया और वहाँ शालिभद्र नामक एक श्रेष्ठी के घर रहने लगा। कपिल वहाँ पर अपनी सेवा के लिये नियुक्त दासी पर आसक्त हो गया और उसके कथनानुसार दो मासे स्वर्ण की याचना करने लगा। उसी समय उसे ज्ञान उत्पन्न हो गया और स्वयंबुद्ध वा पद प्राप्त किया एवं बाद में ५०० चोरों को प्रतिबोध देकर सिद्धि प्राप्त की। यहाँ के राजा जितशत्रु और रानी धारिणी के पुत्र स्कन्दाचार्य का इसी नगरी में जन्म हुआ। एक बार स्कन्दाचार्य अपने ५०० शिष्यों के साथ कुम्भकार-कड नगर जा रहे थे जहाँ पालक ने इन्हें और इनके सभी शिष्यों को कोल्हू में पिला दिया। इसी नगरी के एक अन्य राजा जितशत्रु के पुत्र भद्र ने प्रवज्या ले ली और घूमते-घूमते शत्रुदेश में चला गया जहाँ राजपुरुषों द्वारा उसे चोर समझ कर उसके शरीर पर कांटों वाली घास से स्पर्श करा अंग-भंग किया गया। परन्तु इस प्रकार कष्ट पाते हुए उन्हें मुक्ति प्राप्त हो गयी। राजगृह आदि नगरियों की भांति इस नगरी में भी ब्रह्मदत्त का आगमन हुआ था। इसी नगरी में अजितसेनाचार्य का शिष्य क्षुल्लककुमार प्रसंगवश अपने पत्नी, युवराज, सार्थवाह और मन्त्री के साथ प्रतिबोधित हुआ। इस प्रकार इस नगरी में अनेक घटनायें घटित हो चुकी हैं।”

जैन परम्परानुसार सम्भवनाथ तीसरे तीर्थंङ्कर थे। इनके माता-पिता, जन्मस्थान, कल्याणक आदि के सम्बन्ध में जैन

साहित्य^१ में विस्तृत से चर्चा प्राप्त होती है। महावीर का कई बार इस नगरी में आगमन हुआ और अपना १०वाँ वर्षावास भी उन्होंने यहीं व्यतीत किया।^२ जैन ग्रन्थों में यहां स्थित तिन्दुक उद्यान और कोष्ठक चैत्य का उल्लेख प्राप्त होता है।^३ उत्तराध्ययनसूत्र^४ से ज्ञात होता है कि तिन्दुक उद्यान में ही महावीर के प्रधान गणधर गौतम स्वामी और पार्श्वनाथ की परम्परा के केशीकुमार के मध्य चातुर्याम

१. [अ] आवश्यकनिर्युक्ति, सूत्र-३८५

आवश्यकसूत्रवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २३७ और आगे

[ब] सावत्थीए संभवदेवो य जिदारिणा सुसेणाए ।

मग्गसिरपुण्णिमाए जेट्टारिक्खम्मि संजादो ॥

तिलोपण्णत्ती ४५२८

श्रावस्तिकः स्याज्जिनसंभवश्च ।

वराङ्गचरित (जटासिंहनंदि) २७।८२

श्रावस्ती संभवः सेना जितारिः शाल पादपः ।

ज्येष्ठा नक्षत्रमेनांसि संमेदश्च पुनन्तु वः ॥

हरिवंशपुराण (जिनसेन) ६०।१८४

द्वीपेऽस्मिन् भारते वर्षे श्रावस्तिनगरेशिनः ।

उत्तरपुराण (गुणभद्र) ४९।१४

सम्भवे तव लोकानां शं भवत्यद्य शम्भव ।

वही ४९।२०

२. सावत्थीए वासं चित्ततवो साणुलट्ठि बहिं ॥ आवश्यकनिर्युक्ति, सूत्र-४९५

तदनन्तरं भगवान् श्रावस्त्यां वर्ष-दशमं वर्षारात्रं कृतवान्, ।

आवश्यकसूत्रवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २८७ और आगे

३. तिन्दुयं नाम उज्जाणं । उत्तराध्ययनसूत्र, २३।४

कोट्टगं नाम उज्जाणं । वही, २३।८

..... सामिणा अणणुण्णातो सावत्थि गतो पंचसतपरिवारो, तत्थ तेन्दुगुज्जाणे कोट्टगे चेतिते समोसडो, ।

आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ४९६

४. अह ते तत्थ सीसाणं विन्नाय पवितक्कियं ।

समागमे कयमई उभओ केसि-गोयमा ॥ उत्तराध्ययनसूत्र २३।१४

एवं पंचमहाव्रतों के सम्बन्ध में ऐतिहासिक चर्चा हुई। महावीर का जामाता और शिष्य जामालि इसी नगरी के कोष्ठक चैत्य में जैन सिद्धान्तों की सत्यता के सम्बन्ध में शंका प्रकट कर प्रथम निह्वव हुआ।^१ यह घटना महावीर के कैवल्य-प्राप्ति के १४ वर्षों पश्चात् घटित हुई मानी जाती है।^२

कौशाम्बी नरेश जितशत्रु के पुरोहित काश्यप-पुत्र कपिल के सम्बन्ध में जैन साहित्य^३ में विस्तार से चर्चा है इसी प्रकार जिनप्रभ द्वारा स्कन्दाचार्य, भद्र, ब्रह्मदत्त और क्षुल्लककुमार आदि के सम्बन्ध में उल्लिखित कथानकों की जैन परम्परा^४ में विस्तार से चर्चा प्राप्त हो जाती है। परन्तु ये कथानक इतिहास की दृष्टि से महत्त्वहीन हैं।

जिनप्रभ ने यहाँ स्थित सम्भवनाथ जिनालय और उसे अलाउद्दीन खिलजी के हब्बस नामक सेनापति द्वारा नष्ट किये जाने की जो चर्चा की है; वह घटना उनके समसामयिक होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने यहाँ स्थित बौद्ध स्मारकों का भी उल्लेख किया है। प्राचीन काल में यह नगरी बौद्ध धर्म के केन्द्र के रूप में विख्यात रही।^५ बौद्धों का प्रसिद्ध जेतवनविहार भी यहीं स्थित था। चीनी यात्रियों ने भी यहाँ बौद्ध संघारामों के उपस्थिति की सूचना दी है।^६ जिनप्रभ ने इस नगरी के समुद्रवंशीय और बौद्ध धर्मावलम्बी जिन राजाओं का

१. जिट्ठा सुदंसण जमालिऽणुज्ज सावत्थि तिट्ठुगुज्जाणे ।

पंच सया य सहस्सं ढकेण जमालि मुत्तूणं ॥ आवश्यकभाष्य-१२६
जमालिप्रभवानां निह्ववानां उत्पत्तिस्थानं श्रावस्ती, ।

आवश्यकसूत्रवृत्ति (मलयगिरि) पृ० ४०१

२. चउदस वासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।

तो बहुरयाण टिट्ठी सावत्थी समुप्पन्ना ॥ आवश्यकभाष्य-१२५

३. उत्तराध्ययननिर्युक्ति, पृ० २३७-३८

उत्तराध्ययनचूर्णी, पृ० १६९;

४. द्रष्टव्य—मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० ७८०-८१ ।

५. मलालशेकर—पालिप्रापरनेम्स, भाग २, पृ० ११२६ ।

६. वही ।

उल्लेख किया है,^१ वे स्थानीय सामन्त शासक रहे होंगे। ग्रन्थकार के समय इस नगरी का नाम महेठ था, आज भी इसे सहेठ-महेठ ही कहते हैं। यहाँ गहडवाल युग का ईंटों से निर्मित एक ध्वस्त मंदिर विद्यमान है, जिसे शोभनाथ का मंदिर कहा जाता है।^२ शोभनाथ संभवनाथ का ही अपभ्रंश है। इस मंदिर की खुदाई से कई तीर्थङ्कर प्रतिमायें, स्तम्भ, तोरण आदि प्राप्त हुए हैं।^३ सभी पुरावशेष ९वीं से १२वीं शती तक के हैं और आज लखनऊ तथा मथुरा के संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि १२वीं शती तक यह एक समृद्ध नगरी के रूप में प्रतिष्ठित रही। मुस्लिम शासन के दौरान इसका महत्त्व कम होने लगा और अलाउद्दीन खिलजी के आक्रमण से तो यह नगरी सदैव के लिये उजड़ गयी।

उत्तर प्रदेश के गोंडा जिलान्तर्गत राप्ती नदी (प्राचीन अचिरावती) के तट पर स्थित यह प्राचीन नगरी आज सहेठ-महेठ के नाम से जानी जाती है।^४ यहाँ दोनों सम्प्रदायों के जिनालय हैं, जो अर्वाचीन हैं।

१२. शौरीपुर

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत शौरीपुर का उल्लेख किया है और यहाँ नेमिनाथ के मंदिर होने की चर्चा की है।

१. दसवीं-ग्यारहवीं शती में यहाँ जैन धर्मावलम्बी शासक राज्य करते रहे। इसी वंश के एक शासक "मुहदध्वज" ने महमूद गजनवी के सालार (सेनापति) को परास्त कर मार डाला था। (जैनसत्यप्रकाश, वर्ष ७, पृ० २७८-२८२)। जिनप्रभसूरि द्वारा इस राजवंश का उल्लेख न करना आश्चर्यजनक है।
२. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया—वार्षिक रिपोर्ट, ई० सन् १९०७-१९०८, पृ० ८२-१३१।
३. वही।
४. जैन, जगदीशचन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ४०।

शौरीपुर कुशावतं जनपद की राजधानी थी।^१ जैन परम्परानुसार^२ इस नगरी में श्रीकृष्ण और उनके चचेरे भाई नेमिनाथ का जन्म हुआ था। जैन साहित्य में इस नगरी का उल्लेख प्राप्त होता है।^३ मध्य-युगीन श्वेताम्बर^४ और दिगम्बर^५ ग्रन्थकारों ने भी इस नगरी का उल्लेख किया है। प्रसिद्ध श्वेताम्बराचार्य अकबरप्रतिबोधक हीर-विजयसूरि के आगमन के समय इस तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया गया। यहाँ आस-पास के क्षेत्रों से मध्ययुगीन जैन प्रतिमायें भी मिली हैं^६, जिनके आधार पर कहा जा सकता है कि मध्य युग में यह स्थान तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध रहा होगा। यहाँ श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के अलग-अलग मंदिर विद्यमान हैं। दिगम्बर मंदिर की प्रतिष्ठा वि०सं० १७२४ में भट्टारक विद्याभूषण द्वारा सम्पन्न की गई, यह बात उक्त मंदिर में उत्कीर्ण लेख से ज्ञात होती है।^७ इन मन्दिरों में मध्ययुगीन और नवीन जिन प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं।^८

१. प्रज्ञापनासूत्र-३७;

सूत्रकृताङ्गवृत्ति (शीलाङ्क) पृ० १२३

२. [अ] कल्पसूत्र-१७१;

तीर्थोदगारित-५११;

ओघनियुक्ति-वृत्ति (द्रोणाचार्य), पृ० ११९

[ब] सउरीपुरम्मि जादो सिवदेवीए समुद्रविजएण ।

वइसाहतेरसीए सिदाए चित्तासु णेमिजिणो ॥

तिलोयपण्णत्ती ४१५४७

अरिष्टनेमिः किल शौर्यपुर्या ।

वराङ्गचरित २७।८५

नेमिः सूर्यपुरं चित्रा समुद्रविजयः शिवा ।

ऊर्जयन्तो जयं तेऽमी मेषशृङ्गो दिशन्तु वः ॥

हरिवंशपुराण ६०।२०३

३. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० ८६९

४. विजयधर्मसूरि—प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ३८

५. जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १७७

६. जैन, बलभद्र—भारतवर्ष के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग १, पृ० ७४-७६

७. वही, पृ० ७१ ।

८. वही, पृ० ७१-७३; तीर्थदर्शन—प्रथम खंड, पृ० १२७-२९ ।

यह स्थान कानपुर-आगरा रेलमार्ग पर स्थित शिकोहाबाद स्टेशन से १४ मील दूर 'बटेश्वर' नामक ग्राम के निकट स्थित है।^१

१३. हस्तिनापुर-कल्प

'हस्तिनापुर' कुरु जनपद की राजधानी और प्राचीन भारतवर्ष की प्रमुख नगरियों में से एक थी। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इस नगरी का विशद् विवरण मिलता है। जैन मान्यतानुसार यहाँ १६वें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ, १७वें कुन्थुनाथ और १८वें अरनाथ का जन्म हुआ, इसीलिये यह नगरी एक जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध है। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ पर दो स्वतंत्र कल्प लिखे हैं, जिनमें इस तीर्थ के सम्बन्ध में जैन परम्परा में प्रचलित मान्यताओं की चर्चा है। उनके दोनों विवरणों—'हस्तिनापुरकल्प' और 'हस्तिनापुरतीर्थस्तव' में प्रायः समान बातों की चर्चा है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

“ऋषभदेव के १००पुत्रों में एक कुरु भी थे उन्हीं के नाम पर कुरु-क्षेत्र बसाया गया। कुरु के पुत्र का नाम हस्तिन् था, जिसने हस्तिनापुर नामक नगर बसाया। इसी नगरी में बाहुबलि के पुत्र श्रेयांसनाथ ने ऋषभदेव को प्रथम पारणा कराया। शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ, जो क्रमशः १६वें, १७वें और १८वें तीर्थङ्कर थे, के च्यवन, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये ४ कल्याणक इसी नगरी में सम्पन्न हुए। सम्मत्तशिखर से इन्होंने निर्वाण पाया। इनके पंच कल्याणकों की तिथियाँ इस प्रकार हैं—

च्यवन—

भाद्रपद कृष्ण ७, भाद्रपद शुक्ल ९ और फाल्गुन शुक्ल २।

जन्म—

ज्येष्ठ कृष्ण १३, वैशाख कृष्ण १४ और मार्गशीर्ष शुक्ल १०।

दीक्षा—

ज्येष्ठ कृष्ण १४, वैशाख कृष्ण ५ और माघ शुक्ल ११।

१. जोहरापुरकर—पूर्वोक्त, पृ० १७७।

केवलज्ञान—

पौष कृष्ण ९, चैत्र शुक्ल ३ और ऊर्ज शुक्ल १२ ।

निर्वाण—

ज्येष्ठ कृष्ण १३, वैशाख शुक्ल १५ और मार्गशीर्ष शुक्ल १० ।

इसी नगरी में विष्णुकुमार ने नमुचि के राज्य को ३ पगों में नाथ लिया था । सनत्कुमार, महापद्म, सुभूम और परशुराम आदि महा-पुरुष, कौरव-पाण्डव आदि राजा तथा गंगदत्त एवं कार्तिक श्रेष्ठी इसी नगरी से सम्बन्धित थे ।

यहाँ गगातट पर शान्तिनाथ, कुन्धुनाथ, अरनाथ तथा अम्नादेवी के चैत्यालय हैं । शक सम्वत् १२५३ वैशाख शुक्ल तृतीया को मैंने (जिन प्रभ ने) तीर्थयात्रीसंघ के साथ यहाँ की यात्रा की ।”

जैन साहित्य में ऋषभदेव के १०० पुत्रों में कुरु का, जिन्हें कुरुक्षेत्र बसाने का श्रेय दिया जाता है, उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु हस्तिन् की जिसे जिनप्रभ ने कुरु का पुत्र बतलाया है, कोई चर्चा प्राप्त नहीं होती । ब्राह्मणीय परम्परानुसार^२ भरतदौषयन्ति के पुत्र हस्तिन् के नाम पर इस नगरी का नाम हस्तिनापुर पड़ा । जिनप्रभसूरि ने कुरु और हस्तिन् में पिता-पुत्र का सम्बन्ध किस आधार पर स्थापित कर दिया है, कहा नहीं जा सकता । इसी प्रकार श्रेयांसनाथ, जिन्होंने ऋषभदेव को प्रथम पारणा कराया था, किसके पुत्र थे ? इस प्रश्न पर जैन ग्रन्थकारों में मतभेद है । आवश्यकचूर्णी^३ में उन्हें ऋषभदेव का पौत्र और भरत चक्रवर्ती का पुत्र बतलाया गया है । इसके विपरीत आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि-१२वीं शती)^४ में उन्हें बाहुबलि का

१. कल्पसूत्रवृत्ति (धर्मसागर) पृ० १५१

कल्पसूत्रवृत्ति (वितयविजय) पृ० ३३६

२. पाण्डेय, राजबली—पुराणविषयानुक्रमणिका, पृ० ४७६

३. छउमत्थो य वरिसं बहलीअं डबइल्लेहि विहरिऊणं गजपुरं गतो, तत्थ भरहस्स पुत्तो सेज्जंसो—

आवश्यकचूर्णी, पूर्व भाग, पृ० १६२

४. कुरुजणवए गयपुरं नाम नगरं, तद्ध बाहुबलिपुत्तो, सोमप्पभो राया, तस्स पुत्तो सेज्जंसो जुवराया ।

आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २१७

पुत्र और सोमप्रभ का पुत्र बतलाया गया है, जबकि जिनप्रभ ने उन्हें बाहुबलि का पुत्र बतलाया है।

शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ के जन्म आदि कल्याणकों सम्बन्धी विवरण जैन परम्परा पर आधारित हैं। दोनों सम्प्रदायों के ग्रन्थों में इनका विस्तार से उल्लेख मिलता है।^१

जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित विष्णुकुमार और नमुचि सम्बन्धी कथा की चर्चा श्वेताम्बर परम्परा^२ के ग्रन्थों में मिलती है। यह कथा ब्राह्मणीय परम्परा में प्रचलित विष्णु और बलि की कथा का जैन रूपान्तर है।^३ जैनों ने बलि को नमुचि कहा है।

श्वेताम्बर जैन परम्परा^४ में सनत्कुमार, महापद्म और सुभूम की गणना चौथे, आठवें और नवे चक्रवर्ती के रूप में की जाती है और उन्हें इसी नगरी से सम्बन्धित बतलाया गया है। जिनप्रभसूरि ने भी यही बात कही है। इसी प्रकार परशुराम की कथा आवश्यकचूर्णी^५ और विशेषावश्यकभाष्य^६ में प्राप्त होती है। पाण्डव पाण्डु के पुत्र और हस्तिनापुर के राजा थे। जैन ग्रन्थों^७ में इनके बारे में विस्तार से चर्चा मिलती है।

१. [अ] तीर्थोदगारित—५०५-७०; उत्तराध्ययनवृत्ति (कमलसंयम)

पृ० ३३२

[ब] तिलोपपण्णत्ती ४।५४०-४३

अरश्च कुन्थुश्च तथैव शान्तिस्त्रयोऽपि ते नागपुरे प्रसूताः ॥

वराङ्गचरित २७।८५

हरिवंशपुराण ६०।१९७-१९९

उत्तरापुराण ६४।१२; ६५।१४; ६३।३४३

२. अमरचन्द्र—हस्तिनापुर (वाराणसी १९५२) पृ० २०-२१।

३. सेक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट-जिल्द ४५, पृ० ८६, पादटिप्पणी १ में जैकोबी का मत।

४. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० ८७३।

५. आवश्यकचूर्णी-पूर्वभाग, पृ० ५२०-५२१।

६. विशेषावश्यकभाष्य—३५७५।

७. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० ८७३।

गंगदत्त और कार्तिक श्रेष्ठी के सम्बन्ध में भगवतीसूत्र में विस्तार से विवरण प्राप्त होता है। वहाँ इन्हें हस्तिनापुर का निवासी बतलाया गया है। इन्होंने मुनिसुव्रत से दीक्षा ली और मोक्ष प्राप्त किया।^१

जैसा कि पहले कहा जा चुका है जिनप्रभसूरि ने शक सं० १२५३ वैशाख शुक्ल ६ को संघ के साथ इस तीर्थ की यात्रा की थी। कन्यानयनीयमहावीरकल्पपरिशेष से जो उनके शिष्य विद्यातिलक द्वारा लिखित है, ज्ञात होता है कि जिनप्रभ ने हस्तिनापुर तीर्थ की यात्रा चाहइशाह के पुत्र बोहित्य के तीर्थयात्री संघ के साथ की थी और इस यात्रा के लिये उन्होंने स्वयं सुल्तान मुहम्मदतुगलक से फरमान भी प्राप्त किया था।

ग्रंथकार ने अपने समय में यहां गंगातट पर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ, अरनाथ और अम्बिका देवी के चैत्यालय होने का जो उल्लेख किया है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। ऐसा भी उल्लेख मिलता है कि इस यात्रा के दौरान उन्होंने जिनालयों में मूर्तियां भी प्रतिष्ठित कीं।^२ यद्यपि यहाँ आज जिनप्रभसूरि के समय का कोई जिनालय तो विद्यमान नहीं है फिर भी यहां पर जो उत्खनन कार्य हुए हैं उनसे स्पष्ट होता है कि १४वीं शती में यहां जैन धर्म विद्यमान था। इस सम्बन्ध में यहां से उत्खनन में प्राप्त ऋषभदेव की ध्यानावस्थित प्रतिमा का उल्लेख किया जा सकता है।^३ परवर्ती काल में भी यहां जैनों का अस्तित्व रहा, क्योंकि उत्तर-मध्ययुगीन जैन ग्रन्थकारों ने इस तीर्थ का उल्लेख किया है।^४

वर्तमान में यहां श्वेताम्बरों और दिगम्बरों के अलग-अलग जिनालय हैं जो वर्तमान युग के हैं।^५ यह तीर्थ मेरठ जिले में अबस्थित है और आज भी अपने पुराने नाम से ही प्रसिद्ध है।^६

१. भगवतीसूत्र १६।५।५७७; १८।२।६१८।

२. द्रष्टव्य—कल्पप्रदीप (विविधतीर्थकल्प) के अन्तर्गत “कन्यानयनीयमहावीरप्रतिमाकल्प”।

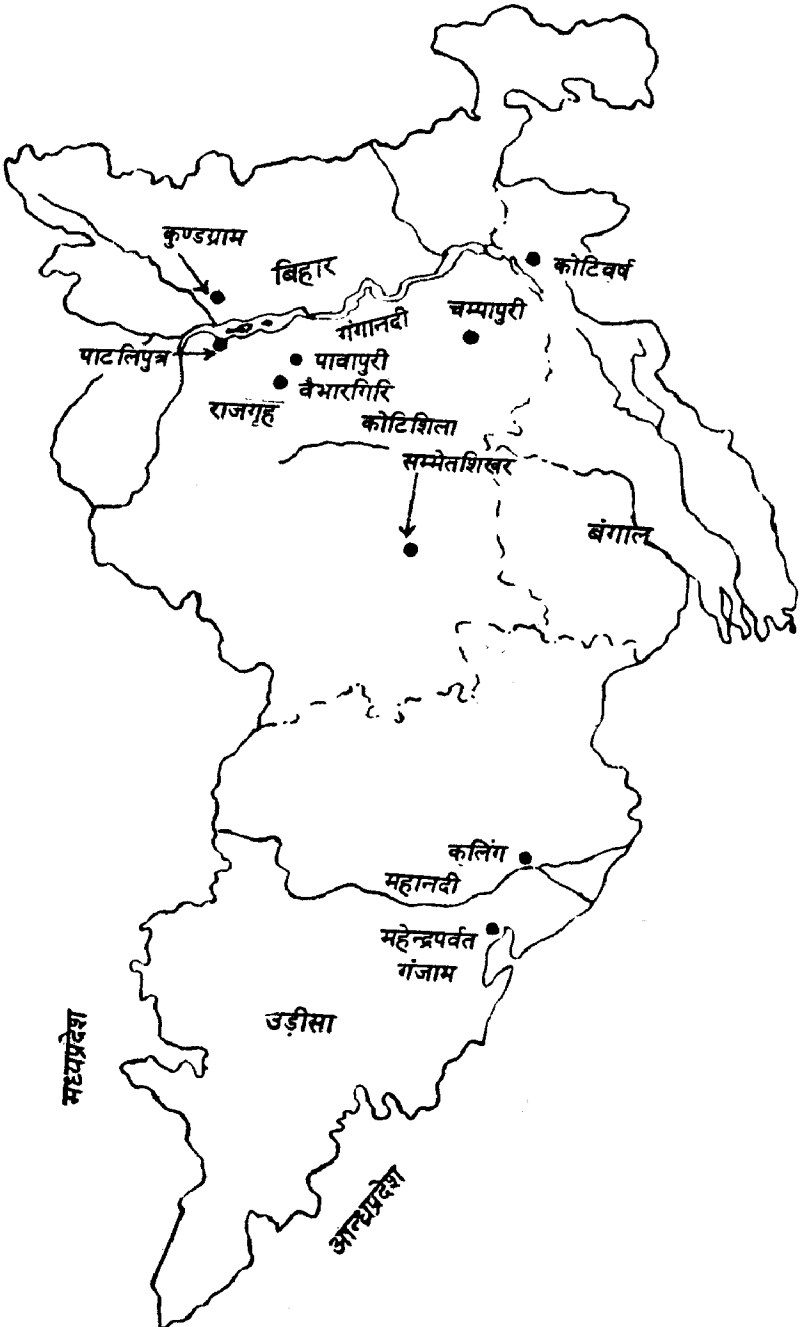
३. एन्शेन्ट इंडिया, जिल्द १०, पृ० ९०।

४. विजयधर्मसूरि,—प्राचीनतीर्थमालासंग्रह पृ० ३९-४०।

५. तीर्थदर्शन-खंड १, पृ० १२०-१२३।

६. जैन, जगदीशचन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ४६।

पूर्व भारत (बंगाल, बिहार, उड़ीसा)



अध्याय-६

पूर्व भारत

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस अध्याय में पूर्व भारत [बिहार, बंगाल और उड़ीसा] के तीर्थों को सम्मिलित किया गया है। अब इन प्रान्तों के तीर्थों का अलग-अलग वर्णक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत है—

[अ] बिहार

- १—कुण्डग्राम
- २—कोटिशिला
- ३—चम्पापुरी
- ४—पाटलिपुत्र
- ५—पावापुरी
- ६—मिथिला
- ७—वैभारगिरि
- ८—सम्मेतशिखर

[ब] बंगाल

- १—कोटिभूमि
- २—पुण्ड्रपर्वत

[स] उड़ीसा

- १—कलिङ्ग देश
- २—माहेन्द्र पर्वत

पूर्व भारत

अ—बिहार

- १—कुण्डग्राम
- २—कोटिशिला
- ३—चम्पापुरी
- ४—पाटलिपुत्र

- ५—पावापुरी
- ६—मिथिला
- ७—वैभारगिरि
- ८—सम्मेतशिखर

१. कुण्डग्राम

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत महावीर स्वामी के जन्मस्थान कुण्डग्राम का भी उल्लेख किया है और यहाँ एक जिनालय होने की बात कही है।

महावीर स्वामी का वैशाली के एक उपनगर कुण्डग्राम में जन्म हुआ था, उनके पिता सिद्धार्थ कुण्डपुर के राजा थे और उनकी माता त्रिशला वैशाली के राजा चेटक की बहन थीं। महावीर के समय कुण्डपुर दो भागों में विभक्त था, एक ब्राह्मणकुण्डपुर कहलाता था और दूसरा क्षत्रियकुण्डपुर। इसी क्षत्रियकुण्डपुर में महावीर का जन्म हुआ था। कुण्डपुर को प्रायः कुण्डग्राम के नाम से भी उल्लिखित किया गया है। कुण्डपुर की भौगोलिक स्थिति के बारे में उत्तर-कालीन जैन परम्परा में भ्रान्ति पायी जाती है।^१ दिगम्बर परम्परा में उनका जन्मस्थान नालन्दा के समीप कुण्डलपुर को माना गया है^२ जब कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय ने मुंगेर जिले में स्थित लछुआड़ के समीप क्षत्रियकुण्ड को उनकी जन्मभूमि होने का सम्मान दिया है।^३ वस्तुतः जैन आगमों और पुराणों में उनकी जन्मभूमि के सम्बन्ध में जो उल्लेख प्राप्त होते हैं वे उक्त दोनों स्थानों में से किसीसे सबन्धित नहीं लगते। दोनों ही परम्पराओं में महावीर की जन्मभूमि कुण्डपुर को विदेह जनपद में स्थित माना गया है और इसीलिए उन्हें विदेहपुत्र, विदेहमुकुमार आदि उपनाम दिये गये हैं तथा स्पष्ट रूप से यह भी बतलाया गया है कि उनके गृहस्थ जीवन के ३० वर्ष विदेह में ही व्यतीत हुए। जिस-प्रकार कोशल के निवासी होने से ऋषभदेव कोशलीय कहे जाते रहे, उसी प्रकार वैशाली के निवासी होने के कारण महावीर को भी 'वैशालीय' उपाधि सहित आगमों में उल्लिखित किया गया है^४। इसी लिये आधुनिक विद्वान इस समय मान्य दोनों कुण्डग्रामों में किसी को भी सही न मान कर वैशाली को ही महावीर की जन्मभूमि मानते हैं।^५ वैशाली की पहचान मुजफ्फरपुर जिले के बसाढ़ नामक स्थान से की

१. उपाध्याय, बलदेव—'भगवान् महावीरः वैशाली की दिव्य विभूति' वैशालीअभिनन्दनग्रन्थ, पृ० २३७-२४२
२. जैन हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, पृ० २२
३. दूगड़, हीरालाल—श्रमण भगवान् महावीर का जन्मस्थान-क्षत्रियकुण्ड (मगध जनपद) पृ० ३५
४. वैशालीअभिनन्दनग्रन्थ, पृ० २४०
५. मुनि कल्याणविजय—श्रमणभगवान् महावीर (कल्याण विजय शास्त्र-संग्रह समिति, जालोर, वि० सं० १९९८ / ई० सन् १९४९) भूमिका, पृ० २५-२८

जाती है। यहां राजा विशाल का गढ़ नामक एक टीले से अनेक प्राचीन अवशेष मिले हैं। इसी के समीप ही वसुकुंड नामक एक ग्राम है, जहाँ के निवासी परम्परा से एक स्थल को भगवान् की जन्मभूमि मानते आये हैं और उसपर कभी हल नहीं चलाया गया है। वैशाली से प्राप्त एक मुहर पर “वैशाली नाम कुण्डे” लिखा है।^१ इन सब प्रमाणों के आधार पर विद्वानों ने इसी वसुकुंड को प्राचीन कुण्डग्राम और महावीर की सच्ची जन्मभूमि मानी है। जहाँ तक जिनप्रभसूरि के उल्लेख का प्रश्न है, यह कहा जा सकता है कि उन्होंने सहज ही कुण्डग्राम का उल्लेख किया है और वहाँ महावीर के जिनालय होने की बात कही है, परन्तु उसकी भौगोलिक स्थिति के बारे में वे मौन हैं। कुण्डग्राम के नामोल्लेखमात्र के आधार पर यह कहना कठिन है कि १४वीं शती में प्राचीन और वास्तविक कुण्डग्राम की ही जन्मभूमि के रूप में मान्यता थी अथवा उसके स्थान पर नये कुण्डग्रामों की कल्पना कर ली गयी थी !

२. कोटिशिला तीर्थ

द्विगम्बर जैन परम्परानुसार कोटिशिला सिद्धक्षेत्र है। यहाँ से कई कोटि मुनि सिद्ध हुए हैं। जिनप्रभसूरि ने इस तीर्थ पर एक स्वतंत्र कल्प की रचना की है, जिसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“भरत क्षेत्र के मगध देश में कोटिशिला स्थित है, जो आज भी चारण, सुर, असुर आदि द्वारा पूजित है। यह पर्वत १ योजन ऊँचा और इतना ही चौड़ा है। ९ वासुदेवों ने इसे उठाकर अपनी-अपनी शक्ति का परीक्षण किया था। प्रथम वासुदेव ने इसे छत्र रूप में धारण किया (उठाया), दूसरे ने मस्तक तक, तीसरे ने ग्रीवा तक, चौथे ने बक्षस्थल तक, पाँचवें ने उदर तक, छठें ने कटिप्रदेश तक, सातवें ने जांघों तक, आठवें ने जानुपर्यन्त और नवें कृष्णवासुदेव ने उसे १ अंगुल उठाया। अवसर्पिणी काल के प्रभाव से मनुष्यों का बल कम हो जाता है, परन्तु तीर्थङ्करों का बल सदैव समान रहता है।

शान्तिनाथ के प्रथम गणधर चक्रायुध इसी पर्वत पर मुक्त हुए थे। शान्तिनाथ और कुन्धुनाथ के समय यहाँ १-१ कोटि मुनि सिद्ध

१. जैन, हीरालाल, पूर्वोक्त, पृ० २४

हुए। इसी प्रकार अरनाथ, मलिग्नाथ, सुव्रतनाथ और नमिनाथ के समय में यहां क्रमशः १२, ६, ३ और १ कोटि मुनि सिद्ध हुए। इसके अलावा अन्य कई कोटि मुनि भी यहाँ सिद्ध हुए, इसीलिए इसका नाम कोटिशिला पड़ा। पूर्वाचार्यों ने इसे दशार्ण पर्वत के समीप स्थित बतलाया है, परन्तु यह मगध देश में ही स्थित है।”

दिगम्बर परम्परा के ग्रंथ हरिवंशपुराण^१—(जिनसेन, ई० सन् ८वीं शती) में कोटिशिला के संबंध में वही विवरण प्राप्त होता है, जिसका जिनप्रभ ने उल्लेख किया है। अतः उनके कोटिशिलातीर्थ संबंधी विवरण का आधार उक्त ग्रंथ माना जा सकता है।

कोटिशिला की स्थिति के बारे में प्राचीनकाल से ही मतभेद रहा है। जिनप्रभसूरि ने अपने पूर्वाचार्यों के मतों का, जिनके अनुसार यह तीर्थ

१. वर्षेरष्टभिरिष्टार्थैर्व्यमानोऽनुवासरम् ।
जितजेयो ययौ कृष्णः स कोटिकशिलां प्रति ॥
यतस्तस्यामुदारायामनेका ऋषिकोटयः ।
सिद्धास्ततः प्रसिद्धात्र लोके कोटिकशिला शिला ॥
शिलायां तत्र कृत्वादौ पवित्रायां बलिक्रियाम् ।
दोर्भ्यामुत्क्षिपतिस्मासौ विष्णुस्तां चतुरङ्गुलम् ॥
सा शिला योजनोच्छ्राय समायोजनविस्तृता ।
अर्धभारतवर्षस्थदेवतापरिरक्षिता ॥
तद्बाहुनोर्ध्वमुत्क्षिप्ता त्रिपृष्ठेन शिला पुरा ।
मूर्द्धदध्नं द्विपृष्ठेन कण्ठदध्नं स्यम्भुवा ॥
वृक्षोद्वयमुत्क्षिप्ता च पुरुषोत्तमचक्रिणा ।
क्षिप्ता पुरुषसिंहेन हृदयावधि हारिणी ॥
पुण्डरीकः कटीमात्रमूर्द्धदध्नं हि दत्तकः ।
जानुमात्रं च सौमित्रिः कृष्णोऽधाच्चतुरङ्गुलम् ॥
प्रधानपुरुषादीनां सर्वेषां हि युगे युगे ।
भिद्यते कालभेदेन शक्तिः शक्तिमतामपि ॥

हरिवंशपुराण, ५३।३२-३९

पद्मपुराण के ४८वें पर्व में तथा उत्तरपुराण के ५८वें पर्व में भी इसी प्रकार का विवरण है।

दशार्ण पर्वत के समीप स्थित था, विरोध किया है और उसे मगध देश में स्थित बतलाया है। पउमचरिउ^१ (विमल ५वीं-६ठीं ई० सन्) में कोटिशिला को सिन्धुदेश में सम्मत्शिखर के निकट स्थित बतलाया गया है। कुछ विद्वानों ने सिन्धुदेश को तीरमुक्ति (आधुनिक तिरहुत) से समीकृत किया है। यदि यह समीकरण सही है तो राजगृह के इसी-गिरि (ऋषिगिरि) पहाड़ी पर स्थित कालशिला को कोटिशिला माना जा सकता है।^२ पं० नाथूराम प्रेमी ने भी उक्त कालशिला को ही कोटिशिला माना है।^३

३. चम्पापुरीकल्प

चम्पा अङ्ग जनपद की राजधानी और प्राचीन भारतवर्ष की प्रमुख नगरियों में से एक थी। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इस नगरी का उल्लेख प्राप्त होता है। चीनी यात्रियों ने भी अपने यात्रा-विवरणों में इस नगरी की चर्चा की है। जैन मान्यतानुसार यहाँ १२वें तीर्थङ्कर भगवान् वासुपूज्य के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण-ये ५ कल्याणक सम्पन्न हुए। महावीर ने ३ वर्षावास भी यहीं व्यतीत किया है। जिनप्रभ के विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“चम्पा नगरी अङ्ग जनपद की राजधानी थी। यहाँ भगवान् वासु-पूज्य के च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये ५ कल्याणक सम्पन्न हुए। वासुपूज्यस्वामी के पुत्र का नाम मधव था, वे चम्पा नगरी के राजा थे। उनकी पुत्री लक्ष्मी को आठ पुत्र तथा रोहिणी नामक एक कन्या थी। उस कन्या का स्वयंवर में अशोक के साथ विवाह हुआ। एक बार रोहिणी ने वासुपूज्य स्वामी के शिष्य रूप्यकुम्भ—स्वर्णकुम्भ से अपने पूर्वभव का वृत्तान्त सुनकर उद्यापन

१. “कोडिसिलुद्धरणपव्व” पउमचरिउ ४८।९६-१०९

२. मिश्र, योगेश—“सिन्धुदेश ऑफ जैन लिटरेचर इज तीरभुक्ति”

महावीर जैन विद्यालय सुवर्णजयन्ती अङ्क, खंड १, पृ० २२३

३. प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० ४४८

विधि से आराधना की और सपरिवार मुक्ति प्राप्त की। महावीर स्वामी का इस नगरी में आगमन हुआ था। यहाँ स्थित पूर्णभद्रचैत्य में उन्होंने अपने ३ वर्षावास व्यतीत किये। इसी नगरी के निकट स्थित कादम्बरी वन में कालगिरि नामक पहाड़ी की तलहटी में एक सरोवर था। एक बार भगवान् पार्श्वनाथ वहाँ विचरण कर रहे थे। जब राजा करकण्डु को यह बात ज्ञात हुई तो वह उनके दर्शन हेतु वहाँ गया, परन्तु उस समय तक भगवान् अन्यत्र विहार कर चुके थे। अतः उसने उसी स्थान पर उनकी प्रतिमा स्थापित की और वह स्थान कलिकुण्ड-तीर्थ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। राजा करकण्डु चम्पा के राजा दधिवाहन का पुत्र था। इसके माता का नाम पद्मावती था। जंगल में ही इसका जन्म हुआ और बाद में यह कलिंग का राजा बना। इसने एक वृषभ (बैल) के यौवन और वृद्धावस्था को देखकर प्रतिबोध प्राप्त किया और प्रत्येकबुद्ध हुआ। महावीर स्वामी को प्रथम पारणा कराने वाली साध्वी चन्दना भी इसी नगरी के राजा दधिवाहन की कन्या थी। यहीं आयं शयंभवसूरि ने दशवैकालिकसूत्र की रचना की थी। श्रेणिक के पुत्र कुणिक ने अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् अपनी राजधानी राजगृह से हटाकर चम्पा नगरी में स्थापित की। सती सुभद्रा, दानी राजा कर्ण, श्रेष्ठी सुदर्शन, श्रावक कामदेव और उसकी पत्नी भद्रा, श्रेष्ठी पालित्त, उसका पुत्र समुद्रपाल, श्रावक सुनन्द आदि चम्पा नगरी से ही सम्बन्धित थे। कौशिकार्य के पुत्र रुद्रक ने सुजात, प्रियंगु आदि कई संविधानों को इसी नगरी में निर्मित किया।”

जैन मान्यतानुसार भगवान् वासुपूज्य १२वें तीर्थङ्कर थे। उनके च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण ये ५ कल्याणक इसी नगरी में सम्पन्न हुए। जैन साहित्य^१ में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।

१. [अ] आवश्यकनिर्युक्ति ३१०, ३८३

[ब] चंपाये वासुपूज्यो वसुपूज्जणरेसरेण विजयाए ।

फग्गुणसुद्धचउहसिदिणम्मि जादो विसाहासु ॥

तिलोयपण्णत्ती ४।५३७

***चम्पापुरे चैव हि वासुपूज्यः ॥

वराङ्गचरित २७।८३

चम्पा जन्मनि मुक्तोऽभूद्वासुपूज्यो जयांघ्रिपः ।

हरिवंशपुराण ६०।१९३

भगवान् वासुपूज्य के पुत्र राजा मधव की पुत्री लक्ष्मी और उसकी कन्या रोहिणी के संबंध में ग्रन्थकार ने जिस कथानक की चर्चा की है, वह श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में प्राप्त नहीं होती। दिगम्बरीय परम्परा के आचार्य हरिषेण (ई० सन् १०वीं शती) द्वारा रचित 'बृहत्कथाकोष'^१ में चम्पा के राजा मधव और उनकी कन्या रोहिणी की कथा मिलती है। परन्तु वहाँ मधव को वासुपूज्य का पुत्र नहीं अपितु शिष्य बतलाया गया है। इसी प्रकार रोहिणी को मधव की पुत्री लक्ष्मी की कन्या नहीं वरन् मधव की ही कन्या बतलायी गयी है। अतः यह माना जा सकता है कि जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित उपरोक्त कथानक का आधार बृहत्कथाकोष ही है। दिगम्बर परम्परा से अन्तर बनाये रखने के लिये ही उन्होंने उसमें उक्त परिवर्तन किया होगा। भगवान् महावीर के चम्पानगरी में वर्षावास का विवरण कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, उसकी चूर्णी, कल्पसूत्रवृत्ति (विनयविजय कृत) आदि ग्रन्थों^२ में प्राप्त होता है।

कलिग का राजा करकण्डु, जिसने प्रत्येकबुद्ध का पद प्राप्त किया, के सम्बन्ध में उत्तराध्ययनसूत्र^३ उसकी चूर्णी^४ तथा आवश्यकचूर्णी^५ आदि ग्रन्थों में विस्तृत कथानक प्राप्त होते हैं। जिनप्रभसूरि ने उनके बारे में प्रचलित कथानकों का अत्यन्त संक्षेप में उल्लेख किया है।

१. बृहत्कथाकोश 'अशोकरोहिणीकथानकम्' ५७।२०-२५

२. चंपं च पिठिठचंपं च नीसाए तओ अंतरावासे वासावासं उवागए ।

कल्पसूत्र-१२२

चंपा वासाबासं, जक्खिंदे साइदत्तपुच्छा य ।

वागरणदुहपएसण, पच्चक्खणे अ दुविहे अ ॥

आवश्यकनिर्युक्ति, सूत्र ५२४

ततो सामी णिग्गतो चंपं गतो, तत्थ वासावासं ठाति ।

आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० २८४

३. करकण्डू कलिगेषु.....।

उत्तराध्ययनसूत्र १८।४६

४. उत्तराध्ययनचूर्णी, पृ० १७८

५. आवश्यकचूर्णी, उत्तर भाग, पृ० २०४-७

आवश्यकचूर्णी के अनुसार चन्दनवाला जिसने भगवान् महावीर को कौशाम्बी नगरी में प्रथम पारणा करायी, चम्पा के राजा दधिवाहन की पुत्री थी। जिनप्रभ ने भी यही बात कही है। उन्होंने श्रेणिक (बिम्बिसार) के पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) द्वारा पिता के मृत्योपरान्त शोक दूर करने के लिये राजगृह से चम्पा नगरी में राजधानी स्थानान्तरित करने का जो उल्लेख किया है, वह भी जैन परम्परा पर ही आधारित है।^१

आर्य शक्यभ्रवसूरि ने चम्पा नगरी में दशवैकालिकसूत्र की रचना की, यह बात उक्त ग्रन्थ लिखी गयी चूर्णी से ज्ञात होती है।^२ सुभद्रा इसी नगरी के प्रसिद्ध श्रेष्ठी जिनदत्त की पुत्री थी। सती नारियों में इनकी गणना की जाती है। जैन ग्रन्थों^३ में इनके सम्बन्ध में विस्तृत कथानक प्राप्त होता है। जिनप्रभसूरि ने भी इनके बारे में प्रचलित कथानक की यहाँ संक्षिप्त चर्चा की है।

राजा कर्ण, श्रेष्ठी सुदर्शन, महावीर का समकालीन श्रावक काम-देव, उसकी पत्नी भद्रा, सार्थवाह पालित्त, उसका पुत्र समुद्रपाल, स्वर्णकार कुमारनन्दि आदि सभी चम्पा नगरी से सम्बन्धित थे। श्वेताम्बर जैन ग्रन्थों में इनके बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं।^४

कौशिकार्य के पुत्र रुद्रक के सम्बन्ध में जिनप्रभसूरि ने जिस कथानक का उल्लेख किया है, वह जैन साहित्य में अनुपलब्ध है। संभवतः किसी अज्ञात परम्परा के आधार पर उक्त बात कही गयी है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनप्रभ ने इस नगरी के सम्बन्ध में जिन कथानकों का उल्लेख किया है, वे प्रायः जैन परम्परा पर आधारित

१. आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ३१८

२. ततो निगगतो चंपं रायहारिणि करेति।

वही, उत्तरभाग, पृ० १७२

३. दशवैकालिकचूर्णी, पृ० ७

४. चंपाए जिणदत्तस्स धूता, सा सुभद्दा रुविणी तच्चंनियगसड्ढेण दिट्ठा।

आवश्यकचूर्णी उत्तरभाग, पृ० २६९

५. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० २५२-५३।

हैं, परन्तु उनसे इस तीर्थ की (तत्कालीन) स्थिति के बारे में कोई जानकारी नहीं मिलती।

भागलपुर जिले में जिला मुख्यालय से ६ मील दूर गंगातट पर यह प्राचीन नगरी स्थित है और आज भी चम्पा के नाम से जानी है। यहां जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों के अलग-अलग जिनालय विद्यमान हैं, जो अर्वाचीन हैं।^१

४. पाटलिपुत्रनगरकल्प

पाटलिपुत्र प्राचीन भारतवर्ष की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नगरी थी। शिशुनाग, नन्द, मौर्य, शुंग तथा गुप्त नरेशों ने इसे अपनी राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित किया था। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन ग्रन्थों में इस नगरी के बारे में विस्तृत उल्लेख प्राप्त होता है। जिनप्रभसूरि ने इस नगरी से सम्बन्धित जैन मान्यताओं की चर्चा की है जो संक्षेप में इस प्रकार है—

“पूर्व काल में महाराज श्रेणिक के मृत्योपरान्त उनके पुत्र कुणिक (अजातशत्रु) ने चम्पा नगरी में अपनी राजधानी स्थापित की। कुणिक के पश्चात् उनका पुत्र उदायी गद्दी पर बैठा, उसने भी पितृशोक को दूर करने के लिए मन्त्रियों के अनुरोध पर गंगा के किनारे जहाँ पाटली नामक वृक्ष उगे थे, पाटलिपुत्र नामक नगर बसाया। यहाँ उसने अनेक सुन्दर-सुन्दर भवनों, उद्यानों तथा एक जिनालय का निर्माण कराया और अपनी राजधानी भी चम्पा से यहीं स्थानान्तरित कर दी। [पाटली वृक्ष की उत्पत्ति के संबंध में ग्रन्थकार ने पुष्पचूला और अन्निकापुत्राचार्य की विस्तार से कथा दी है]। एक दिन उदायी जिनालय में पूजन के लिए गया, जहाँ एक साधु-वेशी हत्यारे ने उसे मार डाला। उदायी के पश्चात् मगध की सत्ता नापित-गणिका के पुत्र नन्द के हाथों में आ गयी। उसके वंश में कुल ९ राजा हुए। अन्तिम नन्द राजा के मन्त्री शकडाल जैन उपासक थे। उनके पुत्र स्थूलभद्र एक प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए। अन्तिम नन्द राजा

१. तीर्थदर्शन, खंड १, पृ० ५८-५९।

को चाणक्य की मदद से चन्द्रगुप्त ने गद्दी से उतार दिया और स्वयं राजा बन बैठा। उसके वंश में बिन्दुसार, अशोक, सम्प्रति आदि राजा हुए। सम्प्रति ने अनार्य देशों में भी जैन धर्म का प्रचार किया।

भद्रबाहु, महागिरि, सुहस्ति तथा वज्रस्वामी ने इस नगरी में विहार किया तथा भविष्य में प्रतिपदाचार्य यहाँ विहार करेंगे। कौभीषणगोत्रीय उमास्वाति ने इसी नगरी में तत्त्वार्थसूत्र की सभाष्य रचना की। यहाँ की वादशालाओं में विद्वान् लोग वाद-विवाद करते रहते हैं। आर्यरक्षित भी १४ विद्याओं के अध्ययनार्थ दशपुर से यहीं आये थे। श्रेष्ठीसुदर्शन, जो बाद में जैन मुनि हो गये, ने यहीं पर व्यंतरी (रानी) अभया द्वारा किये गये उपसर्ग को सहन किया। स्थूलभद्र ने यहाँ की प्रमुख गणिका कोशा की चित्रशाला में अपना चातुर्मास व्यतीत किया। प्रसिद्ध कलाविद् मूलदेव, महाधनिक सार्थवाह अचल, गणिकारत्न देवदत्ता आदि इसी नगरी के निवासी थे। १२ वर्षीय अकाल के समय जैन संघ सुभिक्ष के देशों में चला गया। राजा चन्द्रगुप्त उस समय भी यहीं रहा और सुस्थिताचार्य के दो क्षुल्लक शिष्यों के साथ आँखों में अदृश्यांजन लगाकर आहार ले रहा।

इस नगरी में १८ विद्या, स्मृति, पुराण, मन्त्र, तन्त्र, रसविद्या, अंजनगुटिका, पादप्रलेप, रत्नपारखी, स्त्री-पुरुष व पशुओं के लक्षणों के ज्ञाता और काव्य व इन्द्रजाल में निपुण लोग रहते हैं।

यहाँ बहुत से धनाढ्य व्यक्ति निवास करते थे, उनमें से कुछ तो ऐसे थे जो हजार योजन जाने में हाथी के जितने पांव पड़ते थे, उन सभी पद चिन्हों को हजार-हजार स्वर्ण मुद्राओं से भर सकते थे। कुछ ऐसे भी धनी थे जो तिलों के एक आढक (एक प्रकार का माप) बोने पर उगने से जितने तिल फलें, उतनी स्वर्णमुद्राएं अपने घर पर रखते थे। कुछ के पास तो इतनी गायें थीं जिनके मक्खन से वे वर्षाऋतु में पर्वतीय नदी को बाँध सकते थे। यहाँ एक दिन में इतने बालक पैदा होते थे कि उन सभी के केशों से इस नगरी को चारों ओर से घेरा जा सकता था। यहाँ दो प्रकार के धान बहुतायत पैदा होते हैं। पहले प्रकार का धान उगने पर भिन्न-भिन्न प्रकारों वाला हो जाता है। दूसरे प्रकार का धान काटने पर भी बार-बार उग आता है।

इसे गर्दभिका धान कहते हैं। यह नगरी गौड़देश के अन्तर्गत स्थित है।”

कुणिक और उसके पुत्र उदायी द्वारा क्रमशः राजगृह से चम्पा और चम्पा से पाटलिपुत्र को अपनी-अपनी राजधानी बनाने का जिनप्रभसूरि ने जो उल्लेख किया है, उसका जैन-साहित्य^१ में सविस्तार विवरण प्राप्त होता है। जहाँ तक इस नगरी को बसाने का प्रश्न है, बौद्ध साहित्य^२ में इसका श्रेय अजातशत्रु को दिया गया है, इसके विपरीत जैन साहित्य में उदायी को इस नगरी का संस्थापक माना गया है। वस्तुतः अजातशत्रु ने ही इस नगरी की नींव डाली और बाद में उसके पुत्र उदायी ने इसे पूर्णरूप से विकसित कर अपनी राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित किया। जिनप्रभसूरि ने स्वाभाविक रूप जैन परम्परा का ही अनुसरण किया है।

पाटलिपुत्र की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित कथानक हमें धर्मोपदेशमालाविवरण^३ और परिशिष्टपर्व^४ में भी प्राप्त होता है। अतः यह कहा जा सकता है कि जिनप्रभसूरि के इस कथानक का आधार उपरोक्त ग्रन्थ ही रहे होंगे।

जैन परम्परानुसार उदायी को, जब वह जिनालय में पूजन करने के लिये गया था, एक छद्मवेशी जैन साधु ने वहीं उसे धोखे से मार डाला।^५ उसके पश्चात् नापितगणिका का पुत्र नन्द राजा हुआ। इस

१. ततो निग्गतो चंपं रायहार्णि करेति ।

आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग, पृ० १७२

नगरनाभीए उदाइणा जिणघरं कारितं, एवं पाडलिपुत्तस्स उप्पत्ती ।
सो उदायी तत्थ ठितो रज्जं भुंजति,

वही, उत्तरभाग, पृ० १७९

परिशिष्टपर्व (हेमचन्द्राचार्य—१२वीं शती ईस्वी) ६।१८५-२३०

२. मलालशेकर, जी० पी०—पालिप्रापरनेम्स, भाग १, पृ० १७८

३. संपा० पं० लालचन्द भगवानदास गांधी—(सिंधी जैन ग्रन्थमाला-क्रमाङ्क-
२८) पृ० ४१-४६ ।

४. परिशिष्टपर्व ६।४२-१७४ ।

५. आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग—पृ० १७१, १७८, १८०;

परिशिष्टपर्व ६।१७५-२३० ।

वंश में कुल ९ राजा हुये। अन्तिम नन्द राजा महापद्मनन्द को चाणक्य की मदद से चन्द्रगुप्त मौर्य ने गद्दी से हटा दिया और उसका समूल नाश कर स्वयं राजा बन बैठा। चन्द्रगुप्त के पश्चात् उसके वंश में बिन्दुसार, अशोक, सम्प्रति आदि राजा हुए।^१ सम्प्रति ने दक्षिण भारत के प्रदेशों-यथा आन्ध्र, द्रविण, महाराष्ट्र आदि में जैन धर्म का प्रचार किया।^२ ब्राह्मणीय और बौद्ध परम्परानुसार उदायी के पश्चात् मगध में शिशुनागवंश का राज्य स्थापित हुआ,^३ परन्तु जिनप्रभसूरि ने स्वाभाविक रूप से जैन मान्यता का ही समर्थन किया है। अन्तिम नन्द राजा का मन्त्री शकडाल एक जैन उपासक था। उसे दो पुत्र थे, १-स्थूलभद्र और २-श्रीयक। स्थूलभद्र प्रसिद्ध जैनाचार्य हुए।^४

इस नगरी में भविष्य में होने वाले कल्कि, धर्मदत्त, जितशत्रु आदि राजाओं का जो उल्लेख है, उसे ग्रन्थकार की व्यक्तिगत कल्पना ही समझनी चाहिए।

कौमीषण गोत्रीय आचार्य उमास्वाति के बारे में जिनप्रभ ने जो उल्लेख किया है, वह श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थों में मिलता है।^५

ग्रन्थकार ने भद्रबाहु, महागिरि, सुहस्ति और वज्रस्वामी के इस नगरी में आने का उल्लेख किया है। श्वेताम्बर परम्परानुसार^६ आर्य

१. आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ५६३-६५; उत्तरभाग, पृ० १७९ और आगे; निशीथचूर्णी, भाग २, पृ० ३६१; बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, ३।३२७६।
२. बृहत्कल्पसूत्रभाष्य, ३। ३२७५-८९; परिशिष्टपर्व, ११।८९-१०२।
३. रायचौधरी, हेमचन्द्र—प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ० १६३।
४. आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग, पृ० १८३ और आगे; उत्तराध्ययनवृत्ति—(शान्तिसूरि) पृ० १०५।
५. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द्र—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास पृ० १०१-१०३।
६. विस्तार के लिये द्रष्टव्य—मेहता और चन्द्रा—प्राकृतप्रापरनेम्स, पृ० ४४६-४७; हेमचन्द्र—परिशिष्टपर्व, सर्ग ११-१२।

महागिरि, सुहस्ति और वज्रस्वामी तो यहाँ आये थे, परन्तु भद्रबाहु^१ के यहाँ आगमन की कोई चर्चा वहाँ नहीं मिलती।

ग्रन्थकार ने सुदर्शन श्रेष्ठी सम्बन्धी जिस कथानक का उल्लेख किया है वह श्वेताम्बर जैन साहित्य^२ पर आधारित है।

स्थूलभद्र द्वारा इसी नगरी में कोशा नाम की गणिका की चित्र-शाला में चातुर्मास करने का भी विवरण जैन परम्परा पर ही आधारित है।^३ इसी प्रकार मगध में पड़े १२ वर्षीय अकाल की चर्चा श्वेताम्बर^४ और दिग्म्बर^५ दोनों परम्पराओं में प्राप्त होती है। परन्तु यह अकाल कब पड़ा—इस सम्बन्ध में दोनों परम्परायें भिन्न-भिन्न हैं। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अन्तिम नन्द राजा के समय यह दुर्भिक्ष पड़ा था।^६ इसके विपरीत दिग्म्बर परम्परा इसे मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त के अन्तिम समय में रखती है और उसी समय भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त मौर्य के दक्षिण भारत जाने की भी चर्चा है।^७ जिनप्रभ ने

१ दिग्म्बर परम्परानुसार मगध में पड़े १२ वर्षीय अकाल के समय भद्रबाहु जैन संघ, जिसमें चन्द्रगुप्तमौर्य भी थे, के साथ श्रवणबेलगोला चले गये। (जैन साहित्य का इतिहास, पूर्वपीठिका—पं० कैलाश चन्द्र शास्त्री, पृ० ३४२-३४६)।

२. आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग, पृ० २७०

३. पाडलिपुत्रे दो गणियाओ-कोसा उवकोसा य, कोसाए समं थूलभद्रसामी अच्छितओ आसि,

आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ५५४

४. तंमि य काले बारसवरिसो दुक्कालो उवट्ठितो।

वही, उत्तरभाग, पृ० १८७

५. शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका, पृ० ३७१

६. उत्तराध्ययनवृत्ति (कमलसंप्रम), पृ० ३

७. मउडधरेसुं चरिमो जिगदिक्खं धरदि चंदगुत्तो य।

तिलोयपण्णत्ती ४।१४८१

भद्रबाहुवचः श्रुत्वा चन्द्रगुप्तो नरेश्वरः।

अस्यैव योगिनः पाश्वे दधी जैनेश्वरं तपः ॥

‘भद्रबाहुकथानकम्’ बृहत्कथाकोश, पृ० ३१८

विस्तार के लिये द्रष्टव्य—शास्त्री, कैलाशचन्द्र, पूर्वोक्त, पृ० ३४२ और आगे

अकाल सम्बन्धी जिस मान्यता का उल्लेख किया है, वह स्पष्ट नहीं होता। उन्होंने इस नगरी के एक मातृ देवी की भी चर्चा की है, जो संभवतः कोई स्थानीय देवी रही होगी।

इस नगरी का विद्या केन्द्र के रूप में भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। यहाँ स्थान स्थान से विद्यार्थी अध्ययनार्थ आते रहते थे। जैन साहित्य में आर्यरक्षित के यहाँ आने की चर्चा मिलती है।^१ जिनप्रभ ने भी इस बात का उल्लेख किया है। १८ विद्या, तंत्र-मंत्र, स्मृति-पुराण, रस विद्या, अंजन-गुटिका, पादप्रलेप आदि में निपुण लोगों के यहाँ बसने की ग्रन्थकार ने जो चर्चा की है, वह एक समृद्ध और विशाल नगरी के लिए अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होती। इस नगरी के प्रसिद्ध कलाविद् मूलदेव, सार्थवाह अचल तथा गणिकारत्न देव-दत्ता, जिनकी जिनप्रभसूरि ने चर्चा की है, श्वेताम्बर जैन साहित्य में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।^२ इस नगरी की आर्थिक स्थिति के बारे में ग्रन्थकार ने जो उल्लेख किया है, यद्यपि वह अतिशयोक्तिपूर्ण है, परन्तु उससे यह स्पष्ट तो हो ही जाता है कि यह नगरी आर्थिक दृष्टि से भी बड़ी सम्पन्न थी। प्राचीन भारतवर्ष की राजधानी होने के कारण यह नगरी राजनैतिक, धार्मिक और आर्थिक तीनों दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण रही।

पाटलिपुत्र आज पटना के नाम से प्रसिद्ध है। यह बिहार राज्य की राजधानी भी है। यहाँ दो श्वेताम्बर तथा पाँच दिगम्बर जिनालय विद्यमान हैं, इसके अलावा यहाँ के गुलजारबाग नामक मुहल्ले में श्रेष्ठी सुदर्शन तथा आर्य स्थूलभद्र के भी स्मारक हैं।^३

१. तंमि दसपुरे सोमदेवो माहणो, रुद्दसोमा भज्जा सड्डी, तीसे जेट्टुपुत्तो रक्खितो वितियओ फग्गुरक्खियओ, तत्थ उप्पण्णगा अज्जरक्खिता, सो य तत्थं जं अत्थि पिउणो तं अज्जाइओ, घरे ण तीरति पढितुंति ताहे गतो पाडलिपुत्तं,। आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ४०१

२. मेहता और चन्द्रा - पूर्वोक्त, पृ० ४४६-४७

३. तीर्थदर्शन—प्रथम खंड, पृ० ४८-५१।

५. पावापुरी

पावापुरी जैनों का एक अति प्रसिद्ध तीर्थ है। परम्परानुसार २४वें तीर्थंकर महावीर का निर्वाण पावापुरी में ही हुआ था। जिनप्रभ-सूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत पावापुरी पर दो कल्प लिखे हैं—

१—अपापापुरीकल्प

२—अपापाबृहत्कल्प

उनके अनुसार पहले यह नगरी अपापा के नाम से जानी जाती थी परन्तु महावीर स्वामी का यहाँ निर्वाण होने से इसका नाम 'पावा' प्रचलित हुआ।

अपापापुरीकल्प के अन्तर्गत उन्होंने मुख्य रूप से इस नगरी के निकट पर्वत होने और यहाँ महावीर के निर्वाण होने का उल्लेख किया है। अपापाबृहत्कल्प में मौर्य नरेश सम्प्रति और आर्य सुहस्ति के मध्य प्रश्नोत्तर का अति विस्तार से वर्णन है। इस प्रश्नोत्तर में महावीर का संक्षिप्त जीवन परिचय देते हुए उनके निर्वाण की पूर्वसंध्या पर दर्शनार्थ आये राजा हस्तिपाल द्वारा पूछे गये प्रश्नों का महावीर के मुख से अत्यन्त विस्तारके साथ उत्तर दिलाया गया है। इसके अलावा सम्प्रति-सुहस्ति प्रश्नोत्तर में अनेक पौराणिक बातों का भी अत्यन्त विस्तार के साथ उल्लेख किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में उक्त विवरणों को यहीं छोड़ते हुए १४वीं शती में पावापुरी की भौगोलिक स्थिति पर ही विचार किया गया है, क्योंकि आज इस नगरी की भौगोलिक स्थिति के बारे में प्रायः वही विवाद है, जो पिछले कुछ दशकों पूर्व उनके जन्मस्थान कुण्डग्राम के सम्बन्ध में उठा था।

वर्तमान में जैन धर्म के दोनों सम्प्रदायों ने बिहार राज्य के नालन्दा जिले में स्थित पावापुरी को महावीर के निर्वाण-स्थली के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ सरोवर के मध्य एक भव्य जिनालय विद्यमान है।^१ परन्तु आगमों में पावापुरी के सम्बन्ध में जो विवरण प्राप्त होता है उसके अनुसार यह नगरी मल्लों के राज्य में स्थित होनी चाहिए। कुछ विद्वानों ने प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर वर्तमान उत्तर

१. पाटिल, डी० आर०—द एन्टीक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार, पृ० ४२१

प्रदेश के देवरिया जिले के उत्तरी भाग में स्थिति सठियांव नामक ग्राम को प्राचीन पावा माना है^१ जो उचित प्रतीत होता है।

अब प्रश्न उठता है कि प्राचीन पावापुरी के स्थान पर नवीन पावापुरी की किस समय कल्पना कर ली गयी ? इस प्रश्न का ठीक-ठीक उत्तर तो नहीं दिया जा सकता, परन्तु इतना निश्चित है कि ई० सन् की १४वीं शती के पूर्व वर्तमान पावापुरी अवश्य ही अस्तित्व में आ चुकी थी। इन सम्बन्ध में जिनप्रभसूरि के विवरण से हमें पर्याप्त सहायता मिलती है। उन्होंने अपापापुरीकल्प के अन्तर्गत पावापुरी से पहाड़ियों के दिखाई देने का उल्लेख किया है, परन्तु प्राचीन पावा के पास कोई पर्वत नहीं है जब कि वर्तमान पावापुरी से राजगिर की पहाड़ियाँ आज भी स्पष्ट दिखाई देती हैं। इससे यही सिद्ध होता है कि जिनप्रभसूरि के समय तक वर्तमान पावापुरी प्रतिष्ठित थी और प्राचीन पावा पूर्व की शताब्दियों में कभी विलुप्त हो चुकी थी।^२

वर्तमान पावापुरी बिहार राज्य के नालन्दा जिले में स्थित है। यहाँ ग्राम में एक विशाल सरोवर के मध्य एक भव्य जिनालय विद्यमान है, जो श्वेताम्बरों के अधिकार में है। इसके अलावा ग्राम में एक अन्य श्वेताम्बर मन्दिर तथा एक दिगम्बर मंदिर भी हैं।^३

१. सरावगी, के० एल०—पावासमीक्षा (सारण, बिहार १९७२ ई०), पृ० ९५; डा० जगदीशचन्द्र जैन, डा० ए० एन० उपाध्ये, डा० मोतीचन्द्र आदि अधिकारी विद्वानों ने भी श्री सरावगी के मत का समर्थन किया है।
२. ऐसा अनुमान किया जाता है कि ८वीं-९वीं शती तक पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार से जैन धर्म प्रायः विलुप्त हो चुका था। अधिकांश जैनी पश्चिमी एवं दक्षिणी भारत में बस गये थे। ऐसी स्थिति में उनके तीर्थस्थान भी प्रायः विच्छिन्न हो गये। मुस्लिम शासन के समय देश में राजनैतिक स्थिरता के कारण जैनों ने दक्षिणी बिहार में पुनः प्रवेश किया और विस्मृत तीर्थों की स्थिति प्रायः अनुमान के आधार पर निश्चित कर वहाँ जिनालय आदि निर्मित कराये। वर्तमान पावापुरी, कुण्डग्राम, सम्मेत-शिखर आदि इसी प्रकार अस्तित्व में आये।
३. तीर्थदर्शन, प्रथम खंड, पृ० ३६-३७।

६. मिथिलापुरीकल्प

मिथिला विदेह जनपद की राजधानी और प्राचीन भारतवर्ष की एक प्रसिद्ध नगरी थी। रामायण, महाभारत, बौद्ध और जैन साहित्य में इसके बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। जैन मान्यतानुसार यहाँ १९वें और २१वें तीर्थङ्करों का जन्म हुआ। महावीर स्वामी ने यहाँ विहार किया। उनके आठवें गणधर अकम्पित का यहीं जन्म हुआ। इन्हीं कारणों से यह नगरी जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुई। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ का उल्लेख करते हुए इसके सम्बन्ध में प्रचलित जैन मान्यताओं तत्कालीन स्थिति, रीति-रिवाज आदि का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है जो संक्षेप में इस प्रकार है—

“भारतवर्ष के पूर्व देश में स्थित विदेह जनपद इस समय तिरहुत नाम से जाना जाता है। यहाँ के निवासी संस्कृत और प्राकृत भाषाओं के ज्ञाता हैं। यहाँ केले के वृक्ष अधिक पाये जाते हैं। स्थान-स्थान पर मीठे जल वाली वापियाँ, कुएँ आदि हैं। आज यह नगरी ‘जगई’ नाम से जानी जाती है। यहाँ १९वें तीर्थङ्कर मल्लि (स्त्रीतीर्थङ्कर) और २१वें तीर्थङ्कर नमिनाथ के च्यवन, जन्म, दीक्षा और केवलज्ञान ये ४ कल्याणक हुए। मल्लि की माता का नाम प्रभावती और पिता का नाम कुम्भ था। इसी प्रकार नमि की माता वप्रादेवी थीं एवं विजय उनके पिता थे। भगवान् महावीर ने यहाँ वर्षावास भी व्यतीत किया। इनके आठवें गणधर अकम्पित का यहीं जन्म हुआ। जगबाहु और मदनरेखा के पुत्र नमि जिन्होंने प्रत्येकबुद्ध का पद प्राप्त किया, इसी नगरी के राजा थे। वीर-निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात् यहीं स्थित लक्ष्मीधरचैत्य में कौडिन्यगोत्रीय आसिमित्र चतुर्थ निह्लव हुआ।

सीता का यहीं जन्म हुआ, उनके जन्म-स्थान पर स्थित विशाल वटवृक्ष, उनका विवाह-स्थल—साकल्लकुण्ड, पाताललिङ्ग, कनकपुर आदि लौकिक तीर्थ भी यहाँ स्थित हैं। इस नगरी में मल्लिनाथ एषं नमिनाथ के अलग-अलग चैत्यालय हैं। मल्लिनाथ के चैत्यालय में वैरुट्यादेवी और कुबेर यक्ष तथा नमिनाथ के चैत्यालय में गन्धारी देवी और भृकुटि यक्ष की भी प्रतिमायें हैं।”

वर्तमान बिहार प्रदेश का उत्तरी भाग प्राचीन काल में विदेह जन-पद के अन्तर्गत अवस्थित रहा। गुप्त काल से इसका नाम 'तीरभुक्ति' प्रचलित हुआ, जिसका अर्थ है 'वह प्रदेश जो नदियों के तट पर स्थित हो'।^१ यही तीरभुक्ति जिनप्रभसूरि के समय तक तिरहुत नाम से प्रसिद्ध हुआ और आज भी यही नाम प्रचलित है। ग्रन्थकार ने यहाँ के निवासियों के संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के ज्ञाता होने तथा केले आदि की अधिक उपज होने, कुएं और वापियों के अधिक संख्या में होने का जो उल्लेख किया है, वह अस्वाभाविक नहीं लगता। जिन-प्रभ ने इस नगरी का नाम 'जगई' जो उस समय प्रचलित था, उल्लेख किया है, परन्तु हमें अन्यत्र इस नाम की चर्चा नहीं मिलती।

मल्लिनाथ^२ और नमिनाथ^३ के माता-पिता, जन्म आदि कल्याणकों के सम्बन्ध में जैन साहित्य में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं।

कल्पसूत्र^४ के अनुसार महावीर ने अपने ६ वर्षावास इसी नगरी

१. योगेन्द्र मिश्र—'सिन्धुदेश ऑफ जैन लिटरेचर इज तीरमुक्ति'
'महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण जयन्ती अंक' भाग-१ पृ० २२३।
२. [अ] ज्ञाताधर्मकथा, ६५; तीर्थोद्गारित, ५०८
[ब] मिहिलाए मल्लिजिणो पहवदिए कुंभअक्खिदीसेहि ।
मग्गसिरसुककएक्कादसीए अस्सिणीए संजादो ॥
तिलोयपण्णत्ती ४।५४४
नमिश्च मल्लिमिथिलाप्रसूतो ॥
वराङ्गचरित २७।८४
३. [अ] समवायाङ्ग १५७
[ब] मिहिलापुरिए जादो विजयणरिदेण वप्पिलाए य ।
अस्सिणिरिक्खे आसाढसुककदसमीए णमिसामी ॥
तिलोयपण्णत्ती ४।५४६
मिथिला विजयो वप्रा वकुलो नमिरश्चिनी ।
नमयन्तु महामानं सम्मेदश्च महीधरः ॥
हरिवंशपुराण ६०।२०२
४. तेणं कालेणं तेणं समएणं समणे भगवं महावीरे अट्टियगामं नीसाए.....
.....। छ मिहिलाएवासावासं उवागए ।
कल्पसूत्र-१२२

में व्यतीत किये । जिनप्रभ ने उनके वर्षावास का तो उल्लेख किया है, परन्तु वे कितनी बार यहां वर्षावास हेतु रुके, यह नहीं बताया है । उनके आठवें गणधर अकम्पित का यहाँ जन्म होने का उल्लेख आवश्यकनियुक्ति^१, विशेषावश्यकभाष्य^२ आदि ग्रन्थों में मिलता है । कल्पप्रदीप में भी यही बात कही गयी है ।

मिथिला के राजा नमि के बारे में श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थों में सविस्तार विवरण मिलता है ।^३ जिनप्रभ ने भी उन्हीं के आधार पर उक्त कथानक को उल्लिखित किया है । श्वेताम्बर जैन परम्परानुसार वीर निर्वाण के २२० वर्ष पश्चात् यहाँ स्थित लक्ष्मीधर चैत्य में आर्य महागिरि का प्रशिष्य और कौडिन्य का शिष्य आसिमित्र चतुर्थ निह्वन हुआ ।^४ जिनप्रभसूरि ने भी यही बात कही है, परन्तु उन्होंने आसिमित्र को महागिरि का शिष्य और कौडिन्यगोत्रीय बतलाया है, जो भ्रामक प्रतीत होता है ।

सीता का यहाँ जन्म हुआ था-ऐसा जिनप्रभ ने उल्लेख किया है । ब्राह्मणीय परम्परानुसार^५ सीता मिथिला के राजा जनक की पुत्री थीं । जनक ने हल चलाते समय उन्हें भूमि में पाया था । राम के साथ सीता का विवाह हुआ । सीता के प्राप्ति-स्थल, विवाह-स्थल आदि हिन्दुओं के पवित्र तीर्थ माने जाते हैं । ग्रन्थकार ने इन स्थलों का तटस्थ भाव से उल्लेख किया है ।

१. मिहिलाए अकंपिओ जाओ ।

आवश्यकनियुक्ति, सूत्र ६४४

२. विशेषावश्यकभाष्य २०१३; २५०६

३. उत्तराध्ययनसूत्र ९।४-१४

इतो य विदेहे जणवए मिहिला णगरी, तत्थ नमी राया,.....।

आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग, पृ० २०७

४. अव्वत्ताऽऽसाढाओ सामुच्छेयाऽऽसमित्ताओ ॥

आवश्यकनियुक्ति, सूत्र ७८०

महिला नगरी, लच्छीधरं चेतियं, महागिरि य आयरिया, तत्थ तेसिं सीसो कोडिण्णो तस्सऽवि आसमित्तो सीसो,.....।

आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ४२२

५. पाण्डेय, राजबली—पुराणविषयानुक्रमणिका, पृ० ३९५

जिनप्रभ के समय यहाँ मल्लिनाथ और नमिनाथ के अलग-अलग चैत्यालय थे। मध्ययुगीन तीर्थमालाओं में भी इस तीर्थ का उल्लेख है,^१ परन्तु वर्तमान में यह तीर्थ विच्छिन्न है।

मिथिला को बिहार राज्य के दरभंगा जिले के उत्तर में, नेपाल की सीमा पर स्थित आधुनिक जनकपुर नामक कस्बे से समीकृत किया जाता है।^२

७. वैभारगिरि-कल्प

मगध जनपद की प्राचीन राजधानी राजगृह पांच पहाड़ियों वैभार, विपुल, गृद्धकूट, पांडव और ऋषिगिरि से घिरी हुई थी, इनमें से वैभार और विपुल जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहे हैं। जिनप्रभ-सूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत वि० सं० १३६४ / ई० सन् १३०७ में 'वैभारगिरिकल्प' की रचना की। इस कल्प के अन्तर्गत उन्होंने वैभारगिरि, राजगृह और नालन्दा का वर्णन किया है और इन स्थानों से संबंधित जैन मान्यताओं की चर्चा की है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“वैभारपर्वत पर अनेक जड़ी-बूटियां, सुन्दर-सुन्दर झरने, उष्ण और शीतल जल के कुंड आदि विद्यमान हैं। सरस्वती नदी का उद्गम स्थल भी यहीं है। शालिभद्र धन्ना ऋषि ने इसी पर्वत की गर्म शिलाओं पर कायोत्सर्ग किया था। यहाँ अनेक चैत्य हैं, जिनमें महावीर की प्रतिमायें एवं अनेक खंडित प्रतिमायें विद्यमान हैं। यहाँ अनेक लौकिक तीर्थ तथा आसपास कई बौद्ध विहार भी हैं। यहाँ से कई बौद्ध भिक्षुओं ने निर्वाण प्राप्त किया है। यहाँ एक अंधेरी गुफा भी है जिसमें प्राचीन काल में रोहिण आदि चोर रहा करते थे। पहाड़ी की तलहटी में राज-गृह नामक सुन्दर नगरी बसी हुई है। ऋषभपुर, क्षितिप्रतिष्ठ, चणक-पुर, कुशाग्रपुर आदि इस नगरी के प्राचीन नाम हैं। यहाँ स्थित गुणशील चैत्य में भगवान् महावीर का समवसरण लगता था। इस नगरी से कुछ दूर स्थित नालन्दा नामक स्थान पर महावीर ने १४ वर्षावास व्यतीत

१. विजयधर्मसूरि—प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० २६

२. लाहा, विमलाचरण—ज्योर्ग्राफी ऑफ अर्ली बुद्धिज्म, पृ० ३१

किये। उनके ११ गणधरों ने राजगृह नगरी में ही मोक्ष प्राप्त किया। गणधर अकम्पित का यहीं जन्म भी हुआ था। अरासन्ध, श्रेणिक, कुणिक आदि नरेश; हल्ल, विहल्ल, अभयकुमार, नंदिसेण आदि राजकुमार; जम्बूस्वामी, कयवन्नाऋषि, शय्यंभवसूरि आदि मुनि तथा नंदा आदि पतिव्रता स्त्रियां एवं शालिभद्र जैसे प्रसिद्ध श्रेष्ठी इसी नगरी में संबंधित थे। यहां नगर के अन्दर कल्याणक स्तूप एवं उसके समीप गौतमस्वामी का मंदिर है। यहां के वणिकों में आधे जैन और आधे बौद्ध धर्मावलम्बी हैं।”

जिनप्रभसूरि ने वंभारगिरि के प्राकृतिक दृश्य का जो वर्णन किया है वह वहां आज भी देखी जा सकती है। शालिभद्र धन्नाऋषि के सम्बन्ध में उन्होंने जो बात कही है उसका उल्लेख हमें मरण-समाधि^१ (रचनाकाल-अज्ञात) नामक जैन ग्रंथ में प्राप्त होता है। यहां के जिस अंधेरी गुफा की बात उन्होंने बतलायी है, उसका उल्लेख हमें आगमिक साहित्य^२ में भी प्राप्त होता है। अपने समय में यहां अनेक चैत्यों और खंडित जिन प्रतिमाओं के होने की ग्रंथकार ने जो बात कही है, उसका समर्थन यहां से प्राप्त भग्न जिनालयों एवं खंडित प्रतिमाओं से—जो ५वीं से ९वीं शती तक के हैं,^३ होता है। इसी प्रकार यहां के बौद्ध विहारों का उन्होंने जो उल्लेख किया है, वह भी यथार्थ है।^४ इससे ग्रंथकार के विवरण की निष्पक्षता और धार्मिक सहिष्णुता परिलक्षित होती है।

राजगृह नगरी के जिन विभिन्न नामों का जिनप्रभसूरि ने उल्लेख

१. मरणसमाधि—४४४; मूल ग्रन्थ उपलब्ध न होने के कारण यह उद्धरण प्राकृतप्रापरनेम्स-पृ० ७२७ के आधार पर दिया गया है।

२. तए णं रायगिहस्स णगरस्स अदूरसामंते दाहिणपुरत्थिमे दिसिभाए सीहगुहा नामं चोरपल्ली होत्था,.....।

ज्ञातुधर्मकथा, १८।१०

३. घोष, अमलानन्द—जैन कला और स्थापत्य, खंड १, पृ० १२५-१२६ एवं १७१-२

४. अनन्त कुमार—बुद्धकालीन राजगृह, पृ० ७७-८०

किया है, वे जैन परम्परा पर आधारित हैं।^१ इस नगरी में मुनि सुव्रत के जन्म होने^२, यहां स्थित गुणशील चैत्य में महावीर के समवसरण लगने, नालन्दा में उनके १४ वर्षावास व्यतीत करने^३ एवं उनके ९ गणधरों का यहीं निर्वाण होने^४ तथा अंतिम गणधर प्रभास के जन्म-सम्बन्धी जिनप्रभसूरि का विवरण भी जैन परम्परा पर ही आधारित है। उन्होंने इस नगरी के विशिष्ट व्यक्तियों यथा-अरासन्ध, श्रेणिक, कुणिक आदि नरेश; अभयकुमार, हल्ल-विहल्ल आदि राजकुमारों, जम्बूवामी, कयदन्नाऋषि, पतिव्रता नन्दा एवं श्रेष्ठी शालिभद्र का जो उल्लेख किया है, वह भी श्वेताम्बर जैन परम्परा पर आधारित है।^५ ग्रन्थकार ने यहां कल्याणक स्तूप एवं उसके समीप गौतम स्वामी के मंदिर होने की बात कही है। हो सकता है उसके समय में यहां मंदिर एवं स्तूप विद्यमान रहे हों। यहां की आबादी (जनसंख्या) के बारे में उन्होंने जो बात कही है, उसे उनकी व्यक्तिगत कल्पना माननी चाहिये।

वर्तमान बिहार राज्य के नालन्दा जिले में यह तीर्थ अवस्थित है। आज वैभारगिरि के अलावा अन्य चार पहाड़ियों पर भी दोनों सम्प्रदायों के अलग-अलग जिनालय विद्यमान हैं।^६

-
१. खितिवणउसभकुसगं, रायगिहं। आवश्यकनिर्युक्ति, सूत्र १२७९;
आवश्यकचूर्णी, उत्तरभाग, पृ० १५८
२. [अ] आवश्यकनिर्युक्ति, सूत्र ३८३
[ब] रायगिहे मुणिसुव्वयदेवो पउमामुमित्तराएहि
अस्सजुदबारसीए सिदपक्खे सवणभे जादो ॥
तिलोयपण्णत्ती ४१५४५
श्रीसुव्रतो राजगृहे..... । वराङ्गचरित २७।८४
३. रायगिहं नगरं नालदं च बाहिरियं नीसाए चौद्दस अंतरावासे बासावासं उवागए । कल्पसूत्र-१२२
४. परिनिव्वुया गणहरा जीवंते जायए नव जणा उ ।
इंदभूई सुहम्मो य, रायगिहे निव्वुए वीरे ॥
आवश्यकनिर्युक्ति, सूत्र-६५८
५. इस सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य
मेहता और चन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ६२७-२९
६. तीर्थदर्शन, प्रथम खंड, पृ० ४१-४७

८. सम्मैतशिखर

आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के 'चतुरशीतिमहातीर्थनाम-संग्रहकल्प' के अन्तर्गत सम्मैतशिखर का भी उल्लेख किया है और यहां २० तीर्थंङ्करों के निर्वाण प्राप्त करने का उल्लेख किया है—

संमैतशैले विसतिजिनाः ।

सम्मैत(मम्मैद)शिखर जैनधर्मानुयायियों का एक अत्यन्त पवित्र तीर्थ है। शत्रुञ्जय, गिरनार आदि सर्वमान्य तीर्थों के साथ इसकी गणना की जाती है। जैन मान्यतानुसार २४ तीर्थंङ्करों में से ऋषभ, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर को छोड़कर शेष २० तीर्थंङ्करों का यहां निर्वाण हुआ।^१

१. (i) मल्ली णं अरहा पणुवीसं धणूइं उड्ढं उच्चतेणं, वण्णेणं पियंगुसामे समचउरंसंठाणे वज्जरिसह-संघयणे मज्झदेसे सुहंसुहेणं विहरित्ता जेणव सम्मेए पव्वए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता सम्मेयसेल-सिहरे पाओवगमणंणुवन्ने ॥ ज्ञातृधर्मकथा १।८।२२४

(ii) अट्टावय-चंपुज्जेत-पावा-सम्मैयसेलसिहरेसु ।

उसभ वसुपुज्ज नेमी वीरो सेसा य मिद्धिगया ॥

आवश्यकनिर्युक्तिसूत्र-३०७

(iii) आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० २५७

(iv) तिलोयपण्णत्ती, ४।११८६-१२०७

(v) शेषास्तु ते जितवरा जितमोहमल्ला ज्ञानार्कभूरिकिरणैरवभाष्य लोकान् ।

स्थानं परं निरवधारितसौख्यनिष्ठं सम्मैदपर्वततले समवापुरीशाः ॥

निर्वाणभक्ति-२५

(vi) शेषा जिनेन्द्रास्तपसः प्रभावाद् विधूय कर्माणि पुरातनानि ।

धीराः परां निर्वृत्तिमभ्युपेताः संमैदशैलोपवनान्तरेषु ॥

वराङ्गचरित २७।१२

(vii) अन्ते स संमदविधायिवनान्तकान्तं सम्मैदशैलमधिरुह्य निरस्तबन्धः ।

हरिवंशपुराण १६।७५

(viii) उत्तरपुराण पर्व ४८-७३

श्वेताम्बरों ने जहां इस तीर्थ को सम्मैत कहा है, वहीं दिगम्बरों ने सम्मैद नाम से अभिहित किया है।

मध्ययुगीन श्वेताम्बर और दिगम्बर ग्रन्थकारों ने तीर्थ विषयक रचनाओं में इस तीर्थ का उल्लेख किया है—

१—उदयकीर्ति—	तीर्थवन्दना ^१	ई० सन् १३ वीं शती
२— खरतरगच्छीय—	पूर्वदेशीयचैत्यपरिपाटी ^२	ई० सन् १४३६
	जिनवर्धनसूरि	
३—गुणकीर्ति—	तीर्थवन्दना ^३	ई० सन् १५ वीं शती
४—हंससोम—	पूर्वदेशीयचैत्यपरिपाटी ^४	ई० सन् १४९९
५—ज्ञानसागर—	सर्वतीर्थवन्दना ^५	ई० सन् १६ वीं शती
६—जयविजय—	सम्मैतशिखरतीर्थमाला ^६	ई० सन् १६०७
७—जयसागर—	तीर्थजयमाला ^७	ई० सन् १७ वीं शती
८—सोमसेन—	पुष्पांजलिजयमाला ^८	ई० सन् १७ वीं शती

(ix) अष्टापदचम्पोज्जयन्तपापासम्मैतशैलशिखरेषु यथाक्रमवृषभो वासु-
पूज्योऽरिष्टनेमिर्वीरो भगवान् शेषाश्च तीर्थकृतः सिद्धि गताः, अष्टा-
पदे ऋषभस्वामी सिद्धिमतमत्, चम्पायां वासुपूज्यः उज्जयन्तेऽरिष्ट-
नेमिः भगवान् महावीरः पाषायां शेषा अजितस्वामिप्रभृतयः
सम्मैतशैलशिखरे इति ॥

आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) पृ० २१३

(x) वीसं तु जिणवरिदा अमरासुरवंदिदा धुदकिलेसा ।

सम्मैदे गिरिसिहरे णिब्वाणगया णमो तेसिं ॥

प्राकृत-निर्वाणकाण्ड-२

१. जोहरापुुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह पृ० ३८-४०
२. जैनसत्यप्रकाश, वर्ष १८, पृ० ७३-७७
३. जोहरापुुरकर --पूर्वोक्त, पृ० ४९-५१
४. विजयधर्मसूरि—प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० १४-२१
५. जोहरापुुरकर—पूर्वोक्त, पृ० ५९ और आगे
६. विजयधर्मसूरि—पूर्वोक्त, पृ० २२-३२
७. जोहरापुुरकर—पूर्वोक्त, पृ० ८७-८८
८. वही, पृ० ८५

९—शीलविजय— तीर्थमाला^१ ई० सन् १६९०

१०—सौभाग्यविजय— तीर्थमाला^२ ई० सन् १६९३

इस प्रकार स्पष्ट है कि एक लम्बे काल में ही इस तीर्थ की सार्वभौमिक मान्यता प्रचलित रही है, जो आज भी उसी प्रकार मान्य है।

सम्मेतशिखर को वर्तमान बिहार राज्य के हजारीबाग जिले में अवस्थित पारसनाथहिल से समीकृत किया जाता है।^३ यहाँ २० तीर्थङ्करों के चरणचिह्न स्थापित हैं, परन्तु उनमें से कोई भी १८वीं शती से प्राचीन नहीं है,^४ जिससे कुछ विद्वानों ने इसके वास्तविक सम्मेतशिखर होने में शंका प्रकट की है और हजारीबाग जिले में ही अवस्थित कोल्हुआ पहाड़ को, जहाँ विपुल परिमाण में जैनपुरावशेष बिखरे पड़े हैं, वास्तविक सम्मेतशिखर होने की संभावना व्यक्त की है।^५

कोल्हुआ पहाड़ के निकट स्थित वर्तमान भोद्लगांव (प्राचीन-भद्लपुर, मध्ययुगीन-दातारग्राम) भगवान् शीतलनाथ की जन्म-भूमि मानी जाती है^६। तीर्थमालाओं में इस स्थान का वर्णन है—

पटनाथी दक्षिण दिशि जाणजो रे

मारग मोटा कोस पंचास रे।

भद्लपुर भाषे छें शास्त्रमां रे

हिवणां नाम दुतारा जास रे ॥

१. विजयधर्मसूरि—पूर्वोक्त, पृ० १०१-१३१

२. वही; ७३-१००

३. पाटिल—डी० आर०—३ ऐंटिक्वेरियन रिमेन्स इन बिहार (पटना, १९६३ ई०) पृ० ३६४-६६

४. वही

५. प्रो० एम० ए० ढाकी और प्रो० सागरमल जैन से व्यक्तिगत चर्चा पर आधारित।

कोल्हुआ पहाड़ पर अवस्थित जैन पुरावशेषों के सन्दर्भ में द्रष्टव्य

(i) इन्डियन ऐंटिक्वेरी, जिल्द XXX पृ० ९०-९५

(ii) रायचौधरी, पी०वी०—जैनज्म इन बिहार पृ० ४०-४३

(iii) पाटिल, डी० आर०—पूर्वोक्त, पृ० २१५-२१९

(iv) जैन बलभद्र—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग २, पृ० १६५-७२

६. जैन, जगदीश चन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ पृ० २६

तिहांथी सोलें कोसैं जाणजो रे
 भद्विलपुर छें दतारा प्रसिद्ध रे ।
 विषम मारग छें वनखंडें करी रे
 साथे पंथदिषाऊ सिद्ध रे ।
 आव्या भद्विलपुर उलट घरी रे
 गिरि चढिया दिन पूजें भाय रे ।
 राजानो आदेश लेइ करी रे
 फरस्या पारसनाथना पाय रे ।
 सप्तफणामणि मूरति पामनी रे
 एक गुफामां एकल्लमल्ल रे ।
 निपट सरोवर कमल फूलें भर्यो रे
 निर्मल पाणी तास अवल्ल रे ।
 पूजीनें ते गिरिथी ऊतरी रे
 आव्या ग्राम दतारे जेय रे ।
 जनमथयो शीतल जिनरायनो रे
 चार कल्याणक हुआ एथ रे ।
 तीर्थमाला — सौभाग्यविजय
 प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० ८९-९० से उद्धृत
 दत्तारो जिनपास आस मनवांछित पूरे ।
 अष्ट वषट भय कष्ट पाप भवभवर्ना चूरे ॥
 सर्वतीर्थवंदना — ज्ञानसागर
 तीर्थवंदनसंग्रह — पृ० ७७ से उद्धृत

चूंकि तीर्थमालाओं में सम्मत्तशिखर और दातारग्राम (भद्विलपुर-भोद्वलगांव) तथा उसके निकट स्थित पहाड़ी का अलग-अलग विवरण मिलता है, अतः सम्मत्तशिखर को पारसनाथ पहाड़ी की जगह कोल्हुआ पहाड़ से समीकृत करने में भी अनेक कठिनाइयां हैं ।

यह सत्य है कि पारसनाथ पहाड़ी पर वि० सं० १७६९ से पूर्व का कोई जैनपुरावशेष नहीं मिलता, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि उससे पूर्व यहां जैनों का कोई भी चिह्न न था, भ्रामक हो सकता

१. विजयधर्मसूरि-पूर्वोक्त, पृ० २७-३२

है। तीर्थमालाओं में यहां २० तीर्थच्छूकों के चरणचिह्न होने की बात स्पष्ट रूप से कही गयी है। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि जगतसेठ द्वारा यहां कराये गये जीर्णोद्धार के समय प्राचीन चरणचिह्नों को हटा कर नये चरणचिह्न स्थापित किये गये होंगे और तीर्थ के पुनरुद्धारक जगतसेठ ने जीर्णोद्धारक की जगह निर्माता के रूप में अपना नाम अंकित कर दिया होगा। संभवतः यही कारण है कि यहां कोई प्राचीन पुरावशेष नहीं मिलता। इस सम्बन्ध में हमें यह भी स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वी भारत के जैन समाज में विमल ऐसा मंत्री अथवा वस्तुपाल-तेजपाल के समान कोई दण्डनायक न था, जो सम्मैत-शिखर जैसे विशाल एवं दुर्गम पहाड़ी पर ऊज्जयन्त अथवा शत्रुञ्जय की भांति विशाल एवं भव्य मंदिरों का निर्माण करा सकता।

पूर्व भारत

ब-बंगाल

१-कोटिभूमि

२-पुण्ड्रपर्वत

१-२. पुण्ड्रपर्वत और कोटिभूमि

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के 'चतुरशीतिमहातीर्थानामसंग्रहकल्प' के अन्तर्गत पुण्ड्रपर्वत और कोटिभूमि का भी उल्लेख किया है और इन स्थानों पर भगवान् महावीर के चैत्यालय होने की बात कही है।

पुण्ड्रपर्वत को पुण्ड्रवर्धन से और कोटिभूमि को कोटिवर्ष से समीकृत किया जा सकता है। ये दोनों स्थान प्राचीन काल में उत्तरी बंगाल में स्थित थे। महावीर के समय (ईसापूर्व छठीं शती) से लेकर ह्वेनसांग (ई०सन् ७ वीं शती) के समय तक बंगाल में जैनधर्म के व्यापक प्रसार के प्रमाण मिलते हैं, परन्तु पालों और सेनों के शासन काल (ई० सन्

१. मजुमदार, रमेश चन्द्र—“जैनिज्म इन ऐंश्वेंट बंगाल”—महावीर जैन विद्यालय सुवर्ण महोत्सव ग्रंथ, भाग-१, पृ० १३५

८वीं से ई० सन् १२वीं शती) में यहां केवल बौद्ध और ब्राह्मणीय धर्म ही लोकप्रिय रहे और उन्हीं को राजाश्रय भी प्राप्त हुआ। इसके विपरीत जैन धर्म का इस कालावधि में क्रमशः ह्रास होता गया, जिससे इस समय के जैन पुरावशेषों की संख्या यहां से प्राप्त ब्राह्मणीय और बौद्ध पुरावशेषों की तुलना में नगण्य है।^१ वस्तुतः इस युग में यहां जैन धर्मावलम्बियों की संख्या कम हो गयी थी, क्योंकि संभवतः अधिकांश जैनी पश्चिमी भारत में चले गये और जो बचे भी थे उनमें गुजरात के विमल जैसे राज्याधिकारी और वस्तुपाल जैसे श्रेष्ठी न थे बल्कि साधारण श्रेणी के कृषक और व्यापारी थे, जिन्होंने अपने सामर्थ्य के अनुरूप ही जिनालयों एवं जिन प्रतिमाओं का निर्माण कराया, जिनके अवशेष आज हमें मिलते हैं।^२ परन्तु प्राचीन परम्परा से सम्बन्धित होने के कारण ये क्षेत्र जैनियों में आदर की दृष्टिसे देखे जाते रहे होंगे। जहां तक जिनप्रभसूरि के उक्त विवरण का प्रश्न है, हमारे पास ऐसा कोई भी स्पष्ट प्रमाण नहीं है जिसके आधार पर निश्चित रूप से कुछ कहा जा सके। यह कहना कठिन है कि उन्होंने प्राचीन परम्परा के आधार पर इन स्थानों को तीर्थ रूप में उल्लिखित किया है अथवा उनके समय में इन स्थानों पर जिनालय थे और इस आधार पर उन्होंने इन्हें तीर्थों की सूची में सम्मिलित किया है।

पूर्व भारत

स—उड़ीसा

१—कलिङ्गदेश

२—माहेन्द्रपर्वत

१. कलिङ्गदेश

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत कलिङ्गदेश का भी उल्लेख है और यहां गोम्मटश्रीऋषभदेव के मंदिर होने की बात कही गयी है।

१. घोष, अमलानन्द - संपा० जैन कला और स्थापत्य-खंड २ पृ० २६४

२. वही, पृ० २६४, २६५-६८।

जैन साहित्य में 'कलिङ्गदेश' और उसकी राजधानी कांचनपुर^१ का उल्लेख तो है, परन्तु यहां ऋषभदेव के मंदिर होने की बात को जिनप्रभसूरि के अलावा किसी अन्य जैन ग्रंथकार ने उल्लिखित किया हो, ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया है। अतः जिनप्रभ के उक्त वक्तव्य को उनकी व्यक्तिगत श्रद्धा के आधार पर ही स्वीकार किया जा सकता है।

२. माहेन्द्र पर्वत

कल्पप्रदीप के 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प' के अन्तर्गत माहेन्द्रपर्वत का भी उल्लेख है और यहाँ भगवान् पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है।

उड़ीसा से मदुरा तक सम्पूर्ण पर्वतशृंखला माहेन्द्रपर्वत के नाम से जानी जाती है। वर्तमान में उड़ीसा प्रान्त के गंजाम जिलान्तर्गत स्थित पहाड़ी माहेन्द्रपर्वत के नाम से अभिहित की जाती है। जैन^२ पौराणिक साहित्य^५ में इन स्थानों का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु जैन तीर्थों के रूप में जिनप्रभसूरि को छोड़कर किसी अन्य जैन ग्रंथकार ने इस स्थान का उल्लेख नहीं किया है। चूँकि यह पर्वत पौराणिक कथाओं में उल्लिखित है, अतः इसकी पवित्रता एवं महत्त्व तो निर्विवाद है, ऐसी स्थिति में वहाँ जैन तीर्थ होने की जिनप्रभसूरि की मान्यता को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता। हो सकता है उनके समय में यहाँ आदिनाथ का कोई जिनालय रहा हो।

१. मेहता और चंद्रा - प्राकृतप्रापरनेम्स, पृ० १६४,
जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दन संग्रह, पृ० २३, २६, ३५
और आगे।
२. मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० १६४,
जैन, जगदीशचंद्र—जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज,
पृ० ४६६-६७।
३. काणे, पी०वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० १४७०।
४. पउमचरिउ ३०।१९; आदिपुराण, २९।८८।

मध्य भारत

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, सातवें अध्याय में कल्पप्रदीप के उन तीर्थों को सम्मिलित किया गया है जो मध्य-भारत-वर्तमान मध्यप्रदेश की सीमा में अवस्थित हैं। अब इन तीर्थों का वर्णक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत है -

- १-अवन्तीदेशस्थ-अभिनन्दनदेव
- २-ओंकारपर्वत
- ३-कुडु गेश्वरनाभयदेव
- ४-चन्देरी
- ५-ढींपुरी
- ६-दशपुर
- ७-विदिशा

१. अवन्तीदेशस्थ अभिनन्दनदेवकल्प

जिनप्रभसूरि के कल्पप्रदीप के अन्तर्गत "अवन्तीदेशस्थ-अभिनन्दन-देवकल्प" का भी उल्लेख प्राप्त होता है। उन्होंने इस तीर्थ के संबंध में जिन बातों का यथाश्रुत वर्णन किया है, वे संक्षेप में इस प्रकार हैं—

"मालव देश के अन्तर्गत मङ्गलपुर नामक एक नगरी थी, उसके निकट वन में अभिनन्दनदेव का एक जिनालय था। एक बार म्लेच्छों ने आकर उस जिनालय को भग्न कर दिया और जिन-प्रतिमा को नौ खंडों में खंडित कर दिया। स्थानीय मेव लोगों (जंगली जाति विशेष) ने प्रतिमा के खंडों को इकत्र कर एक सुरक्षित स्थान में रख दिया। कुछ काल बीतने पर वाइजा नामक एक जैनश्रावक वहाँ व्यापार हेतु आया, जहाँ प्रशंगवश मेव लोगों ने उसे खंडित जिन-प्रतिमा के दर्शन कराये। वह श्रावक प्रतिदिन उस प्रतिमा के दर्शन के पश्चात् ही भोजन करता था। एक दिन लोभ से वशीभूत होकर मेवों ने प्रतिमा छिपा दी और

मध्य भारत (मध्य प्रदेश)



वणिक से मनचाही वस्तुएं लेकर ही उस प्रतिमा को उसके सामने ले आये। इस घटना से वणिक दुःखी हुआ और अधिष्ठायकदेव से आदेश प्राप्त कर उसने प्रतिमा के अंगों को जोड़कर उन पर चंदन विलेपित कर दिया, जिससे वह पहलेके समान हो गयी। इससे संतुष्ट होकर उस श्रावक ने मेव लोगों को उनकी मनोवांछित वस्तुएं प्रदान किया और जिन-प्रतिमा को वहीं पीपल के वृक्ष के नीचे वेदी बनवाकर स्थापित कर दी। अभयकीर्ति भानुकीर्ति आदि मठाधीश उस प्रतिमा की देख-रेख करने लगे। एकबार प्राग्वाटवंशीय किसी हालाशाह नामक एक निःसन्तान व्यक्ति ने पुत्र उत्पन्न होने के लिये यहां कामना की, जिसके पूर्ण होने पर उसने यहाँ एक ऊंचे शिखर वाला जिनालय बनवाया। महणिया नामक एक मेव ने यहाँ जिनदेव के सम्मुख अपनी उंगली काट कर अर्पित कर दिया, परन्तु उसकी उंगली पुनः नई हो गयी। इन चमत्कारों को सुनकर मालवाधिपति जयसिंह ने यहां आकर जिनालय में पूजा-अर्चना की और जिनालय के व्यय हेतु २० हल भूमि तथा उस जिनालय की देखरेख करने वालों को १२ हल भूमि प्रदान की।”

मंगलपुर स्थित अभिनन्दनदेव के जिनालय और उसे म्लेच्छों द्वारा भंग किये जाने का उल्लेख मदनकीर्ति^१ (१२वीं-१३वीं शती) निर्वाणकाण्ड^२- (१३वीं शती ई० सन्); उदयकीर्ति^३ (१२वीं-१३वीं ई० सन्) और गुणकीर्ति^४ (१५ वीं शती ई०) ने भी किया है। इस

१. श्रीमन्मालवदेशमंगलपुरे म्लेच्छैः प्रतापागतैः ।
भग्ना मूर्तिरथो भियोजितशिराः संपूर्णतामाययो ।
यस्योपद्रवनाशिनः कलियुगे नेकप्रभावैर्युतः ।
स श्रीमानभिनन्दनः स्थिरयते दिग्वाससौ शासनम् ॥३४॥

मदनकीर्ति—शासनचतुस्त्रिशिका

२. पासं तह अहिणंदण गायददह मंगलाउरे वंदे ।
... .. ॥१॥

निर्वाणकाण्ड—अतिशयक्षेत्रकाण्ड

३. मालवद्र संति वंदउं भक्ति विसमेणराय कडिउ णिरुत्त ।
मंगलउरि वंदउं जगि पयास । अहिणदणु अइसयगुणणिवास ॥७॥
उदयकीर्तिकृत तीर्थवन्दना (तीर्थवन्दनासंग्रह पृ० ३९) ।
४. जोहरापुरकर, विद्याधर—पूर्वोक्त, पृ० १६२ ।

प्रकार स्पष्ट है कि मंगलपुर में अभिनन्दनदेव का एक महिम्न जिनालय जिसे म्लेच्छों ने नष्ट कर दिया ।

अब हमारे सामने दो प्रश्न आते हैं :—

१—जिनालय भग्न करने वाला म्लेच्छ कौन था ? और

२—नवनिर्मित जिनालय को दान देने वाला मालवाधिपति जयसिंह कौन था ?

जहाँ तक मालवाधिपति जयसिंह का प्रश्न है, उसे परमार नरेश देवपाल (१२१८-३९ ई० सन्) का उत्तराधिकारी जयतुगी (जयसिंह 'द्वितीय'^१-१२३९-५५ ई० सन्) माना जाता है^२ और आक्रामक के संबंध में यह स्पष्ट है कि जयसिंह के पूर्व ही यहाँ आक्रमण हुआ था एवं उसी समय जिनालय आदि तोड़ा गया । यह आक्रमणकारी सम्भवतः दिल्ली का गुलामवंशीय शासक इल्तुत्तमिश ही रहा होगा, जिसने ई० सन् १२३३ में बिदिशा पर अधिकार कर उज्जयिनी को भी नष्टप्राय कर दिया था ।^३ यह तीर्थ आज विच्छिन्न है ।

२. ओंकारपर्वत

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत ओंकार पर्वत का भी उल्लेख है और यहाँ भगवान् पार्श्वनाथ के जिनालय होने की बात कही गयी है ।

ओंकारपर्वत का तो अन्यत्र उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु ओंकारेश्वर, जिसकी गणना १२ ज्योतिर्लिङ्गों में की जाती है^४ का उल्लेख अवश्य मिलता है और इसी ओंकारेश्वर से ओंकारपर्वत को समीकृत किया जा सकता है । जैन साहित्य में इस स्थान का कोई उल्लेख नहीं मिलता और अभी तक यहाँ से कोई जैन पुरावशेष भी प्राप्त नहीं

१. प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास पृ० १३४

२. कोठिया, दरबारीलाल—“प्राचीन तीर्थों की एक परिचयात्मक कृति”
चन्दावाईअभिनन्दनग्रन्थ, पृ० ४०७-८

३. मजुमदार और पुसालकर—संपा०—स्ट्रुगिल फॉर एम्पायर-पृ० ७१

४. सरकार, दिनेशचंद्र—द स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ ऐंशेंट एण्ड मिडु-
वल इण्डिया (द्वि०सं०) पृ० २४५ ।

हुआ है, ऐसी परिस्थिति में जिनप्रभसूरि के उक्त वक्तव्य को स्वीकार करने में कुछ कठिनाई अवश्य प्रतीत होती है, परन्तु उनके उक्त बात को पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं किया जा सकता। यदि यहाँ से भी श्रीशैलम के समान ही कोई अभिलेख अथवा जैन पुरावशेष प्राप्त हो जाये तो इस स्थान की भी जैन तीर्थ के रूप में मान्यता स्वतः सिद्ध हो जायेगी।

मध्यप्रदेश के निमाड़ जिलान्तर्गत मांधाता के समीप नर्मदा नदी के मध्य स्थित एक द्वीप ओंकारेश्वर तीर्थ के नाम से जाना जाता है, जहाँ शैवों का प्रसिद्ध और अति महिम्न शिवालय है।^१ इस तीर्थ से भिन्न नर्मदा के दूसरे तट पर दिगम्बरों का प्रसिद्ध सिद्धवरकूट नामक तीर्थ है, जहाँ वर्तमान युग के कई जिनालय विद्यमान हैं।^२

३ कुडुंगेश्वरनाभेयदेवकल्प

उज्जयिनी नगरी में कुडुंगेश्वर नामक एक जिनालय था, जिसे श्वेताम्बर परम्परानुसार अवन्तिसुकमाल के पुत्र ने अपने पिता के मरणस्थल पर निर्मित कराया, जो बाद में हिन्दुओं के अधिकार में आ गया। विक्रमादित्य (संवत्सर प्रवर्तक ?) के शासन काल में एक बार आचार्य सिद्धसेन दिवाकर वहाँ पहुँचे। घटना विशेष से उन्होंने शिव-लिंग से तीर्थङ्कर प्रतिमा को प्रकट किया और वह पुनः जैनों के अधिकार में आ गया। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के “कुडुंगेश्वर नाभेयदेवकल्प” के अन्तर्गत इस स्थान से सम्बंधित जैन मान्यताओं का यथाश्रुत विवरण दिया है, जो इस प्रकार है :—

“लाट देश में भृगुकच्छ नामक एक नगरी थी, वहाँ स्थित सुप्रसिद्ध शकुनिका विहार में वृद्धवादीसूरि नामक एक जैनाचार्य रहते थे। एकबार दक्षिणदेश से आये हुए कर्णाटभट्ट दिवाकर नामक विद्वान् को उन्होंने शास्त्रार्थ में पराजित कर उसे अपना शिष्य बनाया, जो

१. डे, नन्दोलाल—ज्योग्राफिकल डिक्सनरी ऑफ ऐंशेंट एण्ड मिडुवल इण्डिया, पृ० ५।

२. जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १८३-८४।

सिद्धसेन दिवाकर के नाम से प्रसिद्ध हुए। एकबार उन्होंने अपने गुरु से आगमों को संस्कृत भाषा में अनुवादित करने की अनुमति मांगी, जिससे उनके गुरु ने उन्हें दण्डस्वरूप १२ वर्ष तक अवधूत के वेष में विचरण करने का विधान निश्चित किया। अपने प्रायश्चित्त के १२वें वर्ष में भ्रमण करते हुए वे उज्जयिनी स्थित महाकालमंदिर में आये, जहाँ लोगों के आग्रह करने पर भी उन्होंने शिवलिंग को प्रणाम नहीं किया। जब विक्रमादित्य को यह बात ज्ञात हुई तो उन्होंने स्वयं आकर उनसे वही निवेदन किया, जिस पर उन्होंने शिवलिंग के खंडित होने की बात कही। परन्तु राजा के आग्रह पर उन्होंने द्वात्रिंशिकाओं का पाठ किया, जिससे शिवलिङ्ग फट गया और उसमें से आदिनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। यह देखकर राजा बड़ा चमत्कृत हुआ और मुनि ने उसे धर्मलाभ दिया। प्रसन्न होकर राजा ने मुनि को १ करोड़ दिया और मंदिर को ग्रामादि दान में दिया तथा संवत् १ चैत्र, गुरुवार को इस आशय से युक्त एक शासनपट्टिका भी श्वेताम्बरोपासक ब्राह्मण गौतम के पुत्र कात्यायन से लिखाया। सभी जटाधारी दार्शनिकों को श्वेताम्बर जैन बनाया तथा सम्पूर्ण पृथ्वी पर जैन धर्म का प्रचार किया। मुनि ने प्रसन्न होकर विक्रमादित्य के ११९९ वर्ष बीतने पर कुमारपाल नामक एक प्रतापी नरेश के होने की भविष्यवाणी की।”

जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित सिद्धसेनदिवाकर और विक्रमादित्य [संवत् प्रवर्तक ?] सम्बन्धी कथा हमें निम्नलिखित ग्रन्थों में भी प्राप्त होती है—

- १—प्रभावकरि^१-प्रभाचन्द्राचार्य (ई० सन् १२७८)
- २—प्रबन्धचिन्तामणि^२ मेरुतुङ्ग (ई० सन् १३०५)
- ३—पुरातनप्रबन्धसंग्रह^३-अज्ञात (ई० सन् १५ वीं शती लगभग)
- ४ कथावलो-भद्रेश्वरसूरि (ई० सन् १२३५ के पूर्व)
- ५—प्रबंधकोश^४-राजशेखरसूरि (ई० सन् १३४८)

१. संपा० मुनि जिनविजय—पृ० ५४-६१

२. संपा० वही, पृ० ७ और आगे

३. संपा० वही, पृ० ९-१०

४. संपा० जिनविजय—पृ० १९

६ - सम्यकत्वसप्तशतिकाटीका^१-श्रीसंघतिलकसूरि (ई० सन् १३६६)

७ - विक्रमचरित^२-शुभशीलगणि (ई० सन् १४४३ या १४३४ ?)

जिनप्रभसूरि ने दोनों महापुरुषों में उक्त भेंट का स्थान कुडुं गेश्वर का मंदिर बतलाया है। यही बात धनेश्वरसूरि और प्रभाचन्द्राचार्य ने भी कही है। इसके विपरीत प्रबंधकोश, कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका, सम्यकत्वसप्तशतिकाटीका, विक्रमचरित आदिके अनुसार वह महाकाल का मंदिर था, जब कि पुरातनप्रबंधसंग्रह और प्रबंधचिन्तामणि के अनुसार वह गूढमहाकाल का मंदिर था। इस प्रकार हम देखते हैं कि उक्त मंदिर के ३ नाम मिलते हैं यथा—कुडुं गेश्वर का मंदिर, महाकालमंदिर और गूढमहाकालमंदिर।

विक्रमादित्य के आग्रह पर सिद्धसेन ने पाठ किया, यह पाठ कौन सा था ? इस प्रश्न पर भी मतभेद है। कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका के अनुसार कल्याणमंदिरस्तोत्रके पाठ से लिङ्ग फट गया और पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। इसके विपरीत विविधतीर्थकल्प [कल्पप्रदीप], कथावली, प्रबंधचिन्तामणि, पुरातनप्रबंधसंग्रह और सम्यकत्वसप्तशतिकाटीका के अनुसार सिद्धसेन ने उक्त अवसर पर द्वात्रिंशिकाओं का पाठ किया। प्रभावकचरित, प्रबंधकोश, विक्रमचरित और उपदेशप्रासाद के अनुसार सिद्धसेन ने “कल्याण-मंदिरस्तोत्र” और “द्वात्रिंशिकाएँ” दोनों का पाठ किया; जिसके उपरान्त पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई। कल्पप्रदीप में आदिनाथ की प्रतिमा प्रकट होने का उल्लेख है। कु० क्राउञ्जे ने इसे ग्रंथ सम्पादक मुनि जिनविजय की भूल माना है और इस संबंध में उन्होंने जो तर्क दिये हैं, वे बड़े महत्व के हैं—

मूल कथा में पार्श्वनाथ की प्रतिमा का ही प्रादुर्भाव कथित हुआ होगा, जिसके नामान्तर “वामासूनु” “वामेय” इत्यादि जिनप्रभके

१. (संशोधक—मुनि वल्लभविजय—प्रका० श्रेष्ठी देवचन्दलालभाई जैन पुस्तकोद्वारे, ग्रन्थाङ्क ३५, ई० सन् १९१६)

२. (संशोधक और प्रकाशक—पं० भगवानदास, वि०सं० १९९६)

७ : ५५-५६

आधारभूत मूलग्रंथ की आदर्श प्रति में लेखक की भूल से 'नाभिसूनु', 'नाभेय' आदि में परिवर्तित किये गये और इस भूल के परिणाम-स्वरूप शेष परिवर्तन पिछली प्रतियों में क्रमशः आ गये होंगे। दूसरे विविधतीर्थकल्प की [अ] प्रति में दी गयी तीर्थकल्पों की अनु-क्रमणिका (पृ० १११) तथा प्रस्तुत तीर्थकल्प (नं० ४७) का नाम "कुडुं गेश्वरनाभेयदेवकल्प" के स्थान पर साथ-साथ श्रीकुडुं गेश्वर-पाश्व" ही लिखा है। इसके अलावा "चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रह-कल्प" में प्रथम तीर्थङ्कर के तीर्थस्थानों की नामावली में न तो कुडुं गेश्वर का उल्लेख है और न उज्जयिनी का ही विवरण है, किन्तु पार्श्वनाथ की तीर्थ-सूची में "महाकालान्तरपातालचक्रवर्ती" ऐसा नाम पाया जाता है। इससे भी उक्त अनुमान का समर्थन होता है। अतः यह बात स्पष्ट है कि उक्त बिम्ब आदिनाथ की नहीं पार्श्वनाथ का ही था।

विक्रमादित्य द्वारा सिद्धसेन को दिये गये दान का विवरण और उसकी समीक्षा इस प्रकार है—

“ततश्च गोहृदमण्डले च सांवद्रा प्रभृतिग्रामाणामेकनवर्ति, चित्रकूट-मण्डले वसाढप्रभृतिग्रामाणं चतुरशीतिं, तथा घुंठारसीप्रभृतिग्रामाणं चतुर्विंशतिं, मोहडवासकमण्डले ईसरोडाप्रभृतिग्रामाणा षट्पञ्चाशतं श्रीकुडुं गेश्वरऋषभदेवाय शासनेन स्वनिः श्रेयसार्थमदात् । ततः शासनपट्टिकां श्रीमदुज्जयिन्यां, संवत् १, चैत्र सुदि १, गुरी, भाटदेशीयमहाक्षपटलिक परमार्हतश्वेताम्बरोपासक ब्राह्मण-गौतमसुत-कात्यायनेन राजाऽलेखयत् ,”

कल्पप्रदीप अपरनाम विविधतीर्थकल्प पृ०-८९ ।

अर्थात् “तत्पश्चात् (राजा ने अपने आत्मकल्याण के लिए कुडुं गेश्वरऋषभदेव को शासन द्वारा गोहृद मंडल में सांवद्रा आदि ९१ ग्राम, चित्रकूट मंडल में वसाढ आदि ८४ ग्राम तथा घुंठारसी आदि में २४ ग्राम और मोहडवासकमंडल में ईसरोडा आदि ५६ ग्राम भेंट किये। इसके बाद राजा ने शासनपट्टिका उज्जयिनी में चैत्र शुक्ल प्रतिपदा संवत् १ गुरुवार को भाट देश के निवासी महाअक्ष-पटलिक, परमश्रावक श्वेताम्बरमतावलम्बी ब्राह्मण गौतम के पुत्र कात्यायन द्वारा लिखवाया।”

उपर्युक्त स्थानों में से चित्रकूट, गोह्मद, वसाढ़ और घुंठारसी आदि की अलग-अलग पहचान की गयी है। गोह्मद को 'क्राउझे' ने गोधरा और भाटदेश को जैसलमेर के आस-पास का प्रदेश बतलाया है और शेष नामों के संबंध में उन्होंने खोज की आवश्यकता पर बल दिया है। शासनपट्टिका लिखाने वाले राजा को 'श्रीविक्रमादित्यदेव', कहा गया है और उन्हें निम्नलिखित विशेषण दिया गया है—

सर्वत्रानृणीकृतविश्वविश्वम्भरांकितनिजैकवत्सरः ।

अर्थात्—“जिसका एक ही निजी संवत्सर (जो चालू है) समस्त पृथ्वी को सर्वत्र ऋण-रहित करने के कार्य से अंकित है। इसका तात्पर्य है कि त्रिनप्रभसूरि के अनुसार “संवत्सरप्रवर्तक विक्रमादित्य” ने श्री सिद्धसेन दिवाकर द्वारा प्रतिबोधित होकर अपने निजी संवत् १ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा के दिन जैन धर्म अगीकार किया और “कुडु-गेश्वरऋषभदेव” को उक्त ग्राम समर्पित किया।

जहाँ तक समयनिर्देश का प्रश्न है, ग्रंथकार द्वारा उल्लिखित तिथि विक्रमसंवत् १ की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा है। ज्योतिषशास्त्रानुसार गणित द्वारा पता लगाया गया है कि विक्रमसंवत् १ अर्थात् ५६ ई० पूर्व की चैत्र शुक्ल प्रतिपदा को गुरुवार अथवा शुक्रवार हो सकता है। यदि संवत् का प्रारम्भ कार्तिक से माना जाये।” इस रीति से विक्रमसंवत् का प्रारम्भ कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा से गिनना जैन प्रणाली के अनुकूल है। अतः जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित समय तो अबाधित है। परन्तु कुछ अन्य बातों के कारण इस विवेचन की प्रामाणिकता में शंका उत्पन्न हो जाती है—जैसे चित्रकूट मंडल का उल्लेख। प्रस्तुत चित्रकूट आज का चित्तौड़ हो सकता है, जिसे वि०सं० ६०९ में चित्राङ्गद सोरिया ने बसाया था,^१ उसी के नाम पर इसे चित्रकूट कहा जाने लगा। इस आधार पर चित्रकूट का विक्रम सं० १ में विद्यमान होना असंभव है। संदेह का दूसरा कारण है श्वेताम्बर शब्द। चूंकि निर्ग्रथसंघ वीरनिर्वाण संवत् ६०९ में श्वेताम्बर और

१. विक्रमस्मृतिग्रंथ (उज्जैन सं० २००१), पृ० ४१३

२. वही, पृ० ४१३

३. वही ।

दिगम्बर सम्प्रदायों में विभक्त हुआ, अतः वि०सं०१ में श्वेताम्बरों की विद्यमानता का प्रश्न ही नहीं उठता। सब से ज्यादा आपत्ति तो है सिद्धसेनदिवाकर और संवत्सरप्रवर्तक विक्रमादित्य का समकालीन होना, जो पं० सुखलालजी और पं० बेचरदास जी की दृष्टि में संदिग्ध ही नहीं अपितु असंभव है।^१ इन विद्वानों ने सिद्धसेन को गुप्तकाल में रखा है और कहा है कि यदि सिद्धसेन ने विक्रमादित्य को धर्मलाभ दिया है तो वह केवल विक्रमादित्य की उपाधि से विभूषित कोई गुप्त-वंशीय नरेश ही हो सकता है।^२ ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि जब दोनों समकालीन ही नहीं थे तो विविधतीर्थकल्प की इतनी शंकाओं से युक्त विवरणों में कितना ऐतिहासिक तथ्य विद्यमान है? इसके बाद भी ग्रंथकार निम्नलिखित शब्दों में पाठकों से विश्वास की मांग करते हैं कि

कुडुंगेश्वर नाभेयदेवस्थानल्पतेजसः ।

कल्पं जल्पामि लेखेन दृष्ट्वा शासनपट्टिकाम् ॥^३

अर्थात् 'शासनपट्टिका को देखकर मैं महान् तेजस्वी कुडुंगेश्वर के कल्प को संक्षेप में कहूंगा।' यह कथन उस महान् आचार्य जिनप्रभसूरि के हैं जिन्होंने मुहम्मदतुगलक को भी जैन धर्म का हितैषी बनाया। ऐसे महापुरुष की बात में सन्देह तो नहीं करना चाहिये और यह मानना चाहिए कि उन्होंने एक शासनपट्टिका-चाहे वह शिलालेख हो या ताम्रपत्र, अवश्य देखी थी।^४ परन्तु उन्होंने उसके संबंध में स्मृति से लिखा और वृद्ध परंपराओं के मौखिक स्मरणों के आधार पर उसे आगे भी बढ़ाया, जैसा वे स्वयं कहते हैं। इससे स्पष्ट है कि ग्रंथकार ने प्रस्तुत तीर्थ को अति प्राचीन इतिहास की एक आदरणीय वस्तु समझकर उसकी तत्कालीन ऐतिहासिकता का प्रश्न छोड़कर उसके संबंध में प्रचलित किंवदन्तियों के संग्रह के रूप में अपना यह विवरण प्रस्तुत किया है।^५ यह भी संभव है कि जिस शासनपट्टिका को

१. विक्रमस्मृतिग्रंथ, पृ० ४१४ ।

२. वही ।

३. विविधतीर्थकल्प, पृ० ८८ ।

४. विक्रमस्मृतिग्रंथ पृ० ४१५ ।

५. वही. पृ० ४१५ ।

उन्होंने देखा वह विक्रम के उल्लेखों से अंकित बाद के समय में लिखी हुई नकली शिलालेखों अथवा ताम्रपत्रों में से एक थी, जो कभी कभी हस्तगत हो जाया करते हैं। फिर भी यह निर्विवाद है कि जिस कुडुंगेश्वरदेव का आलम्बन कर ऐसे आशय की एक जाली शासन-पट्टिका बनायी जा सकी और जिसके संबंध में वृद्ध परम्परा के ऐसे संस्मरण प्रचलित हो सके, उस कुडुंगेश्वरदेव का नाम किसी समय में एक प्रसिद्ध वस्तु और उसका मंदिर एक महिमा-संयुक्त जैन तीर्थस्थान अवश्य था।^१ इस बात का समर्थन प्रबंधचिन्तामणि के अन्तर्गत 'कुमारपालप्रबन्ध' (पृ० ७८) के एक वृत्तान्त से भी होता है। उसके अनुसार गुजरात के भावी राजा कुमारपाल वर्तमान राजा सिद्धसेन के भय से भागते-भागते मालव देश में कुडुंगेश्वर के मंदिर में आते हैं और यहां रखी हुई शासनपट्टिका में इस आशय का एक पद्य पढ़ते हैं कि 'विक्रम से ११९९ वर्ष पश्चात् स्वयं कुमारपाल ही विक्रम के सदृश्य एक राजा होंगे।' उक्त पद्य अन्य ग्रन्थों में भी मिलता है। मूल रूप से उसमें सिद्धसेन दिवाकर विक्रमादित्य को सम्बोधित करते दिखाये गये हैं।^२

पुरातनप्रबंधसंग्रह (पृ० ३: तथा पृ० १२३) में भी कुमारपाल का यह वृत्तान्त पाया जाता है, परन्तु वहाँ कुडुंगेश्वर के स्थान पर कुण्डि-गेश्वर शब्द लिखा है और उपयुक्त पद सिद्धसेन द्वारा ही कथित बतलाया गया है। कुडुंगेश्वर नाम के वे उल्लेख भी कुडुंगेश्वर जैन तीर्थ की विद्यमानता की एक अस्पष्ट प्रतिध्वनि समझे जा सकते हैं।^३

यह उल्लेखनीय है कि प्रस्तुत घटनाओं की रंगभूमि प्राचीन उज्जयिनी में जैन धर्म का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा।^४ राजा सम्प्रति ने यहीं से जैन धर्म का प्रचार किया था। कालकाचार्य द्वारा प्रतिबोधित शक नरेशों ने भी उज्जयिनी को ही अपनी राजधानी बनायी थी। सम्प्रति के समय यहाँ जीवन्तस्वामी के एक मंदिर होने का भी उल्लेख

१. विक्रमस्मृतिग्रंथ, पृ० ४१५।

२. वही, पृ० ४१५।

३. वही, पृ० ४१५।

४. वही, पृ० ४२२।

मिलता है, जिसके दर्शनार्थ आर्य सुहस्ति यहाँ आये थे। पुरातात्विक साक्ष्यों से भी इस बात के प्रमाण मिलते हैं कि यह नगरी जैन धर्म के एक प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में विख्यात रही। पार्श्वनाथ की शासनदेवी पद्मावती की एक प्रतिमा यहाँ गूढ़ में स्थित कालिकादेवीके मंदिरमें अभी भी विद्यमान है।^१ इस प्रतिमा की विशालता से अनुमान होता है कि वह एक समय पार्श्वनाथ की भव्य प्रतिमा के पास एक विशाल जिनालय में प्रतिष्ठित रही होगी। दूसरा प्रमाण है—महाकालवन की भूमि से प्राप्त श्याम पाषाण की पार्श्वनाथ की प्रतिमा, जो आज गन्धवती घाट के पास स्थित श्वेताम्बर मंदिर में अवन्तिपार्श्वनाथ के नाम से पूजित है।^२ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि प्राचीन उज्जयिनी में जैन धर्मों का स्थान इतना ऊँचा था कि उससे भी महाकालेश्वरमंदिर की उत्पत्ति की उपर्युक्त कल्पना को उत्तेजन और इतनी शताब्दियोंपर्यन्त प्रचलित रहने की शक्ति प्राप्त हो सकी।

कु० क्राउञ्जे के उपर्युक्त निष्कर्ष अत्यन्त सुविचारित और सामान्यरूप से ग्राह्य हैं। उससे अधिक निश्चय से इस संबंध में कुछ भी कह पाना कठिन है। जैन कथाओं से उज्जयिनी में शैव और जैन धर्मों में परस्पर प्रतिस्पर्धा की बात तो स्पष्ट है, परन्तु यह निर्णय कर पाना दुष्कर है कि किसी तीर्थ विशेष के विवाद के संदर्भ से कौन परम्परा प्राचीन है और कौन अपेक्षाकृत उत्तरकालीन है। यह उल्लेखनीय है कि विवाद संबंधी जैन कथाओं का इतिहास गुप्तकाल से प्राचीन नहीं सिद्ध होता और इस समय तक तो उज्जयिनी शैव धर्म के प्रमुख केन्द्र के रूप में विख्यात हो चुकी थी।

४. चन्देरी

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत चन्देरी का भी उल्लेख है और यहाँ भगवान् अजितनाथ के मंदिर होने की चर्चा है।

चन्देरी मध्यप्रदेश के गुना जिले में बेतवा नदी के तट पर

१. विक्रमस्मृतिग्रंथ, पृ० ४२२।

२. वही, पृ० ४२२।

स्थित है^१। स्थानीय परम्परानुसार चन्देरी चेदि जनपद की राजधानी थी। बौद्ध^२ और जैन^३ साहित्य में इस जनपद का उल्लेख प्राप्त होता है। महाभारत^४ और पुराणों^५ में भी इसकी चर्चा है। चेदि जनपद वत्स जनपद के दक्षिण पश्चिम में स्थित था। इसके पूर्व में काशी, दक्षिण में विन्ध्यपर्वत, पश्चिम में अवन्ती और उत्तर-पश्चिम में शूरसेन जनपद स्थित था। चेदि जनपद के अन्तर्गत मध्यप्रदेश के कुछ भाग एवं बुंदेलखण्ड का प्रदेश तथा उसके समीपवर्ती क्षेत्र सम्मिलित रहे।^६ विभिन्न युगों में इस जनपद की सीमायें बदलती रहीं। प्रारम्भ में शुक्तमती इस जनपद की राजधानी रही, परन्तु गुप्तकाल में कालिंजर ने शुक्तमती का स्थान ले लिया।^७ पूर्व मध्ययुग में कल्चुरियों का यहां राज्य स्थापित हुआ, इसीलिये उन्हें चेदिकुल भी कहा जाता है।^८ तत्कालीन राजनैतिक प्रतिद्वंद्विता में चन्देरी कभी चन्देलों और कभी कल्चुरियों के अधीन रही। ग्रीक इतिहासकारों ने संभवतः इसी नगरी, जिसे चंद्रावती भी कहा जाता था, संद्रावती नाम से उल्लिखित किया है।^९ यहां से चन्देल नरेश कर्तिवर्मा (ई. सन् १०६०-११००) के समय का एक शिलालेख मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि उमने यहां एक दुर्ग बनवाया था, जो निर्माता के नाम पर कीर्तिदुर्ग नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस लेख में इस

१. पाटिल, डी०आर०—कल्चुरल हेरिटेज ऑफ मध्यभारत, पृ० ९९।
२. रायचौधरी, हेमचन्द्र—प्राचीनभारत का राजनैतिक इतिहास, पृ० १००-१०१।
३. जैन, जगदीश चन्द्र—जैनआगमसाहित्य में भारतीय समाज, पृ० ४८१।
४. रायचौधरी—पूर्वोक्त, पृ० १०१
५. पाण्डेय, राजबली—पुराणविषयानुक्रमणिका, पृ० १०५।
६. शास्त्री, नेमिचन्द्र—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, पृ० ५७।
७. डे नन्दोलाल—पूर्वोक्त, पृ० ४७।
८. पाठक, विशुद्धानंद—प्राचीन भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ० ६०७।
९. बाजपेयी, कृष्णदत्त—ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया ऑफ ऐंशेंट एण्ड मिडुवल इंडिया, पृ० ८७

नगरी का नाम चंद्रपुर उल्लिखित है।^१ अलबिरूनी (१०३० ई० सन्) और इब्नबतूता (१०३६ ई० सन्) ने भी इस नगरी की चर्चा की है।^२ पृथ्वीराजरासो (१६वीं शती) और आइन-ए-अकबरो में भी इसका उल्लेख मिलता है।^३

चन्देरी नगरी एवं उसके आसपास के निकटवर्ती क्षेत्रों से मध्ययुगीन अनेक प्रतिमाओं एवं मंदिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनमें जैन मंदिरों एवं तीर्थङ्करों की प्रतिमायें भी हैं^४, सौभाग्य से इनमें से कुछ पर अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं, जिनके अध्ययन से इस क्षेत्र में जैनधर्म की स्थिति पर नया प्रकाश पड़ सकता है। वि०सं० १४५७ में चन्देरीपट्ट पट्ट की स्थापना हुई।^५ भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति और उनके उत्तराधिकारियों ने इस क्षेत्र में जैन धर्म को लोकप्रिय बनाने का प्रयास किया।^६

चन्देरी से ८ मील दूर अटेर नदी के दक्षिणी तट पर बूढीचन्देरी या प्राचीन चन्देरी स्थित है, जो अब एक उजाड़ ग्राम मात्र है। यहां १०वीं से १२वीं शती के मंदिरों व भवनों के खण्डहर विद्यमान हैं।^७ यहां की प्रतिमायें अब चन्देरी तथा अन्य स्थानों पर संरक्षित हैं।

चन्देरी के निकट स्थित 'गुरिल का पहाड़' और 'खण्डारपहाड़ी' से भी जैन मंदिर और प्रतिमाओं के अवशेष मिले मिले हैं। चन्देरी और उसके निकटवर्ती स्थानों से प्राप्त पुरावशेषों का विवरण इस प्रकार है—

१. पाटिल—पूर्वोक्त, पृ० ९९।
२. मध्यभारत मार्गनिर्देशिका, पृ० ३३।
३. बाजपेयी—पूर्वोक्त, पृ० ८७।
४. घोष, अमलानंद—जैन कला और स्थापत्य—खंड २, पृ० ३५६।
५. वही, पृ० ३५६।
६. वही।
७. कनिष्क—आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट जिल्द २; पृ० ४०३; गर्दे, एम०वी०—गाइड टू चन्देरी, पृ० ४; पाटिल, डी०आर०—द डिक्सकृप्टिव एण्ड क्लासिफाइड लिस्ट ऑफ मानुमेन्ट्स इन मध्यभारत, संख्या २९७।

चन्देरी में ३ जैन मंदिर हैं। इनमें से दो दिगम्बर आम्नाय के हैं और एक श्वेताम्बर आम्नाय से सम्बन्धित है। यह जिनालय अर्वाचीन है।^१

दिगम्बरों के जो दो जिनालय हैं उनमें से एक अपेक्षाकृत प्राचीन है। इस जिनालय में कुछ मध्ययुगीन जैन प्रतिमायें हैं, सौभाग्य से उनमें से कुछ पर लेख भी हैं।^२ उनका विवरण इस प्रकार है —

पार्श्वनाथ की प्रतिमा — वि० सं० १२५२ का लेख

पद्मावती की प्रतिमा — वि० सं० १२९१ का लेख

तीर्थङ्कर प्रतिमा — वि० सं० १३१६ का लेख

दिगम्बर आम्नाय का दूसरा जिनालय वि० सं० १८९३ में निर्मित है, जिसमें २४ तीर्थङ्करों की विशाल प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं।^३

बूढ़ीचन्देरी में भी ११वीं १२वीं शती के पांच जैन मंदिर खण्डहर के रूप में विद्यमान हैं।^४

चन्देरी दुर्ग और करीघाटी के मध्य खण्डारपहाड़ी में चट्टानों को काटकर मूर्तियां व गुफायें बनायी गयी हैं। इन गुफाओं की संख्या ६ है। इनमें से ५ सोलहवीं शती में तथा एक १३वीं शती में निर्मित है। इस प्राचीन गुफा में वि० सं० ११३२ का एक लेख उत्कीर्ण है। गुफा में १० तीर्थङ्कर प्रतिमायें तथा १३ यक्षी प्रतिमायें हैं, इन पर वि० सं० १२८३ के लेख उत्कीर्ण बताये जाते हैं।^५

चन्देरी से ६ किमी० दूर मुंगावली तहसील के सिद्धपुरा नामक ग्राम में एक पहाड़ी है, जिसे गुरिलागिरि कहते हैं।^६ इस पहाड़ी पर पाड़ाशाह नामक एक जैन श्रावक ने १२वीं शती में शान्तिनाथ के

१. ग्वालियर पुरातत्त्व रिपोर्ट (१९२४-२५) पृ० १२ ।

२. वही, पृ० १२ ।

३. वही ।

४. शर्मा, राजकुमार—मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भग्रंथ, संख्या १२७० ।

५. जैन, बलभद्र—भारत के दिगम्बर जैनतीर्थ, भाग ३; पृ० ९७-९९ ।

६. ग्वालियर पुरातत्त्व रिपोर्ट—(१९२४-२५) पृ० १२ ।

एक मंदिर का निर्माण कराया।^१ बाद में यहां १०-१२ और मंदिर भी निर्मित कराये गये,^२ परन्तु आज यहां सिर्फ दो मंदिर ही विद्यमान हैं,^३ उनमें से एक में शान्तिनाथ की विशाल प्रतिमा मूलनायक के रूप प्रतिष्ठित है, इसके अलावा अन्य तीर्थङ्करों की भी छोटी-छोटी प्रतिमायें इसमें रखी गयी हैं। दूसरे मंदिर में कुल २६ जिन प्रतिमायें हैं, ये श्याम पाषाण से निर्मित और सिर-विहीन हैं। इस मंदिर की दीवार पर वि० सं० १३०७ का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। उक्त दोनों मंदिर भी दिगम्बर आम्नाय से सम्बद्ध हैं^४

उपरोक्त विवरणों से सिद्ध होता है कि चन्देरी और उसके निकट-वर्ती स्थानों में जैन धर्म का विस्तृत प्रभाव था। यहां से प्राप्त जिन प्रतिमायें दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित हैं। १६वीं शती से यहां श्वेताम्बरों के उपस्थिति की भी सूचना मिलती है,^५ परन्तु दिगम्बरों की अपेक्षा उनकी संख्या न्यून ही रही।

जहां तक जिनप्रभसूरि द्वारा यहां अजितनाथ के मंदिर होने के उल्लेख का प्रश्न है, यह तो स्पष्ट है कि आज यहां उक्त तीर्थङ्कर का कोई मंदिर विद्यमान नहीं है, संभव है कि उनके समय में यहां अजितनाथ कोई मंदिर यहां रहा हो।

अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि जिनप्रभसूरि ने इस तीर्थ का, जो मध्ययुग में दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बन्धित रहा, साम्प्रदायिक द्वेषवश एक श्वेताम्बर तीर्थ के रूप में मान्यता दिलाने हेतु उल्लिखित किया है अथवा साम्प्रदायिक संकीर्णता से दूर रहते हुए एक जैन तीर्थ

१. जैन, बलभद्र—पूर्वोक्त, पृ० ९९।

२. वही, पृ० ९९।

३. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट १९२४-२५, पृ० १६७।

४. जैन, बलभद्र—पूर्वोक्त, पृ० १००।

५. हंससोम द्वारा वि० सं० १५५६ के पश्चात् लिखी गयी पूर्वदेशीयचैत्य-परिपाटी [प्राचीनतीर्थमालासंग्रह—(संपादक. विजयधर्मसूरि) के अन्तर्गत प्रकाशित] में चन्देरी के श्वेताम्बर जैन संघ द्वारा सं० १५५६ में पूर्वदेशीय तीर्थों की यात्रा करने का उल्लेख है।

होने के कारण उल्लिखित किया है। यदि वास्तव में ऐसा ही है कि जिनप्रभसूरि ने तीर्थों का उल्लेख करते समय उनके किसी सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध होने के विषय में कुछ नहीं कहा है, तो यह तथ्य अपने आप में बड़े महत्त्व का है। जैन संघ में साम्प्रदायिक भेद का प्रारम्भिक इतिहास अभी भी अस्पष्ट है, परन्तु इतना तो निश्चित है कि जिनप्रभसूरि के समय तक श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद भली-भाँति प्रतिष्ठित रहा, बल्कि इसके भी प्रमाण हैं कि इन दोनों के अनेक आन्तरिक भेद भी हो चुके थे। जिनप्रभसूरि खरतरगच्छ के थे, परन्तु यह सम्भव नहीं लगता कि उन्होंने अपने समय के विभिन्न जैन केन्द्रों का उल्लेख सभी को अपने सम्प्रदाय से सम्बन्धित करने के उद्देश्य से किया हो, क्योंकि यदि ऐसा होता तो कल्पप्रदीप के विभिन्न कल्पों में यह भावना निश्चितरूप से प्रतिबिम्बित हो जाती। उनके विवरणों में केन्द्रों को स्पष्ट रूप से श्वेताम्बर कहा गया होता अथवा यह दिगम्बरों का नहीं है, ऐसा संकेत प्राप्त होता और यत्र-तत्र दिगम्बरों की आलोचना भी की जाती, पर ऐसा कुछ भी नहीं है। अतः दो ही प्रकार के निष्कर्ष संभव हैं—प्रथमतः जिन तीर्थों का जिनप्रभ ने उल्लेख किया है, वे श्वेताम्बर परम्परा में भी मान्यता प्राप्त रहे और द्वितीय उनके समय तक भी श्वेताम्बर और दिगम्बरों में विशेष विद्वेष की भावना नहीं थी तथा जिनप्रभसूरि का स्वयं अपना धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त उदार था।

यद्यपि चन्देरी दिगम्बर सम्प्रदाय का एक प्रमुख केन्द्र रहा है, परन्तु उपलब्ध दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर सम्प्रदाय के ग्रन्थों में इसकी जैन तीर्थ के रूप में कोई चर्चा नहीं मिलती। जिनप्रभसूरि एकमात्र जैन ग्रन्थकार हैं, जो चन्देरी को एक जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित करते हैं। इस दृष्टि से कल्पप्रदीप का उक्त विवरण बड़े महत्त्व का है।

५ ढींपुरी तीर्थ

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत ढींपुरी तीर्थ पर दो कल्प लिखे हैं—

१ —ढींपुरीतीर्थकल्प

२—ढींपुरीस्तव

अपने विवरण में ग्रन्थकार ने इस तीर्थ की उत्पत्ति, उसके निर्माता और तीर्थ के ख्याति की चर्चा की है। इस सम्बन्ध में उन्होंने वङ्कचूल नामक एक राजपुत्र द्वारा, जो अपने दुराचारी प्रवृत्ति के कारण स्वगृह से निष्कासित कर दिया था, एक जैन मुनि द्वारा बताये गये चार व्रतों के पालन करने से प्राप्त सुपरिणामों का सुन्दर वर्णन किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इसप्रकार हैं—

“प्राचीन काल में भारतवर्ष में विमलयश नामक एक राजा राज्य करते थे। उन्हें पुष्पचूल और पुष्पचूला नामक दो सन्तानें थीं। स्वभाव से अत्यन्त उदृण्ड होने के कारण पुष्पचूल को वङ्कचूल कहा जाने लगा। एक दिन राजा ने उसके बुरे आचरण से तंग आकर उसे महल से निकाल दिया। उसके साथ उसकी बहन पुष्पचूला भी स्नेहवश चली गयी। मार्ग में वे भीषण जंगल में पड़ गये और भूख-प्यास से पीड़ित हुए, वहां भीलों ने उनकी प्राण रक्षा की और उन्हें राजपुत्र जानकर अपनी पल्ली में ले आये तथा वङ्कचूल को पल्लीपति का पद प्रदान किया। भीलों के साथ अब वङ्कचूल भी मार्ग से आने वाले सार्थों को लूट कर अपना जीवन यापन करने लगा। एकबार वर्षावास हेतु कुछ जैन मुनि उस पल्ली में आये, जहां वङ्कचूल ने उनका स्वागत किया और उन्हें ठहरने की सुविधा प्रदान की। वर्षावास की समाप्ति पर जब मुनिगण जाने लगे, तब उन्होंने वङ्कचूल को चार व्रतों को धारण करने का उपदेश दिया। वे चारों व्रत इस प्रकार हैं—

१—अज्ञात फल न खाना, २—आठ हाथ पीछे हटकर वार करना, ३—पटरानी से समागम न करना और ४—कौवे का मांस न खाना। वङ्कचूल ने इनका पालन किया। प्रथम व्रत के पालन से उसकी प्राण रक्षा हुई। द्वितीय व्रत के पालन से उसकी पत्नी एवं बहन के प्राण बचे। अब उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। एक जैन मुनि से आज्ञा लेकर उसने चर्मणवती के तट पर ऊंचे शिखरों वाला एक जिनालय बनवाया और मूलनायक के रूप में उसमें महावीर स्वामी की प्रतिमा स्थापित कर दी। बाद में उसे चर्मणवती नदी के तल से भगवान् पार्श्वनाथ की भी एक प्रतिमा प्राप्त हुई, उसे भी उसने उक्त जिनालय में स्थापित कर दी। उसकी पल्ली, जो पहले सिंहपल्ली के

नाम से जानी जाती थी, अब ढींपुरी के नाम से प्रसिद्ध हो गयी। यात्री-संघ वहां आने लगे। इसी प्रकार तृतीय व्रत के पालन से उसे मालव-राज के सामन्त का पद मिला और चौथे से मोक्ष प्राप्त हुआ।”

“ढींपुरीस्तव” नामक कल्प के अन्तर्गत उन्होंने वङ्कचूल द्वारा निर्मित जिनालय, उसमें रखी प्रतिमाओं तथा वहां अपनी यात्रा का उल्लेख किया है, जो इसप्रकार है—

“चर्मणवती के तट पर स्थित विशाल शिखरों वाला महावीर स्वामी के जिनालय का निर्माण वङ्कचूल द्वारा सम्पन्न कराया गया है। इसमें पार्श्वनाथ की चर्मणवती से प्राप्त प्रतिमा भी स्थापित की गयी, जो महावीर की प्रतिमा की अपेक्षा बहुत छोटी है अतः यह चेल्लण पार्श्वनाथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस जिनालय में आदिनाथ एवं नेमिनाथ की भी प्रतिमायें हैं। मंदिर के द्वार पर अंबिका तथा क्षेत्रपाल की प्रतिमायें स्थापित हैं। प्रतिवर्ष षोष दशमी को यहां उत्सव होते हैं। शक सम्बत् १२५१ में उन्होंने (ग्रंथकार ने) इस तीर्थ की संघ के साथ यात्रा की।”

वङ्कचूल की कथा का उल्लेख करने वाला सर्वप्रथम ग्रंथ है धर्मो-पदेशमालाविवरण^१ जो आचार्य कृष्णर्षि के शिष्य जयसिंहसूरि द्वारा वि०सं० ९१५/ई० सन् ८५९ में रचा गया। इसके पश्चात् कल्पप्रदीप में उक्त कथा पायी जाती है जिसे बिना किसी परिवर्तन के राजशेखरने प्रबन्धकोश^२ में उल्लिखित कर लिया और जिनप्रभ का कहीं नामोल्लेख भी नहीं किया। १५वीं से १८वीं शती के अनेक रचनाकारों ने भी इस कथा का वर्णन किया है, इनमें जैन और जैनेतर दोनों शामिल हैं,^३ परन्तु जिनप्रभ और राजशेखर को छोड़कर किसी अन्य ग्रन्थकार ने ढींपुरी तीर्थ और वहां वङ्कचूल द्वारा निर्मित जिनालय का कोई उल्लेख

१. “सत्पुरुष-सङ्घे वङ्कचूलिकथा” — धर्मोपदेशमालाविवरण (सं० लाल चन्द भगवान गांधी) पृ० ६७-७२ ।
२. “अथ वङ्कचूलप्रबन्धः” — प्रबन्धकोश (सं० मुनि जिनविजय) पृ० ७५-७८ ।
३. नाहटा, अगरचन्द्र — “वङ्कचूल की कथा की प्राचीनता एवं तत्सम्बन्धी रचनायें,” जैनसिद्धान्तभास्कर, जिल्द २२, पृ० ५१-५६ ।

नहीं किया है। ढींपुरीस्तव में जिनप्रभ ने जिनालय की प्रतिमाओं और वहां के वार्षिक उत्सव, यात्रियों के दर्शनार्थ यहां आने तथा शक सं० १२५१ में संघ के साथ स्वयं यहां की यात्रा करने का उल्लेख किया है। जहां तक यहां यात्रियों के यात्रार्थ आने का उल्लेख है, उससे यही समझना चाहिए कि यहां ग्राम के आस पास के लोग ही दर्शनार्थ आते रहे होंगे। स्वयं जिनप्रभसुरि भी दिल्ली से देवगिरि जाते समय ही यहां आये रहे होंगे।^१

ढींपुरी तीर्थ के सम्बन्ध में दो बातें विचारणीय हैं—प्रथम तो कल्पप्रदीप को छोड़कर किसी अन्य पूर्ववर्ती जैन ग्रन्थों में इस तीर्थ का कोई उल्लेख नहीं मिलता और द्वितीय-यह तीर्थ आज विलुप्त है। इस सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि यह तीर्थ उस भील समुदाय द्वारा स्थापित किया गया था, जिसका कार्य केवल नगर, ग्राम तथा मार्ग में आने वाले सार्थों को लूटना था और दूसरे वन (जंगल) में स्थित होने के कारण यह तीर्थ कभी जैनों के आकर्षण का केन्द्र न बन सका, अन्यथा जैन ग्रन्थकारों ने इसका उल्लेख अवश्य किया होता। कालचक्र के प्रभाव से धीरे-धीरे यह तीर्थ विच्छिन्न हो गया और आज इसका अस्तित्व केवल कल्पप्रदीप और प्रबन्धकोश तक ही सीमित है। जहां तक इस तीर्थ की भौगोलिक स्थिति का प्रश्न है, यह माना जा सकता है कि मालवदेश में चर्मणवती के तट पर ही कहीं यह स्थित रहा होगा।

१. कल्पप्रदीप के 'कन्यानयनीयमहावीरकल्प' में कहा गया है कि जिनप्रभ ने सुल्तान के आदेश से दिल्ली से देवगिरि (दौलताबाद) की यात्रा की। 'कन्यानयनीयमहावीरकल्पपरिवेश' में कहा गया है कि आचार्य जिनप्रभ ने सुल्तान से फरमान प्राप्त होते ही ३ वर्ष से कुछ कम समय तक रहकर दिल्ली के लिये प्रस्थान किया और सं० १३८९ में दिल्ली पहुँच गये। ढींपुरी-तीर्थस्तव में स्वयं जिनप्रभ ने शक सं० १२५१/ वि०सं० १३८६ में संघ-सहित यहाँ की यात्रा करने का उल्लेख किया है। अतः यह मानना त्रुटि-रहित होगा कि उन्होंने दिल्ली से देवगिरि जाते समय ही मार्ग में स्थित ढींपुरीतीर्थ की भी यात्रा कर ली होगी।

६ दशपुर

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत दशपुर का तीन स्थलों पर उल्लेख किया है—

प्रथम तो चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत जहां उन्होंने इस नगरी में भगवान् सुपाश्वनाथ के मंदिर होने की बात कही है।

द्वितीय पाटलिपुत्रकल्प में जहां उन्होंने आर्यरक्षितसूरि को दशपुर नगरी का निवासी बतलाया है।

दशपुर नगरी को शिवना नदी के तट पर स्थित आधुनिक मन्दसौर से समीकृत किया जाता है।^१ प्राचीनकाल में दशपुर की गणना भारत-वर्ष के प्रमुख नगरियों में होती थी।^२ सांस्कृतिक एवं राजनैतिक-दोनों दृष्टियों से इसका विशेष महत्त्व था। शक-क्षत्रपकाल में इसकी गणना महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थानों में की जाती रही।^३ गुप्त और गुप्तोत्तर युगों में यह नगरी औलिकरवंशीय राजाओं की राजधानी रही।^४ कालिदास और वाराहमिहिर (ई० सन् ६ठीं शती) ने भी इस नगरी का उल्लेख किया है।^५ मार्कण्डेयपुराण और स्कन्दपुराण में भी इस नगरी की चर्चा है।^६ बौद्ध साहित्य में दशपुर का उल्लेख नहीं मिलता, अतः ऐसा प्रतीत होता है कि यह स्थान बौद्धों की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण नहीं रहा।

जैन साहित्य में दशपुर का विस्तार से वर्णन प्राप्त होता है। जैन आगमिक ग्रन्थ ऋष्यकसूत्र की नियुक्ति, चूर्णी और वृत्तियों में इस नगरी के व्युत्पत्ति का सुन्दर विवरण प्राप्त होता है।

१. भट्टाचार्य, पी० के०—“हिस्टॉरिकल ज्योग्राफी ऑफ मध्यप्रदेश” पृ० २०५।
२. लाहा, विमलाचरण—प्राचीनभारतकाऐतिहासिकभूगोल, पृ० ५५९-५६०।
३. त्रिवेदी, चन्द्रभूषण—दशपुर (भोपाल, १९७९) पृ० १।
४. वही, पृ० १।
५. वही, पृ० ३
६. वही

जैन परम्परानुसार^१ भगवान् महावीर के समय सिन्धु-सौवीर देश का राजा उदायन था, उसके पास महावीर की काष्ठचन्दन की एक प्रतिमा थी, जो जीवन्तस्वामी के नाम से विख्यात थी। उसकी पत्नी प्रभावती उसे नित्य पूजती रही। रानी के मृत्योपरान्त उदायन ने देवदत्ता नामक एक दासी को पूजा के लिये उक्त प्रतिमा सौंप दिया। कुछ समय पश्चात् उस दासी का उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत ने अपहरण कर लिया। देवदत्ता अपने साथ जीवन्तस्वामी की प्रतिमा भी लेती गयी और उसके स्थान पर उसकी प्रतिकृति छोड़ गयी। उदायन को जब बात ज्ञात हुई तो उसने प्रद्योत का पीछा किया और परास्त कर उसे बन्दी बना लिया। सहधर्मी होने के कारण बाद में उदायन ने उसे मुक्त कर दिया और उक्त प्रतिमा भी उसे वापस कर अपने देश के लिये प्रस्थान किया। वापस लौटते समय वर्षा ऋतु आ जाने से वह जंगल में ही वर्षावास के लिये रुक गया। उसके साथ १० अन्य राजा भी थे, अतः उन्होंने वहीं नगर बसाया और उसका नाम दशपुर रखा।^२ जीवन्तस्वामी की प्रतिमा को वहीं नवनिर्मित जिनालय में स्थापित किया गया और उस नगरी की आय भी उक्त जिनालय को समर्पित कर दी गयी। वीरनिर्वाण के ५२२ वर्ष पश्चात् आर्यरक्षितसूरि का इस नगरी में जन्म हुआ।^३ उनके पिता का नाम सोमदेव और माता का

१. उदायणो ससाहणेण पडिणियत्तो, पज्जोओ वि बद्धो खंधावारे विज्जति । उदायणो आगओ, जाव दसपुरोद्देसे तत्थ वरिसाकालो जातो । दस वि मउडबद्धरायाणो णिवेसेण ठितो । निशीथचूर्णी, तृतीय भाग, पृ० १४७ ।

२. (i) आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ४०१

(ii) निडाले य से अंकों कओ दासीपतिआ उदायणरण्णो, पच्छा णिय-यणगरं महाविओ, पडिमा नेच्छइ, अन्तरावासेण उबद्धो ठिओ, ताहे उक्खंदभयेण दस वि रायाणो धूलियागारे करेत्ता ठिया । ताहे तं दसपुरं जायं ।

हरिभद्रसूरि कृत आवश्यकवृत्ति पृ० २९९-३००

३. तेणं कालेणं तेणं समएणं दशपुरं नगरं, तत्थ सोमदेवो वंभणी अड्ढो, रोद्दसोम्मा भारिया समणोवासिया, तेसि पुत्ते रक्खिए णाम दारए.....।

आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ३९७

नाम रुद्रसोमा था। तोसलीपुत्र से उन्होंने दीक्षा प्राप्त की और वीर-स्वामी से ९ पूर्वों का अध्ययन किया। उन्होंने अपने परिवार के सभी सदस्यों को जैन धर्म में दीक्षित किया। अनुयोगद्वारा नामक सूत्र को उन्होंने वीर सं० ५९२ में कथानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग और गणितानुयोग इन चार भागों में विभाजित किया। वीर निर्वाण सम्बत् ५९७ में उनकी दशपुर में ही मृत्यु हुई।^१ उनका एक शिष्य गोष्ठा-मिहिल इस नगरी में सातवां निह्लव हुआ।^२

उपरोक्त परम्परागत विवरणों के अलावा हमारे पास ऐसा कोई साहित्यिक और पुरातात्विक साक्ष्य नहीं है, जिनके आधार पर प्राचीन काल में इस क्षेत्र में जैन धर्म की स्थिति पर प्रकाश डाला जा सके। परन्तु मध्ययुग के प्रारम्भ में ही यह नगरी जैन धर्म के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित प्रतीत होती है, क्योंकि मंदसौर और इसके निकटवर्ती स्थानों यथा—कोथडी, कोहला, घुसइ, चैनपुर, निमथूर, कुक्कुडेस्वर, केथुली, मचलपुर, वैखेड़ा, पूरागिलाना और सन्धारा आदि से बड़ी संख्या में मध्ययुगीन जैन प्रतिमाओं और मंदिरों के भग्नावशेष प्राप्त हुए हैं।^३ इससे स्पष्ट होता है कि मध्ययुग के प्रारम्भ से ही यहां जैन धर्म उन्नत दशा में विद्यमान रहा। ऐसी परिस्थिति में जिनप्रभ द्वारा इसे जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित करना स्वाभाविक ही है।

● विदिशा

विदिशा दशाणं जनपद की राजधानी और भारतवर्ष की एक प्रमुख नगरी के रूप में प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित रही है।

१. आवश्यकचूर्णी, पूर्वभाग, पृ० ४००-४०१, ४०६, ४११;

स्थानांगवृत्ति (अभयदेव) पृ० ४१३

विस्तार के लिये द्रष्टव्य—मेहता और चन्द्रा—पूर्वोक्त, पृ० ३६१-६२, ६१६।

२. आवश्यकचूर्णी-पूर्वभाग, पृ० ४११-१४

३. शर्मा, राजकुमार—मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का संदर्भग्रन्थ, पृ० २७२-३१६।

ब्राह्मणीय,^१ बौद्ध^२ और जैन साहित्य^३ में इसके बारे में सुन्दर विवरण प्राप्त होता है। मौर्य युग में यह दक्षिणापथ की एक प्रमुख नगरी थी। गुप्त युग में भी एक प्रसिद्ध नगरी के रूप में इसका महत्त्व बना रहा। पूर्वमध्ययुग में विदिशा का इतिहास अन्धकारपूर्ण हो जाता है और उसके स्थान पर 'भाइलस्वामिगढ़' का उदय होता है। ऐसा माना जाता है कि भाइलस्वामिन् यहां स्थित एक विशाल मंदिर में मूलनायक के रूप में प्रतिष्ठित सूर्यदेव की प्रतिमा का नाम था, बाद में यही नाम इस नगरी के लिए भी प्रयुक्त होने लगा।^४ ११वीं शती में अलबिरूनी^५ और १२वीं शती में हेमचन्द्राचार्य^६ ने इस नगरी का उल्लेख किया है। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रद्वीप के 'चतुरशीतिमहातीर्थ-नामसंग्रहकल्प' के अन्तर्गत इस नगरी का उल्लेख करते हुए यहां देवाधिदेव के मन्दिर होने की बात कही है।

जैन मान्यतानुसार उज्जयिनी के राजा चण्डप्रद्योत ने विदिशा नगरी का नाम भाइलस्वामिन् रखा^७ और यहां एक जिनालय का निर्माण कराया उसमें उदायन से प्राप्त जीवन्तस्वामी की काष्ठचन्दन से निर्मित प्रतिमा स्थापित की।^८ आर्यमहागिरि और सुहस्ति

-
१. सरकार, दिनेशचन्द्र—स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ ऐन्शियन्ट एण्ड मिडुवल इंडिया, पृ० ४३।
 २. भट्टाचार्य, बी० सी०—हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ मध्यप्रदेश, पृ० १९४।
 ३. मेहता और चन्द्रा—प्राकृत प्रापर नेम्स, पृ० ६६०।
 ४. भट्टाचार्य—पूर्वोक्त—पृ० १९७।
 ५. पाटिल, डी० आर०—कल्चरल हेरिटेज आफ मध्यभारत, (ग्वालियर १९५२) पृ० ९८-९९।
 ६. त्रिशष्टिशलाका पुरुषचरित—हेमचन्द्र, पर्व १०, सर्ग २, श्लो० ६०४-६०६।
 ७. वही।
 ८. जैन, जगदीशचन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ५७।

ने उक्त प्रतिमा के दर्शनार्थ यहां की यात्रा की थी।^१ इस प्रकार स्पष्ट होता है कि इस क्षेत्र से जैन धर्म का प्राचीन काल से ही सम्बन्ध रहा है। विदिशा और उसके निकटवर्ती स्थानों से प्राप्त जैन पुराव-शेषों से भी इस क्षेत्र में जैन धर्म की प्राचीनता स्पष्ट होती है। हाल में ही विदिशा के निकट दुर्जनपुर नामक स्थान से महाराजाधिराज रामगुप्त के शासन काल की अभिलेखयुक्त ३ जिनप्रतिमायें प्राप्त हुई हैं।^२ इस अभिलेख से गुप्त काल में जैन धर्म की स्थिति के साथ-साथ गुप्तकालीन भारतीय इतिहास पर भी महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। विदिशा के समीप उदयगिरि नामक पहाड़ी पर २० गुफायें हैं इसमें से पहली और बीसवीं जैन धर्म से सम्बन्धित हैं।^३ गुफा नं० २० में गुप्त सम्वत् ५०६ अर्थात् ई० सन् ४१६ का एक लेख उत्कीर्ण है। यह लेख कुमारगुप्त 'प्रथम' (ई० सन् ४१२-४५५) के समय का है।^४ अभिलेख के अनुसार पार्वनाथ की एक प्रतिमा को गोश्रमण के शिष्य शंकर ने निर्मित कराया। गोश्रमण आर्यकुल के भद्राचार्य के शिष्य थे।^५ इसप्रकार स्पष्ट होता है कि गुप्तयुग में भी इस क्षेत्र में जैन धर्म की लोकप्रियता विद्यमान रही।

पूर्व मध्ययुग और मध्य युग में भी इस क्षेत्र में जैन धर्म उन्नत दशा में विद्यमान रहा इस युग में यहां अनेक जिनालयों और उत्कृष्ट जिन प्रतिमाओं का निर्माण हुआ,^६ जिनके अवशेष आज हमें विदिशा और उसके निकटवर्ती स्थानों जैसे उदयगिरि, ग्यारसपुर, बडोह, उदयपुर, वरनगर आदि स्थानों से प्राप्त हुए हैं।^७ ऐसी स्थिति में १४वीं शती में जिनप्रभसूरि द्वारा विदिशा को जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित करना स्वाभाविक ही है। ●

१. जैन, जगदीशचन्द्र—पूर्वोक्त पृ० ५७।

२. जर्नल ऑफ द ओरियण्टल इंस्टिट्यूट, बडोदा, जिल्द १८, क्रमांक ३० पृ० ३४७ और आगे।

३. शर्मा, राजकुमार - पूर्वोक्त, पृ० २७३

४. इन्डियन एन्टीक्वेरी-जिल्द xi पृ० ३०९-१०

५. लेख-पंकित-१०, वही, पृ० ३१०

६. घोष, अमलानन्द—पूर्वोक्त, पृ० ३५७

७. शर्मा, राजकुमार—पूर्वोक्त, पृ० २७२-२९२

पश्चिम भारत

इस अध्याय में कल्पप्रदीप के उन तीर्थों को सम्मिलित किया गया है, जो पश्चिम भारत (राजस्थान और गुजरात) की सीमा के अन्तर्गत स्थित हैं । इन प्रान्तों के तीर्थों का अलग-अलग वर्णक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत है—

पश्चिमी भारत

(अ) राजस्थान

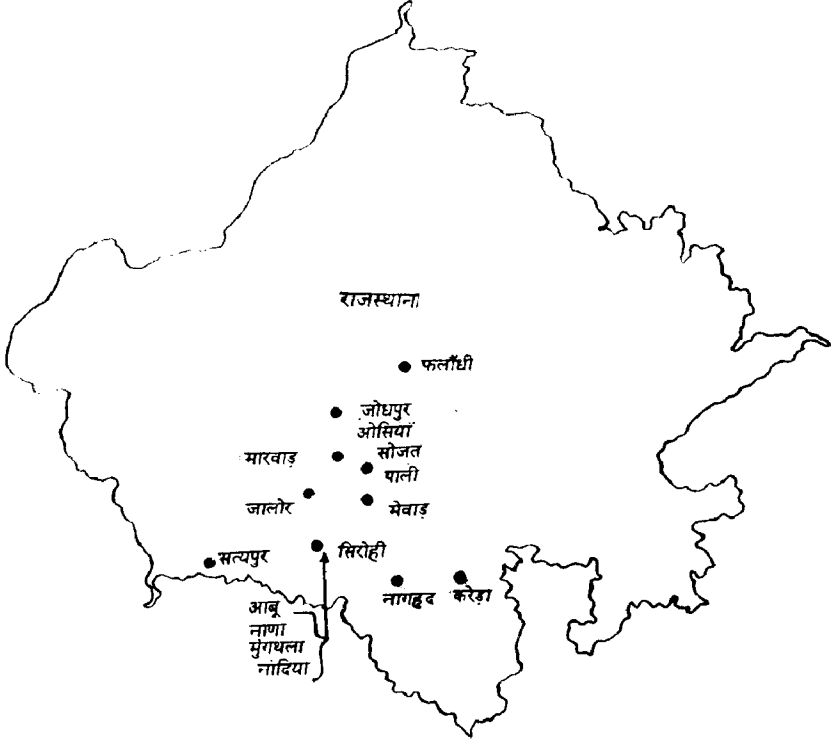
- १—अर्बुदगिरि
- २—उपकेशपुर
- ३—करहेटक (करेड़ा)
- ४—नन्दिवर्धन (नांदिया)
- ५—नागहृद (नागदा)
- ६—नाणा (नाना)
- ७—पल्ली (पाली)
- ८—फलवर्धिका (फलोधी)
- ९—मुंडस्थल (मुंगथला)
- १०—शुद्धदन्ती (सोजत)
- ११—सत्यपुर (सांचौर)

(ब) गुजरात-सौराष्ट्र

- १—अजाहरा (अजारी)
- २—अम्बुरिणीग्राम (आमरण)
- ३—अणहिलपुर
- ४—अश्वावबोधतीर्थ
- ५—उज्जयन्तगिरि (गिरनार)
- ६—काशहृद
- ७—कोकावसतिपार्श्वनाथ
- ८—खेटक (खेड़ा)
- ९—खड्गारगढ़ (जूनागढ़)
- १०—तारण (तारङ्गा)
- ११—द्वारका
- १२—नगरमहास्थान (वडनगर)
- १३—पाटलानगर
- १४—प्रभासपाटन
- १५—मोढेरक (मोढेरा)
- १६—रामसैन
- १७—वलभी
- १८—वायड
- १९—शत्रुञ्जय

पश्चिम भारत

(१) राजस्थान



२०—शंखेश्वर

२१—सिंहपुर (सिंहोर)

२२—स्तम्भनक (थामणा)

२३—स्तम्भतीर्थ (खंभात)

१. अबुदगिरिकल्प

अबुदगिरि जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। उत्तरकालीन जैन-साहित्य में इसके बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। यहाँ विमल-वसही और लूणवसही नामक दो जिनालय विद्यमान हैं, जो अपनी उत्कृष्ट कला के कारण जगत्विख्यात हैं। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ का उल्लेख किया है और इसके बारे में प्रचलित मान्यताओं, विमलवसही और लूणवसही के निर्माण, विध्वंस एवं पुनर्निर्माण आदि का तिथिक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“पूर्व काल में श्रीरत्नमालनगरी में ‘श्रीपुञ्ज’ नामक एक राजा राज्य करता था। उसके ‘श्रीमाता’ नामक एक पुत्री थी, जो वानरमुख-वाली थी। श्रीमाता को अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त याद था, जिसे एक दिन उसने अपने पिता से बताया। राजा ने उसे अबुदपर्वत पर भेजकर वहाँ स्थित कुण्ड में उसका मुख डुबवाया, जिससे वह नारी के समान मुखवाली हो गयी और वहीं तपश्चर्या करने लगी। एक दिन वहाँ एक योगी ने उसे देखा और उसके रूप-लावण्य पर मुग्ध हो उसे अपनी पत्नी बनाना चाहा। श्रीमाता ने छल से उसका वध कर दिया और आजन्म अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वह स्वर्ग गयी। तत्पश्चात् राजा ने वहीं उसका एक मन्दिर बनवा दिया। लौकिक धर्म में इस पर्वत का अबुद नाम पड़ने के सम्बन्ध में एक कथा प्रचलित है, जिसके अनुसार यह हिमालय का पुत्र था और इसका नाम नन्दिवर्धन था। बाद में अबुद नाग का यहाँ अधिष्ठान होने से इसका नाम ‘अबुदगिरि’ प्रचलित हो गया। इस पर्वत पर अनेक सुन्दर-सुन्दर वृक्ष हैं, इनसे बहुत सी औषधियाँ प्राप्त होती हैं। यहाँ वशिष्ठाश्रम, मन्दाकिनी, अचलेश्वर, गोमुखयक्ष आदि लौकिक तीर्थ हैं। वि० सं० १०८८ में मन्त्रीश्वर विमल ने यहाँ ‘विमलवसही’ का निर्माण

कराया। इसी प्रकार वि० सं० १२८८ में तेजपाल ने 'लूणवसही' का निर्माण कराया। मुस्लिम आक्रामकों ने इन दोनों मंदिरों को क्षतिग्रस्त कर दिया, तत्पश्चात् वि० सं० १३७८ में महर्णासिंह के पुत्र लल्ल ने 'विमलवसही' तथा चण्डसिंह के पुत्र पेशड़ ने 'लूणवसही' का पुनर्निर्माण कराया। चौलुक्यनरेश कुमारपाल ने भी यहाँ पर्वत-शिखर भगवान् महावीर का एक चैत्य निर्मित कराया।^१

आबू पर्वत पर श्रीमाता (कुंआरी कन्या) का एक मन्दिर विद्यमान है। इस देवी (श्रीमाता) के बारे में स्थानीय लोगों में भी प्रायः उसी प्रकार की किंवदन्ती प्रचलित है^२ जैसा जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित है। अबूदगिरि के नामकरण सम्बन्धी जो बात जिनप्रभ ने बतलायी है, वह महाभारत तथा पुराणों में विस्तृत रूप से कही गयी है।^३ राम के गुरु वशिष्ठ का आश्रम यहीं था, यह बात ब्राह्मणीय परम्परा के पुराणों से ज्ञात होती है।^४

आज यहाँ वशिष्ठाश्रम नामक जो मन्दिर विद्यमान है वह वि०सं० १३९४ के लगभग निर्मित कराया गया है।^५ यहाँ एक कुंड भी है जिसमें पाषाण निर्मित गाय के मुख से सदैव जल की एक क्षीण धारा गिरती रहती है, यह 'गोमुखकुण्ड' के नाम से प्रसिद्ध है।^६ जिनप्रभसूरि ने संभवतः इसी को 'गोमुखयक्ष' के नाम से उल्लिखित किया है। 'अचलेश्वर' एवं 'मन्दाकिनी' आदि जिन लौकिक तीर्थों की ग्रन्थकार ने चर्चा की है वे आज भी यहाँ विद्यमान हैं। अचलगढ़ के नीचे तलहटी में 'अचलेश्वरमहादेव' का एक प्राचीन एवं महिम्न मंदिर है। इसके चारों ओर चहारदीवारी है। ब्राह्मणीय परम्परानुसार 'अचलेश्वरमहादेव' आबू के अधिष्ठायक देव माने जाते हैं। आबू पहले परमारों, तत्पश्चात् चाहमानों के अधीन रहा। चाहमानों ने 'अचले-

१. मुनि जयन्तविजय—आबू, भाग-१ पृ० २०५, पादटिप्पणी

२. महाभारत की नामानुक्रमणिका, पृ० २४;

Dave, J.H. *Immortal India* Vol. III, p. 61

३. काणे, पी० वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-३, पृ० १४०४

४. मुनि जयन्तविजय, पूर्वोक्त, पृ० २३४

५. वही, पृ० १९५-२००

श्वरमहादेव' को अपने कुलदेवता के रूप में प्रतिष्ठित किया था। यह मंदिर प्राचीन है, परन्तु अनेक बार इसका पुनर्निर्माण कराया गया है। यहाँ से वि०सं० १२९४, वि०सं० १३४३, वि० सं० १३७७ तथा वि०सं० १३८७ एवं बाद के कई लेख प्राप्त हुए हैं जो इस शिवालय के पुनर्निर्माण, दान आदि की चर्चा करते हैं।^१ इसी मंदिर के पास 'मन्दाकिनी' नामक एक कुंड है, जिसकी लम्बाई ९०० फुट तथा चौड़ाई २४० फुट के लगभग है।^२

विमलशाह ने वि० सं० १०८८ में यहाँ विमलवसही का निर्माण कराया, ऐसा जिनप्रभ ने उल्लेख किया है। परन्तु यहाँ से 'विमल-शाह' का अथवा उसके समय का ऐसा कोई भी अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है, जिसमें उक्त बात की चर्चा हो। विमलवसही से प्राप्त सबसे प्राचीन अभिलेख में जो देवकुलिका नं० १३, वि० सं० १११९/ई० सन् १०६३ का है, शान्तमात्य की पत्नी शिवदेवी द्वारा प्रतिमा स्थापित करने की चर्चा है। इस अभिलेख में विमल अथवा उसके द्वारा निर्मित मंदिर की कोई चर्चा नहीं मिलती^३, परन्तु पीढ़ी-दर-पीढ़ी ऐसा विश्वास बना रहा कि इस मंदिर का निर्माण 'विमलशाह' ने कराया। यह कथानक १४-१५वीं शती के ग्रन्थों से प्राप्त होता है। विमल वसही से प्राप्त दो अन्य अभिलेख, जो वि० सं० के १३वीं शती के मध्य के हैं, इस बात का समर्थन करते हैं कि यह मंदिर विमल द्वारा निर्मित कराया गया। उदाहरण के लिये देवकुलिका नं० १० से प्राप्त लेख, जो वि० सं० १२०१/ई० सन् ११४५ का है, वीर 'प्रथम' के पुत्र 'नेह' से सम्बन्धित है, इसमें कहा गया है कि 'वीर' के द्वितीय पुत्र 'विमल' ने यहाँ ऊँचा मन्दिर बनवाया।^४ दूसरा लेख देवकुलिका

१. मुनि-जयन्तविजय—पूर्वोक्त पृ० १९८;

मुनि जिनविजय—प्राचीनजैनलेखसंग्रह, भाग २ 'अवलोकन', पृ० १४.

२. मुनिजयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० १९९

३. Dhaky, M A.—“Complexities Surrounding The Vimalvasami Temple At Mt. Abu.”

Occasional Papers Series, Department of South Asia Regional Studies,

University of Pennsylvania, Philadelphia-1980.

४. मुनिजयन्तविजय—अर्बुदप्राचीनलेखसंदोह, लेखाङ्क ५१

नं० ५ से प्राप्त हुआ है, यह वि० सं० १२०२/ई० सन् ११४६ का है और कुथुनाथ की प्रतिमा पर उत्कीर्ण है। इस लेख के विवरणानुसार यह प्रतिमा केलहा, वोल्हा तथा अन्य सूत्रधारों ने निर्मित किया।^१ ये संभवतः पृथ्वीपाल द्वारा रखे गये शिल्पकार थे। सोलंकीकाल का कोई भी ऐसा कथानक अथवा अभिलेख प्राप्त नहीं हुआ है जिसमें विमल द्वारा निर्मित इम मंदिर के निर्माण-तिथि की चर्चा हो, तथापि सोलंकी काल के पश्चात् एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिलेख जो वि० सं० १३७८/ई० सन् १३२२ का है, में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि इस युगादिदेव के मंदिर को वि० सं० १०८८ में विमल द्वारा निर्मित कराया गया।^२ इसी विवरण के पश्चात् जिनप्रभसूरि का विवरण है, जिसमें उन्होंने भी यही बात कही है। १४वीं-१५वीं शती में लिखे गये 'प्रबन्धग्रंथों' में भी इसी तथ्य का उल्लेख किया गया है। जैसे— प्रबन्धकोश—^३ (राजशेखर-वि० सं० १४०५); पुरातनप्रबन्धसंग्रह^४ (प्रति-बी), उपदेशतरंगिणी—^५ (धर्मसिंहसूरि-वि० सं० १४६१) वस्तुपालचरित^६ (जिनहर्षगणि-वि० सं० १४९७), उपदेशसप्ततिका—^७ (सोमधर्मसूरि-वि० सं० १५०३) आदि। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि विमलशाह ने वि० सं० १०८८ के लगभग विमलवसही का निर्माण कराया।^८

१. सं० १२०२ आषाढ सुदि ६ सोमे सूत्र० सोढा साई सुत सूत्र० केला वोल्हा सहव लोयपा वागदेवादिभिः श्रीविमलवसतिकातीर्थे श्रीकुथुनाथ-प्रतिमा कारिता ।

मुनि जयन्तविजय —अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क ३४

२. श्रीविक्रमादित्यनृपाद् व्य[*]तीतेऽऽष्टाशीतियाते (युक्ते) शरदां सहस्रे । श्रीआदिदेवं शिखरे [S] बुद्धम्य निवेसि(शि)तं श्रीरि(वि)मलेन वदे ॥ मुनिजयन्तविजय —वही, लेखाङ्क १, श्लोक ११

३. "वस्तुपालप्रबन्ध" प्रबन्धकोश पृ० १२१

४. "विमलवसतिकाप्रबन्ध" पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृ० ५१

५. "श्री विमलमन्त्रिकीर्तिदानप्रबन्धः" उपदेशतरंगिणी, पृ० ७२

६. प्रस्ताव ८, श्लोक १२ और आगे

७. द्वितीय अधिकार, चतुर्थ उपदेश, श्लोक ७ और आगे

८. ढाकी, पूर्वोक्त-पृ० ४

लूणवसही का निर्माण तेजपाल ने वि०सं० १२८७ में कराया था, यह बात यहाँ से प्राप्त लेख से स्पष्ट होती है,^१ परन्तु जिनप्रभ ने लूणवसही के निर्माण की तिथि वि०सं० १२८८ बतलायी है, जो उनका भ्रम हो सकता है।

विमलवसही और लूणवसही को मुस्लिम आक्रमणकारियों ने क्षतिग्रस्त कर दिया। वि०सं० १३७८ में इनका पुनर्निर्माण कराया गया। यह आक्रमणकारी कौन था? अलाउद्दीन खिलजी ने वि० सं० १३६५/ई० सन् १३०८ में जालौर पर आक्रमण किया था,^२ उसी समय उसने इन मन्दिरों को भी नुकसान पहुँचाया होगा। विमलवसही का पुनर्निर्माण वि०सं० १३७८ में सम्पन्न कराया गया, यह बात यहाँ उक्त तिथि के लेख में उत्कीर्ण है,^३ परन्तु लूणवसही के पुनर्निर्माण के बारे में अन्यत्र कोई सूचना प्राप्त नहीं होती, अतः जिनप्रभसूरि की बात प्रामाणिक मानी जा सकती है।

२. उपकेशपुर

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत उपकेशपुर का भी उल्लेख किया गया है और यहाँ महावीरस्वामी के एक जिनालय होने की बात कही गयी है।

१. ॥ ॐ नमः [सं]वत् १२८७ वर्षे लौकिक फाल्गुन वदि३ रवौ अद्येह श्रीमदणहिलपाटके चीलुक्यकुलकमलराजहंससमस्तराजावली-समलंकृतमहाराजाधिराज श्रीभीमदेवविजयराज्ये
 ...श्रीवष्ट (ष्ठ) कुंडयजता (ना) शिनलोद्भूत
 श्रीमदबुंदाचलोपरि देउलवाडाग्रामे समस्तदेवकुलिकालंकृतं विशालहस्ति-शालोपशोभितं श्रीलूणसिंहवसहिकाभिधान श्रीनेमिनाथदेवचैत्यमिदं कारितं ॥

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क २५१

२. मजुमदार और पुसालकर—दिल्लीसल्तनत, पृ० ३३

३. वसु-मुनि—तु (गु) ण—शसि (शि) वर्ष (षं)

ज्येष्ठे (ष्ठेऽ) सितिनर (व) मिसोमयुतदिवसे।

श्रीज्ञानचंदगुरुणां प्रतिष्ठि (ष्ठि) तोऽर्बुदगिरी ऋषभः ॥

उपकेशपुर आज ओसिया के नाम से जाना जाता है। प्रतिहार और चाहमान गुप्त में यह एक प्रसिद्ध नगरी थी। इसे उवएस^१ तथा ऊकेश^२ आदि नामों से भी जाना जाता रहा। यह नगरी कब अस्तित्व में आयी, यह बात विवादास्पद है। प्रतिहारनरेश वत्सराज जो ई० सन् ८वीं शती के उत्तरार्ध में यहाँ शासन कर रहा था, के समय यहाँ महावीर जिनालय का निर्माण कराया गया, यह बात उक्त जिनालय से प्राप्त वि०सं० १०१३ के एक अभिलेख से ज्ञात होती है।^३ इस जिनालय के निर्माण की तिथि ज्ञात नहीं, केवल यही ज्ञात होता है कि वत्सराज (लगभग ई० सन् ७७५-८००) के समय इसका निर्माण कराया गया। वत्सराज के पश्चात् इस क्षेत्र पर आभीरों ने अधिकार कर लिया, परन्तु ई० सन् ८१६ में प्रतिहारों के सामन्त कक्कुक ने आभीरों से यह क्षेत्र छीन लिया और बाद में उसने प्रतिहारों की अधीनता से मुक्त होकर अपनी स्वतंत्र चाहमान सत्ता स्थापित कर ली।^४ वि० सं० १२३६/ई० सन् ११७९ में यह क्षेत्र कुमारिम्ह, जो

मुनिजयन्तविजय, वही, लेखाङ्क, १, श्लोक ४२

१. उवएस-किराडउए वि जयपुराईसु मरुमि वंदामि ।

सच्चउर-गुडुरायसु पच्छिमदेसेमि वंदामि ॥

—सकलतीर्थस्तोत्र —सिद्धसेतसूरि, श्लोक २६

दञ्जाल, सी० डी०—पत्तनस्य प्राच्यजैन भाण्डागारीय ग्रन्थसूची,
पृ० १५६

२. समेतमेतत्प्रथितं पृथिव्या मूकेशनामास्ति पुरं गरीयः ॥९॥

वीरजिनालय, ओसिया की प्रशस्ति

नाहर, पूरनचन्द—जैनलेखसंग्रह, भाग १, लेखाङ्क ७८८

३.संवत्सर दशशत्यामधिकायां वत्सरं स्त्रयो दशभिः

फाल्गुन शुक्ल तृतीया भाद्रपदाजा.....

.....सं० १०१३.....यूयाभि ॥

नाहर, वही, लेखाङ्क ७८८

४. जैन, कैलाशचन्द्र—एन्शेन्ट सिटीज एण्ड टाउनस ऑफ राजस्थान,

पृ० १८०

चाहमान राजा चेल्लणदेव का पुत्र था, द्वारा शासित होता रहा।^१

प्रतिहार और चाहमान युग में उपकेशपुर ब्राह्मणीय और जैन धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा। मध्य युग में भी इसकी महत्ता विद्यमान रही। आज यहाँ १६ ब्राह्मणीय और जैन मंदिर विद्यमान हैं जो कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

यहाँ स्थित जैन मन्दिरों में महावीर स्वामी का मन्दिर सर्वोत्कृष्ट है। इस जिनालय से प्राप्त अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वत्सराज के समय इसका निर्माण कराया गया और १०वीं-११वीं शती में इसका पुनर्निर्माण हुआ। इस जिनालय के निर्माण में महा-मारु शैली का प्रयोग हुआ है।^२

इम जिनालय में वि०सं० १०१३ से वि०सं० १७५८ तक के लेख हैं जो जिनालय के स्तम्भ तोरण तथा प्रतिमाओं पर उत्कीर्ण हैं।^३ इनकी संक्षिप्त सूची इस प्रकार है—

१ - वि० सं० १०१३	फाल्गुन सुदि ३	जिनालय की प्रशस्ति
२—वि० सं० १०३५	आषाढ सुदि १०	जिनालय के तोरण पर
३—वि० सं० १२३१	मार्ग सुदि ५	स्तम्भ पर
४—वि० सं० १२५९	कार्तिक सुदि १२	२४ माता के पट्ट पर

१. सं० १२३६ कार्तिक सुदि १ बुधवार अथेह श्रीकेल्लहणदेव महाराज राज्ये तत्पुत्र श्री कुंमर सिंहे सिंह विक्रमे श्री माण्डव्य पुराधिपती.....
दभिकान्वीय कीतिपाल राज्य वाहके तद्भुक्ता श्रीउपकेशीय श्रीसच्चिका-
देवि देवगृहे श्रीराजसेवक गुहिल.....।

सचियामाता का मंदिर (ओसिया) पर उत्कीर्ण लेख-नाहर, पूर्वोक्त, भाग १, लेखाङ्क ८०४

२. Dhaky, M. A. "Jaina Temples of Western India," Mahaveer Jaina Vidyalaya Golden Jubilee Volume. Part I, p. 236.

३. नाहर, पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७८८-८०२

प्रतिमा-लेख

१—वि० सं० १०८८	फाल्गुन वदि ४	जिन प्रतिमा का लेख
२—वि० सं० १२३४	वैशाख सुदि १४	„
३—वि० सं० १२३४	वैशाख सुदि १४ मंगलवार	„
४—त्रि० सं० १४३८	आषाढ सुदि ९ शुक्रवार	पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख
५—वि० सं० १४९२	वैशाख वदि ५	संभवनाथ की प्रतिमा का लेख
६—वि० सं० १५१२	फाल्गुन सुदि ८ शनिवार	कुण्डुनाथ की प्रतिमा का लेख
७—वि० सं० १५३४	माघ सुदि ५	धर्मनाथ की प्रतिमा का लेख
८—वि० सं० १५४९	माघ सुदि ५ गुरुवार	विमलनाथ की प्रतिमा का लेख
९—वि० सं० १६१२	वैशाख सुदि ५	जिन प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख
१०—वि० सं० १६८३	ज्येष्ठ सुदि ३	सम्भवनाथ की प्रतिमा का लेख
११—वि० सं० १७५८	आषाढ सुदि १३	जिन प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख

यहीं स्थित पीपलादेवी का विशाल सभामंडप युक्त मंदिर १०वीं शती के अन्तिम चरण में निर्मित हुआ है।^१ इसी प्रकार यहां स्थित सच्चिया माता का मंदिर ई० सन् ८वीं शती का है, परन्तु इसके अधिकांश भाग १२वीं शती में निर्मित हैं।^२

१. जैन, कैलाशचन्द्र—पूर्वोक्त, १८३

२. Dhaky, M. A.—“The Iconography of Sacciya Devi”
Babu Chote Lal Jain Commemoration Volume
(Calcutta 1967 A. D.) p.—63-69.

ओसवाल वणिकों की यहीं उत्पत्ति हुई मानी जाती है।^१ ८वीं-९वीं शती के लगभग इस जाति की उत्पत्ति स्वीकार की जाती है। इससे पूर्व इस जाति की प्राचीनता का उल्लेख नहीं मिलता। सचिया माता के मन्दिर में वि० सं० १२३४, वि० सं० १२३६, वि० सं० १२४१ और वि० सं० १२४६ के लेख विद्यमान हैं।^२ वि० सं० १२४५ के लेख से ज्ञात होता है कि पाल्हिया की पुत्री और यशोधर की पत्नी सम्पूरण द्वारा महावीर स्वामी के रथ के लिये दान दिया गया।^३ नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबंध (कक्कसूरि, रचनाकाल वि० सं० १३९५) के अनुसार यह स्वर्णमय रथ वर्ष में एकबार नगर में घुमाया जाता था।^४

उपकेशपुर से ही श्वेताम्बर श्रमण संघ की एक प्रसिद्ध शाखा उपकेशगच्छ का उदय हुआ।

उपकेशगच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा—ऊकेश, उएस, ओसवाल, कडवा आदि। यह गच्छ भगवान् पार्श्वनाथ से अपनी परम्परा को जोड़ता है। इस गच्छ से सम्बन्धित अनेक प्रतिमा लेख तथा उपकेशगच्छचरित्र^५—(रचनाकार—कक्कसूरि, रचनाकाल—वि० सं० १३९३/ई० सन् १३३६), नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबंध^६ (रचनाकाल

१. ढाकी, पूर्वोक्त, पृ० ६३

२. नाहर—पूर्वोक्त, लेख क्रमांक ८०४-५-६-७-८।

३. सं० १२४५ फाल्गुन सुदि ५ अद्येह श्रीमहावीर रथशाला निमित्तं.....
.....पाल्हियाधीन देव चन्द्रवधू यशधर भार्या सम्पूर्ण श्राविकप्रयात्तम
श्रेयार्थ समस्त गोष्ठि प्रत्यक्षं च आत्मीया स्वजन वर्ग समतेन आत्मीय
गृहं दत्तं। नाहर, वही, लेख क्रमांक ८०७।

४. जैन, कैलाशचंद्र—पूर्वोक्त, पृ० १८४।

५. नाहटा, अगरचंद—“जैन श्रमणों के गच्छों पर विशद प्रकाश” यतीन्द्र-
सूरि अभिनन्दनग्रन्थ, पृ० १४२

६.

वि०सं० १३९५/ई० सन् १३३८), उपकेशगच्छपट्टावली,^१ उपकेश-गच्छगुर्वावली^२ आदि उपलब्ध हैं।

मुस्लिम आक्रमणों के समय यहां के जिनालयों को भी क्षति पहुँची, परन्तु उसके बाद भी मंदिरों का जीर्णोद्धार, और नूतन जिनप्रतिमाओं का निर्माण जारी रहा, यह बात यहाँ से प्राप्त लेखों से ज्ञात होती है। आज यहां जो मंदिर विद्यमान हैं, उनका स्थापत्य एवं कला की दृष्टि से विशेष महत्त्व है। उपकेशपुर (ओसिया) वर्तमान राज-स्थान प्रान्त के जोधपुर से ५२ किमी० उत्तर-पश्चिम में स्थित है।

३. करहेटक

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत 'करहेटक' का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहां जिन पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है।

करहेटक आज करेड़ा के नाम से जाना जाता है। यह स्थान उदयपुर-चित्तौड़ रेलवे मार्ग पर करेड़ा स्टेशन से एक किलोमीटर दूर स्थित है।^३ यहाँ पार्श्वनाथ का एक प्राचीन जिनालय है, जो बावन जिनालय के नाम से प्रसिद्ध है। इस जिनालय की देवकुलिका से वि०सं० १०३६ का एक शिलालेख मिला है^४ जिसके अनुसार 'यशो-भद्रसूरि ने वि०सं० १०३९ में पार्श्वनाथ बिम्ब की स्थापना की।' इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि १०वीं शती के लगभग यह मंदिर निर्मित हुआ होगा। यहाँ से प्राप्त वि० सं० १३२६ के एक शिलालेख में इस स्थान का नाम "करहेडा" उल्लिखित है।^५ मंदिर में स्थित पार्श्वनाथ की श्याम संगमरमर की प्रतिमा पर वि० सं० १६५६ का एक लेख उत्कीर्ण है^६ जिसमें इस जिनालय के जीर्णोद्धार

१. मुनि दर्शन विजय—संपा० पट्टावलीसमुच्चय, भाग-१, पृ० १७७-१९४
२. मुनि जिनविजय—संपा० विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह, पृ० ७-९
३. त्रिपुटी महाराज—जैनतीर्थीनो इतिहास, पृ० ३७९।
४. नाहर, पूरनचन्द—जैनलेखसंग्रह लेखाङ्क, १९४८।
५. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, पृ० ३४४।
६. आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, ई० सन् १९०५ पृ० ५९-६०।

कराये जाने की बात कही गयी है। जिनालय के सभामंडप का ऊपरी भाग मस्जिदनुमा बनाया गया है।^१

मुस्लिम शासन स्थापित होने के पश्चात् इस जिनालय को उनकी कुदृष्टि से बचाने के लिये उक्त निर्माण कराया गया होगा। बाद में वि०सं० १६५६ में जब इसका पुनर्निर्माण कराया गया तो उस समय भी इसके मस्जिदनुमा आकृति को कायम रखा गया^२। इस जिनालय में वि०सं० १८८७ तक के लेख विद्यमान हैं। ये लेख पंचतीर्थियों पर, चौबीसी पर, प्रतिमाओं (धातु एवं पाषाण) पर तथा देहरियों पर उत्कीर्ण हैं और इनकी संख्या ५० के लगभग है।^३ आज भी यह स्थान राजस्थान के प्रसिद्ध जैन तीर्थों में एक है।

४ नन्दिवर्धन

आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनाम-संग्रहकल्प” के अन्तर्गत “नन्दिवर्धन” नामक तीर्थ का भी उल्लेख किया है और यहां भगवान् महावीर के मन्दिर होने की बात कही है।

नन्दिवर्धन आज नांदिया के नाम से प्रसिद्ध है। यह स्थान वर्तमान राजस्थान प्रान्त के सिरोही जिलान्तर्गत स्थित है। सिरोही नगर से इसकी दूरी २४ किमी० तथा सिरोहीरोड रेलवे स्टेशन से मात्र १०किमी० है।^४ इस तीर्थ के कई नाम प्रचलित रहे हैं यथा

१. आर्कियोलाजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वेस्टर्नसकिल, ई० सन् १९०५ पृ० ६०।
२. स्थानीय अनुश्रुति के अनुसार मुगल सम्राट् अकबर ने धार्मिक सद्भाव स्थापित करने के कारण मन्दिर के ऊपरी भाग को मस्जिदनुमा बनवा दिया। परन्तु यह बात उचित प्रतीत नहीं होती। वास्तवमें यह निर्माण स्वयं हिन्दुओं ने कराया था, क्योंकि वे मुसलमानों के ध्वंसात्मक नीति से परिचित थे, इसीलिए यह निर्माण कराया गया। इस काल में मुस्लिम शासकों द्वारा मन्दिरों को मस्जिदों में बदला जा रहा था। शत्रुंजय स्थित आदिनाथ का मन्दिर जिसे मस्जिद के रूप में बदल दिया गया, इसका ज्वलंत उदाहरण है—वही, पृ० ६०।
३. नाहर, पूर्वोक्त—लेखाङ्क, १९०२ से १९५७।
४. तीर्थदर्शन, पृ० २६०।

नन्दिग्राम, नन्दिपुर, नांदिया आदि । स्थानीय किंवदन्ती के अनुसार भगवान् महावीर के ज्येष्ठ भ्राता नन्दिवर्धन ने इस तीर्थ की स्थापना की थी, इसीलिए इस तीर्थ का नाम नन्दिवर्धन पड़ा ।^१ ग्राम के बाहर भगवान् महावीर का एक प्राचीन जिनालय विद्यमान है । इस जिनालय में कुल ७७ जिनप्रतिमायें हैं ।^२ मंदिर के स्तम्भों पर कई लेख भी हैं, जो वि०सं० ११३० से वि०सं० १५२९ तक के हैं । इनका विवरण इस प्रकार है—

१—संवत् ११३० बंशाख सुदि १३ नन्दियक चैत्यहा(ह)र वापी निर्मापिता सिवगणे[न] ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—पाषाण की चौकी पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क ४५२

२—संवत् १२०१ भाद्रवा सुदि १० सोम दिने ॥

नीबा भेषाभ्यां वुहुं सीतिणि था थांभ ॥२॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीरजिनालय-सभामंडप के बाँई ओर स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४५३

३—संवत् १२५३ ... कुल २ देवि ... यी मालणश्रेयोर्थ ... कारापि ... ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—अंबिकादेवी की मूर्ति पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४५५

४—संवत् १२९० वर्षे पोस सुदि ३ रा [०] उडडस्(सु)त सहि-सुत रा० कम(ण)णश्रेयोर्थ पुत्र सीमेण स्तंभो (स्तंभः) कारितः ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—शृंगारचौकी के दरवाजे के दायीं ओर स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४५६

१. तीर्थदर्शन, पृ० २६० ।

२. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह पृ० ४३३-३४ ।

५—सं० १४९३ चैत्र वदि २ चाहडभार्या कुंती पुत्र... ..
कारापिता ॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—तृतीय दरवाजे के ऊपर
उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त लेखाङ्क ४५७

६—संवत् १४९३ वर्षे वैशाख सुदि १३

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—चतुर्थ दरवाजे के ऊपर उत्कीर्ण
लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४५८

७—सं० १५२१ वर्षे भाद्रपद सुदि पडवेदिने । नांदियापुरवास्तव्य
प्राग्वाटज्ञातीय व्य० दूल्हा भार्या दूली पुत्र व्य० जूठाकेन भार्या
जसभादे भ्रातृ व्य० मउवा झाला वरजांगषेतादिकुटुम्बयुतेन
स्वश्रेयसे । श्रीमहावीरप्रासादे देवकुलिका कारिता ॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय-पहली देहरी के दरवाजे के
ऊपर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४६०

८—सं० १५२९ वर्षे मा० व० ३ गुरौ दिने । प्राग्वाटज्ञातीय सीदरथा-
ग्रामवास्तव्य कुटुम्बयुतेन श्रीमहावीरप्रासादे
देवकुलिका कारिता स्वश्रेयोर्थ श्रीतपागच्छनायक श्री श्रीरत्न-
शेखरसूरि श्रीश्रीश्रीसोमजयसूरि(भिः) ।

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—द्वितीय देहरी के दरवाजे पर
उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४६३

९—सितिणिसी (शी) लवंता (त्या) च सद (द) भावभक्तिसंजुता
(क्तियुक्तया) ।

जिनगृहे से (शं) लस्थंभा (स्तंभौ) द्वौ मंडपस्तंभि (स्तंभौ) था
(स्था) पिताः (तो) ॥

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—सभामंडप के दायीं ओर
द्वितीय स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४६७

१०—चालुक्यवंसो (शो)दभव महणा

... .. थंभ (स्तंभ) १ ॥

प्रतिष्ठा स्थान—महावीर जिनालय—सभामंडप के बायीं ओर
द्वितीय स्तम्भ पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय—वही, लेखाङ्क ४६८

११—(१) श्रीधर्मनाथ व्य० जूठा

(२) श्रीशंभव पांची

(३) श्रीमहावीर व्य० झाला

(४) श्रीशीतल श्रा० पूरी

(५) श्रीवासुपूज्य व्य० मउठा

(६) सुमति व्य० मेघा

(७) श्रीमहावीर

(८) श्रीशांति मेढा

(९) श्रीमहावीर व्य० चांपा

(१०) श्रीविमल व्य० ना

(११) श्रीशांति श्रा० हा

(१२) श्रीशांति व्य० हाना जाला

(१३) श्रीशीतल श्रा०

प्रतिष्ठास्थान—महावीर जिनालय—भमती की देहरी की मूर्ति
पर उत्कीर्ण लेख

मुनि जयन्तविजय - पूर्वोक्त, लेखाङ्क ४६९

अंतिम तीन लेखों में प्रतिष्ठा तिथि/मिति का कोई निर्देश
नहीं है।

वर्तमान में इस जिनालय का जीर्णोद्धार श्वेताम्बर जैनसंघ, बम्बई
द्वारा सम्पन्न कराया गया है।

नागहृद

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत नागहृद का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहां भगवान् पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है

“कलिकुण्डे नागहृदे च श्रीपार्श्वनाथः”

नागहृद, आज नागदा के नाम से विख्यात है। अभिलेखों में इसका नाम नागद्रह भी मिलता है। स्थानीय किंवदन्तियों में इसका सम्बन्ध नागों से जोड़ा जाता है। गुहिलवंशीय शासक नागादित्य इस नगरी का संस्थापक माना जाता है।

नागदा गुहिलों की राजधानी और जैन, वैष्णव तथा शैव धर्मानुयायियों का एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा है।

दिगम्बर आचार्य मदनकीर्ति ने शासनचतुर्विंशिका में यहाँ के पार्श्वनाथ की वन्दना की है—

स्रष्टेति द्विजनायकैर्हरिरिति [प्रोद्गीयते] वैश्र(ष्ण)वै
बौद्धैर्बुद्ध इति प्रमोदविवशैः शूलीति माहेश्वरेः।
कुष्ठाऽनिष्ट-विनाशनो जनदृशां योऽलक्ष्यमूर्तिविभुः
स श्रीनागहृदेश्वरो जिनपतिर्दिगवाससां शासनम् ॥ १३ ॥

अर्थात् - द्विजनायक-ब्राह्मण जिन्हें स्रष्टा, वैष्णव हरि (विष्णु), बौद्ध ‘बुद्ध’ और माहेश्वरी-शंभु ‘शूली’ बड़े हर्षपूर्वक बतलाते हैं तथा जो कुष्ठ और अनिष्टों को विनष्ट करने वाले हैं, अर्थात् जिनके दर्शनादिमात्र से कुष्ठजनों का कोढ़ तथा दर्शनार्थी भव्यों के नाना अनिष्टों का सर्वथा नाश हो जाता है और साधारण लोगों के लिये जिनकी मूर्ति अलक्ष्य (अदृश्य) है वह श्री नागहृदतीर्थ के नागहृदेश्वर (पार्श्व) जिनेन्द्रप्रभु दिगम्बर शासन का लोक में प्रभाव स्थापित करें।

प्राकृतनिर्वाणकाण्ड (१२वीं-१३वीं शती ई० सन्) तथा तीर्थ-वन्दना (उदयकीर्ति-१२वीं-१३वीं शती ई० सन्) में भी इस तीर्थ का उल्लेख मिलता है—

पासं तह अहिणंदण णायद्दह मंगलाउरे बंदे ॥ १ ॥

प्राकृतनिर्वाणकाण्ड (अतिशय क्षेत्रकाण्ड)

नायद्दह पासु सयंभुदेउ,
हउं वंदउं जसु गुण णत्थि छेउ ॥

तीर्थवन्दना ॥६॥

तपागच्छीय मुनिसुन्दरसूरि (ई० सन् १५वीं शती) द्वारा नागहृद-
पाश्वर्नाथस्तोत्र की रचना किये जाने का भी उल्लेख मिलता है।
उनके द्वारा रचित गुर्वावली में भी इस तीर्थ का उल्लेख है —

खोमाणभूभृत्यकुलजस्ततोऽभूत् समुद्रसूरिः स्ववशं गुरुर्यः ।

चकार नागहृदपाश्वर्तीर्थं विद्याम्बुधिदिग्वसनान् विजित्य ॥

गुर्वावली श्लोक-३९

वि०सं० १४३७/ई० सन् १३८० में लिखे गये एक विज्ञप्तिपत्र,
जो स्व० श्रीअगरचन्दजी नाहटा के संग्रह में है, में भी इस तीर्थ का
उल्लेख है और खरतरगच्छीय आचार्य जिनोदयसूरि द्वारा यहाँ तीर्थ का
यात्रा हेतु पधारने की चर्चा है।

यहाँ नमिनाथ का भी एक जिनालय था, जिसका निर्माण माण्डव-
गढ़ के प्रसिद्ध श्रेष्ठी पथड़शाह ने कराया था। इस जिनालय का
उल्लेख मुनिसुन्दरसूरि द्वारा रचित गुर्वावली तथा तीर्थमालाओं^१ में
भी मिलता है —

... .. नागहृदे श्रीनमिः । गुर्वावली-१९६

“नागद्रहि पासं तू नमी छूटि”

तीर्थमाला-श्रीजिनतिलकसूरिविरचित

“नागद्रहि नमी लीलविलास”

तीर्थमाला-शीलविजयविरचित

उक्त मन्दिर आज विद्यमान नहीं है।

आज यहां दो प्राचीन जिनालय हैं। प्रथम जिनालय अलाउ
(Alau) पाश्वर्नाथ के नाम से जाना जाता है^२ इसे दिल्ली के बाद-
शाह इल्तुतमिश के शासनकालमें क्षतिग्रस्त कर दिया गया। इस जिना-
लय में वि०सं० १३५६/ई०सन् १३०० तथा वि०सं० १३९१/ई० सन्
१३३५ के दो लेख विद्यमान हैं।^३ इन लेखों में जिनालय के पुनरुद्धार

१. अम्बालाल पी० शाह-जैनतीर्थसर्वसंग्रह-द्वितीय भाग; पृ० ३३६-३३८

२. Dhaky, M. A.—“Nagada’s Ancient Jaina Temple”
SAMBODHI Vol-4 No. 3-4 Pp.-83-85.

३. Ibid.

की चर्चा है। वि०सं० १३५६ के लेख में दिगम्बर सम्प्रदाय के मूल संघ का उल्लेख है।^१ यह जिनालय स्थापत्यकला की दृष्टि से ११वीं शती में निर्मित माना जाता है। इसका भव्य शिखर मारु गुर्जर शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है।^२

द्वितीय जिनालय शांतिनाथ का है और अद्भुद्जी के नाम से जाना जाता है।^३ इसमें मूलनायक के रूप में भगवान् शांतिनाथ की श्याम पाषाण की ९ फुट ऊँची विशाल प्रतिमा प्रतिष्ठित है। प्रतिमा की चरण चौकी पर वि० सं० १४९४/ई० सन् १४३७ का लेख उत्कीर्ण है।^४

इसके अलावा यहाँ परवर्ती काल में निर्मित अन्य कई छोटे-छोटे जिनालय भी हैं।

६ नाणा

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत नाणा का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ भगवान् महावीर के मंदिर होने की बात कही गयी है।

नाणा आज नाना के नाम से जाना जाता है।^५ १०वीं शती से १५वीं शती तक यह नगर विकसित दशा में विद्यमान रहा। ई० सन् १२२६ के लगभग नाणा के समीपवर्ती क्षेत्रों पर चाहमानवंशीय नरेश घांधलदेव, जो वीरधवल का पुत्र था, चौलुक्य नरेश भीम ‘द्वितीय’ [ई० सन् ११७८-१२४१] के सामन्त के रूप में शासन करता रहा।^६ १२३० ई० के लगभग यह क्षेत्र आबू के परमार शासक सोमसिंह के अधिकार में आया, परन्तु बाद में देवराचाहमानों ने इस पर पुनः अधिकार कर लिया। ई० सन् १६०२ के लगभग यह क्षेत्र मेवाड़ के राणा अमरसिंह के अधीन रहा।

१. Progress Report of the Archaeological Survey of India, Western circle—1905-06, P. 63.
२. Dhaky—Ibid.
३. शाह, अम्बालाल, पी पूर्वोक्त, पृ० ३३६-३८
४. वही तथा नाहर, पूरनचन्द्र जैनलेखसंग्रह भाग—२, लेखाङ्क १९५८
५. यह स्थान पश्चिमी रेलवे के अहमदाबाद-अजमेर लाइन के मध्य नाना स्टेशन से ३ मील दूर स्थित है।
६. जैन, कैलाशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ४१६।
७. वही, पृ० ४१६।

नाणा जैन धर्म के केन्द्र के रूप में विशेषकर यहाँ स्थित जीवन्त-स्वामी की प्रतिमा के कारण विशेष रूप से प्रतिष्ठित रहा। यहाँ स्थित महावीर जिनालय से १०वीं शती का एक लेख प्राप्त हुआ है, जिसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि उक्त जिनालय उक्त समय के आस-पास ही निर्मित हुआ होगा।

इस जिनालय में वि० सं० ११६८, वि० सं० १२०३, वि० सं० १२४०, वि० सं० १५०५, वि० सं० १५०६ और वि० सं० १६५९ के लेख भी उत्कीर्ण हैं। इन लेखों में जिनालय के जीर्णोद्धार, नवीन जिन प्रतिमाओं के निर्माण, उनकी प्रतिष्ठा एवं जिनालय को दिये गये दानादि के उल्लेख हैं। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१— वि० सं० १०१७

जिनालय के द्वार के ऊपर दाहिनी ओर उत्कीर्ण लेख

२— वि० सं० ११६८ माघ...

जिनालय में शृंगारचौकी के दरवाजे के ऊपर पहले तोरण पर उत्कीर्ण लेख।

३— वि० सं० १२०३ कार्तिक वदि १५

जिनालय की परिक्रमा में चौमुख के पास दरवाजे के बारशाख पर उत्कीर्ण लेख

४— वि० सं० १२०३ वैशाख सुदि १२ सोमवार

जिनालय की परिक्रमा में रखी कायोत्सर्ग मुद्रा में शांतिनाथ की एक खंडित एवं अपूज्य प्रतिमा का लेख।

५— वि० सं० १२०३ वैशाख सुदि १२ सोमवार

जिनालय की परिक्रमा में रखी कायोत्सर्ग मुद्रा में नेमिनाथ की एक खंडित एवं अपूज्य प्रतिमा का लेख।

६— वि० सं० १२४० फाल्गुन सुदि २ बुधवार

जिनालय के गूढमंडप में दाहिनी ओर दीवाल के पास मूर्ति के नीचे परिकर की चरणचौकी पर उत्कीर्ण लेख।

७— वि० सं० १२७४ ज्येष्ठ वदि ५ मंगलवार

जिनालय के गूढमंडप में नन्दीश्वरद्वीप के पट्ट पर उत्कीर्ण लेख।

८— वि० सं० १४२९ माघ वदि ७ सोमवार

जिनालय में रखी पार्श्वनाथ की धातु पंचतीर्थी का लेख।

- ९—वि० सं० १५०५ माघ वदि ९ शनिवार
जिनालय में मूलनायक महावीरस्वामी की पालथी के ऊपर सम्मुख
भाग में उत्कीर्ण लेख जिसमें ज्ञानकीय (नाणकीय) गच्छ के
आचार्य शांतिसूरि द्वारा महावीर स्वामी की प्रतिमा प्रतिष्ठापित
करने का उल्लेख है ।
- १०—वि० सं० १५०५ माघ वदि ९.....
जिनालय में मूलनायक महावीर स्वामी के पालथी के ऊपर दूसरी
ओर उत्कीर्ण लेख ।
- ११ १२—वि० सं० १५०६ माघ वदि १० गुरुवार
जिनालय में मूलनायक के परिकर की चरणचौकी पर एवं मूल-
नायक के बायीं ओर कायोत्सर्ग प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख ।
- १३—वि० सं० १५१२ फाल्गुन सुदि ८ शनिवार
धर्मनाथ की धातु चौबीसी पर उत्कीर्ण लेख ।
- १४—वि० सं० १५१३ वैशाख सुदि १० गुरुवार
पार्श्वनाथ की धातु की प्रतिमा पर उत्कीर्ण लेख ।
- १५—वि० सं० १५१५ माघ सुदि १५
संभवनाथ की प्रतिमा का लेख ।
- १६—वि० सं० १५३० माघ वदि ६
संभवनाथ की प्रतिमा का लेख ।
- १७—वि० सं० १५३४ माघ सुदि ९
वासुपूज्य की प्रतिमा का लेख ।
- १८—वि० सं० १५७२ वैशाख सुदि ५ सोमवार
पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख जिसमें संडेरगच्छीय शांतिसूरि
द्वारा प्रतिमा प्रतिष्ठापित करने की चर्चा है ।
- १९—वि० सं० १६२२ वैशाख सुदि ३ सोमवार
पार्श्वनाथ की प्रतिमा का लेख ।
- २०—वि० सं० १६२३ वैशाख शुक्रवार
शांतिनाथ की प्रतिमा जिसमें तपागच्छीय हरिविजयसूरि द्वारा
उक्त प्रतिमा की प्रतिष्ठा की चर्चा है ।
- २१—वि० सं० १६३० वैशाख वदि ८
आदिनाथ की प्रतिमा का लेख ।

२२-वि० सं० १६५९ भाद्रपद सुदि ७ शनिवार

जिनालय में नव चौकी के सम्मुख भाग में पाट पर उत्कीर्ण लेख ।

इनके अलावा जिनालय में मूलनायक के पीछे दीवाल पर दो मूर्तियों एवं नवीन चौकी के बायीं ओर भी लेख उत्कीर्ण हैं, परन्तु इनमें काल निर्देश नहीं है ।

उक्त सभी लेख नाणा स्थित महावीर जिनालय में उत्कीर्ण हैं । इन लेखों के सम्बन्ध में विस्तार के लिए द्रष्टव्य —

मुनि जयन्तविजय - संपा० अबुंदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह,
लेखाङ्क: ३४१-३६४

नाणा से ही नाणकीयगच्छ जिसका श्वेताम्बर चैत्यवासी गच्छों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है, अस्तित्व में आया । इस गच्छ के कई नाम मिलते हैं यथा —नाणगच्छ, नाणागच्छ, नाणावालगच्छ, ज्ञानकीयगच्छ आदि । यह गच्छ वि. सं. की ११वीं शती के लगभग अस्तित्व में आया और १६वीं शती के अन्त तक विद्यमान रहा । शांतिसूरि इस गच्छ के पुरातन आचार्य माने जाते हैं । उनके बाद सिद्धसेनसूरि, धनेश्वरसूरि और महेन्द्रसूरि क्रमानुसार गच्छनायक हुए । इस गच्छ के पट्टधर आचार्यों के यही चार नाम पुनः पुनः मिलते हैं । चैत्यवादी गच्छों में प्रायः यही परम्परा मिलती है । ऐसा प्रतीत होता है कि गच्छ के प्रारम्भिक एवं प्रभावशाली आचार्यों के नाम उनके 'पट्ट' के रूप में रूढ़ हो जाते थे और उन पर प्रतिष्ठित होने वाले मुनि को आचार्य पद के साथ-साथ गच्छनायक के रूप में उक्त 'पट्ट-नाम' भी प्राप्त होता रहा ।

नाणकीयगच्छ^१ के मुनिजन चैत्यों, जिनमंदिरों एवं उपाश्रयों की देख-रेख में ही अपना सम्पूर्ण समय व्यतीत करते रहे । श्रावकों को नूतन जिनालय एवं तीर्थकर-प्रतिमाओं के निर्माण की प्रेरणा देना और उनकी आडम्बरपूर्वक प्रतिष्ठा करना ही इनका प्रधान कार्य रहा । त्रिधिमार्गियों द्वारा चैत्यवास के प्रबल विरोध के बाद भी दीर्घ-काल तक चैत्यवासियों का अस्तित्व बना रहना समाज पर इनके व्यापक प्रभाव का परिचायक है ।

१. नाणकीयगच्छ के सम्बन्ध में विस्तार के लिये द्रष्टव्य "नाणकीयगच्छ"—
श्रमण-वर्ष ४०, अंक ७, पृ० २-३४

७. पल्ली (पाली)

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत पल्ली (वर्तमान पाली) का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ महावीर स्वामी के जिनालय होने की बात कही गयी है।

पूर्व मध्ययुग में पाली का राजनैतिक एवं धार्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा। पालीवाल ब्राह्मणों, वणिकों तथा श्वेताम्बर जैनों के पल्लीवाल गच्छ की यहीं उत्पत्ति हुई है।^१ अभिलेखों में इसके कई नाम मिलते हैं, यथा पाल्लिका, पल्लिका, पाल्ली आदि।^२ पश्चिम भारत के स्थापत्य कला के विकास में भी पाली का विशेष महत्त्व है।^३ यहाँ के मन्दिरों में पश्चिम भारत की दो स्थापत्य शैलियों 'महामारु' तथा 'महागूर्जर' के दर्शन होते हैं। इस दृष्टि से यहाँ स्थित नौलखा मन्दिर उत्कृष्ट उदाहरण माना जा सकता है। इसका मूल प्रासाद 'महागूर्जर' और गूढ़ मंडप 'महामारु' शैली में निर्मित है।^४

पाली में जिनालय विद्यमान होने का सर्वप्रथम साहित्यिक उल्लेख सिद्धसेनसूरि द्वारा वि० सं० ११२३ में रचित 'सकलतीर्थस्तोत्र'^५ में प्राप्त होता है। यहां स्थित नौलखा पार्श्वनाथ मंदिर से कई अभिलेख मिले हैं, जो वि०सं० ११४४, ११५१, ११७८ और वि०सं० १२०१

१—जैन, कैलाश चन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० २९२-९३।

२—वही, पृ० २९२।

३—ढाकी, एम० ए०—'जैन टेम्पुल्स ऑफ वेस्टर्न इण्डिया' महावीरजैन विद्यालयसुवर्णमहोत्सवअंक, भाग १, पृ० ३३२।

४. वही, पृ० ३३३।

५. दलाल, सी०डी०—पत्तनस्थप्राच्यजैनभाण्डागारीयग्रन्थसूची, पृ० १५६

के हैं।^१ इन लेखों से स्पष्ट होता है कि यह जिनालय वास्तव में महावीर स्वामी को समर्पित था। इसी जिनालय से वि० सं० १६८६/ई० सन् १६२९ के भी अभिलेख मिलते हैं जिनके अनुसार वि० सं० १६८६ में इस मंदिर का जीर्णोद्धार कराया गया और यहाँ पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की गयी।^२ इससे स्पष्ट है कि वि० सं० १६८६ में यह जिनालय पार्श्वनाथ स्वामी के जिनालय के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। यहाँ का महावीर स्वामी का जिनालय, जिसकी पहले चर्चा की गई है, पार्श्वनाथ के जिनालय में कैसे बदल गया? ऐसा प्रतीत होता है कि राजस्थान-गुजरात पर मुस्लिम आक्रमण के दरम्यान यहाँ स्थित महावीर जिनालय को नष्टप्राय कर दिया गया होगा। परम्परानुसार किसी गोरी सुल्तान ने यहाँ आक्रमण किया था। तवारिकफरिश्ता (ई० सन् १६वीं शती का अन्तिम चरण) के अनुसार कुतुबुद्दीन ऐबक जो मुहम्मद गोरी का गुलाम था, ने पाली पर अधिकार कर लिया था।^३ ई० सन् ११९७ में ऐबक ने अणहिलवाड पर आक्रमण किया और इसी समय पाली और नाडौल पर भी अधिकार कर लिया। इस प्रकार स्पष्ट है कि १२वीं शती के अन्त तक यह क्षेत्र मुसलिम अधिकार में आ गया था। १७वीं शती में जब जैनों ने इस जिनालय का जीर्णोद्धार कराया तब वे शायद यह भूल चुके थे कि यह किस तीर्थकर का मन्दिर है और उन्होंने वि० सं० १६८६ में यहाँ पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित कर दी।^४

पाली, राजस्थान प्रान्त के जोधपुर शहर से ७२ कि० मी० दक्षिण-पश्चिम में वान्दी नदी के तट पर स्थित है।^५

१. नाहर, पूरनचन्द—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ८०९-८१५।

इसके अलावा इस जिनालय में वि० सं० १५०६ से वि० सं० १७०० तक के लेख भी विद्यमान हैं। द्रष्टव्य-नाहर—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ८१६-८२८।

२. नाहर—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ८२५-२७।

३. प्रोग्रेस रिपोर्ट, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, वेस्टर्न सर्किल, ई० सन् १९०८, पृ० ४५-४६।

४. वही, पृ० ४६।

५. जैन, कैलाश चन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० २९२।

८. श्रीफलवर्द्धिकापाश्वनाथकल्प

फलवर्द्धिका (वर्तमान फलौधी) जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। साहित्यिक तथा अभिलेखीय साक्ष्यों में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। ऐसा माना जाता है कि फलवर्द्धिकादेवी के नाम पर ही इस स्थल का नाम फलवर्द्धि प्रचलित हुआ। जिनप्रभसूरि ने इस तीर्थ का उल्लेख किया है और यहां पाश्वनाथ के मंदिर होने की बात कही है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“सपादलक्ष देश में मेड़ता नगरी के अन्तर्गत फलवर्द्धि नामक एक ग्राम है, जहाँ फलवर्द्धिकादेवी का ऊँचे शिखरों वाला चैत्य है। यह ग्राम पहले एक समृद्ध नगर था परन्तु कालान्तर से उजड़ कर साधारण गाँव मात्र रह गया। धीरे धीरे वणिक लोग यहाँ पुनः बसने लगे, उनमें दो जैन श्रावक भी थे - पहला श्रीमालवंशीय धांधल और दूसरा ओसवालवंशीय शिवंकर। उन्हें स्वनादेश से भूमि से पाश्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई, जिसे उन्होंने चैत्य बनवाकर वि० सं० ११८१ में राजगच्छीय शीलभद्रसूरि के शिष्य वादीन्द्र धर्मघोषसूरि के वरद हस्तों से चतुर्विधसंघ के समक्ष प्रतिष्ठित करायी। कालान्तर में सुलतान सहाबुद्दीन गोरी ने मूलबिम्ब को भग्न किया, तब अधिष्ठायक-देव ने म्लेच्छों को रुधिर-वमन एवं अन्धत्व से पीड़ित किया, जिससे सुल्तान ने यहाँ कभी भी आक्रमण न करने का फरमान दिया। चूँकि मूल प्रतिमा भग्न हो चुकी थी, अतः श्रावकों ने दूसरी प्रतिमा स्थापित करनी चाही, परन्तु अधिष्ठायक देव ने उन्हें ऐसा करने से रोक दिया। आज भी वह प्रतिमा विकलांग रूप में ही पूजी जाती है।”

उपरोक्त विवरण में ग्रन्थकार ने फलवर्द्धिका ग्राम में जैन श्रावकों द्वारा भूमि से पाश्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त करने, तत्पश्चात् चैत्य निर्मित कराने एवं वादीन्द्रधर्मघोषसूरि द्वारा वि० सं० ११८६ में चतुर्विध संघ के समय उसे नवनिर्मित चैत्य में प्रतिष्ठित करने की बात कही है। इसी प्रकार का विवरण पुरातनप्रबन्धसंग्रह^१ में भी प्राप्त होता है, परन्तु चैत्य बनवाने वाले श्रावक तथा प्रतिमा प्रतिष्ठित करने वाले आचार्य तथा समय के बारे में मतभेद है। इस

१. “फलवर्द्धितीर्थप्रबन्ध” पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ३१

प्रमाण के अनुसार पारस नामक श्रेष्ठी ने भूमि से प्रतिमा प्राप्त कर चैत्य बनवाया तथा वादिदेवसूरि ने वि० सं० ११९९ में मूर्ति की प्रतिष्ठा की और वि०सं० १२०४ में चैत्यशिखर स्थापित किया। पुरातनप्रबंधसंग्रह की इस मान्यता का समर्थन निम्नलिखित ग्रन्थों से भी होता है—

१— उपदेशतरंगिणी —^१ रत्नमंदिरगणि (वि० सं० १५१७)।

२— उपदेशसप्ततिः^२—सोमधर्मसूरि (वि० सं० १५०३)।

३— धर्मसागरीय तपगच्छपट्टावली^३ — १५ वीं शती।

परन्तु उक्त सभी ग्रन्थ पश्चात्कालीन हैं और इनका आधार ग्रन्थ पुरातनप्रबंधसंग्रह भी कल्पप्रदीप के बाद का है, अतः जिनप्रभ की बात ज्यादा प्रामाणिक मानी जा सकती है। भिन्न गच्छ के होते हुए भी जिनप्रभसूरि ने गच्छभेद की संकीर्णता से दूर रहते हुए वास्तविक तथ्य को ही लिखा होगा। इसप्रकार स्पष्ट है कि राजगच्छीय शील-भद्रसूरि के शिष्य वादिन्द्र धर्मघोषसूरि ने वि० सं० ११८१ में फल-वर्द्धिकाग्राम में नवनिर्मित जिनालय में पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित की और चैत्य शिखर पर कलशारोहण किया।

आज यहाँ जो पार्श्वनाथ का मंदिर है, संभवतः वही पुराना मंदिर हो सकता है। इस जिनालय से दो अभिलेख मिले हैं,^४ उनमें से एक

१. “श्रेष्ठि पारसदृष्टान्तः” उपदेशतरंगिणी, पृ० ११०

२. संपादक—अमृतलाल मोहनलाल—उपदेशसप्तति “श्रीफलवर्द्धितीर्थोत्पत्ती पासलिश्रावकप्रबन्ध” पृ० ३२-३३

३. तपगच्छपट्टावली, पृ० १२९

४. संवत् १२२१ मार्गसिर सुदि ६ श्रीफलवर्द्धिकायां देवाधिदेव श्री पार्श्वनाथ चैत्ये श्री प्राग्वाट वंसी (शी) य रोपि मुणि मं० दसाढाभ्यो आत्मश्रेयार्थं श्री चित्रकूटीय सिलफट सहितं चन्द्रको प्रदत्तः शुभं भवत् ॥

नाहर, पूरनचन्द—जैनलेखसंग्रह भाग १, लेखाङ्क ८७०

चैत्यो नरवरे येन श्री सल्लक्ष्मट कारिते। पंडपो मंडनं लक्ष्या कारितः
संघ भास्वता॥ १ ॥ अजयमेरु श्री वीर चैत्ये येन विधापिता श्री देवा
बालकाः ख्याताश्चतुर्विंशति शिखराणि ॥२॥ श्रेष्ठी श्री मुनि चंद्राख्यः
श्री फलवर्द्धिका पुरे उत्तान पट्ट श्री पार्श्वचैत्येऽचीकरदद्भू भूतं ॥ ३ ॥

वही, लेखाङ्क ८७१

वि०सं० १२२१ का है और दूसरा मितिबिहीन है। दूसरे अभिलेख में लक्ष्मट और मुनिचन्द्र का उल्लेख है। राजस्थान में बिजोलिया नामक ग्राम से प्राप्त वि०सं० १२२२ के एक अभिलेख^१, जो दिगम्बर आम्नाय से सम्बन्धित है, में मुनिचन्द्र और उसके भतीजे लोलक की वंशावली दी गयी है और लोलक द्वारा वि०सं० १२२२ में जिनालय निर्माण कराने का उल्लेख है। लोलक के चाचा मुनिचन्द्र को उससे कम से कम २० वर्ष पहले रखा जा सकता है। इस आधार पर कहा जा सकता है कि वि०सं० १२०० के लगभग फलोधी स्थित पार्श्वनाथ जिनालय में मुनिचन्द्र ने उत्तानपट (फर्श) का निर्माण कराया होगा।

इस प्रकार फलोधी पार्श्वनाथ जिनालय से प्राप्त मितिबिहीन अभिलेख का समय वि० सं० १२०० के लगभग माना जा सकता है। लक्ष्मट, मुनिचन्द्र और उसका भतीजा लोलक दिगम्बर आम्नाय से सम्बन्धित थे और इनके द्वारा फलोधी पार्श्वनाथ के श्वेताम्बर चैत्यालय में “उत्तानपट” का निर्माण कराया गया। इस विवरण से दो संभावनायें प्रकट होती हैं—

१—इस चैत्यालय को वि०सं० १२०० के लगभग दिगम्बरों ने अपने अधिकार में ले लिया हो !

अथवा

२—दिगम्बर श्रावक मुनिचन्द्र ने धार्मिक सद्भावनावश इस श्वेताम्बर जिनालय में उत्तानपट का निर्माण कराया हो।

जहाँ तक शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमण का प्रश्न है, यह सत्य है कि उसने वि०सं० १२३५ ई० सन् ११७८ में गुजरात पर आक्रमण किया था।^२ उस समय वहाँ मूलराज ‘द्वितीय’ (ई० सन् ११७६-११७८) का शासन था।^३ चौलुक्यों ने आवू के पास काशहद में गोरी को रोका और उसे परास्त कर वापस लौटने को विवश कर दिया।^४ गोरी के गुजरात पर आक्रमण करने का मार्ग फलोधी होकर

१. जोहरापुरकर, विद्याधर—जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेखाङ्क २६५

२. पाठक, विशुद्धानन्द—उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, पृ० ४८२

३. वही, पृ. ४८२ और ५४३

४. हबीबुल्ला—फाउण्डेशन ऑफ मुसलिमरूल इन इंडिया पृ. ५३; पाठक, पूर्वोक्त, पृ० ५४३-४४

ही रहा होगा और आक्रमणार्थ जाते समय वह मार्ग के मंदिरों को तोड़ता गया होगा। जिनप्रभसूरि ने गोरी के आक्रमण के समय यहाँ जिन प्रतिमा को भग्न करने की बात तो कही है परन्तु जिनालय तोड़ा गया अथवा नहीं यह अज्ञात है। उन्होंने आक्रामकों के अन्धत्व एवं रुधिर वमन से ग्रसित होने की जो बात कही है, वह उनका व्यक्तिगत कोप ही समझना चाहिए।

१ मुण्डस्थल

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत मुण्डस्थल का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ भगवान् महावीर के मंदिर होने की बात कही गयी है।

मुण्डस्थल आज मुंगथला के नाम से प्रसिद्ध है। और वर्तमान सिरोही जिले में अवस्थित है। यहाँ वि०सं० ८९५/ई० सन् ८३८ का एक शिवालय विद्यमान है^१, जिसके आधार पर कहा जा सकता है कि ९वीं शती में यह नगरी अस्तित्व में आयी होगी। यहाँ स्थित महादेव और महावीर के मंदिर अपनी प्राचीनता के लिये प्रसिद्ध हैं।^२

मुण्डस्थल जैन तीर्थ के रूप में पूर्व मध्ययुग में प्रतिष्ठित हुआ। उत्तरकालीन जैन परम्परानुसार महावीर स्वामी ने छद्मवस्था में अर्बुदमंडल में विहार किया और गणधर केशी ने यहाँ उनका एक जिनालय निर्मित कराया। यह बात अष्टोत्तरीतीर्थमाला (महेन्द्रसूरि ई० सन् १३वीं शती)^३ तथा इस जिनालय से प्राप्त वि० सं ५४२६ के एक शिलालेख^४ से ज्ञात होती है। परन्तु ये बातें स्पष्टतः काल्प-

१. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, पृ० २७९

२. वही

३. मुनि विशालविजय—मुण्डस्थलमहातीर्थ, पृ० १५ से उद्धृत

४. पूर्वं छद्मस्थकालेऽर्बुदभुवि यमिनः कुर्वतः सद्विहारं [सप्त] त्रिंशे च वर्षे वहति भगवतो जन्मतः कारितास्ताः (सा)। श्रीदेवार्यस्य यस्योल्लस-दुपलमयी पूर्णराजेन राज्ञा श्रीकेशीसु (शिना) प्रतिष्ठः स जयति हि जिनस्तीर्थ—मुण्डस्थलस्तुः (स्थः) ॥

मुनि जयन्तविजय—अर्बुदाचलप्रदक्षिणा जैनलेख संदोह, लेखाङ्क ४८

निक हैं अतः इनकी ऐतिहासिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। यहाँ स्थित महावीर जिनालय कब बनवाया गया। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित सूचना नहीं होनी। यहाँ से प्राप्त सबसे प्राचीन लेख वि० सं० १२१६/ई० सन् ११५८ के हैं। ये लेख मंदिर के स्तम्भों पर उत्कीर्ण हैं। इनमें जिनालय के सभामण्डप के स्तम्भों के निर्माण कराये जाने की बात कही गयी है।^१ इस आधार पर यह माना जा सकता है कि यह मंदिर उक्त तिथि (वि०सं० १२१६) के पूर्व कभी निर्मित हुआ होगा। वि०सं० १३८९/ई० सन् १३३२ में धाँधले ने अपने माता-पिता के श्रेयार्थ इस जिनालय में २ जिनप्रतिमायें स्थापित करायीं। ये प्रतिमायें आज आबू स्थित लूणवसही के गूढमंडप में रखी गयी हैं।^२ वि० सं० १४२६/ई० सन् १३६९ में प्राग्वाटजातीय महीपाल के पुत्र श्रीपाल ने इस जिनालय का पुनर्निर्माण कराया, इस अवसर पर प्रतिमा की स्थापना और कलशारोहण कोरंटगच्छीय श्रीकक्कसूरि के पट्टधर सर्वदेवसूरि द्वारा सम्पन्न कराया गया।^३ काण्हदेव के पुत्र वीसलदेव ने इस जिनालय को त्रि० सं० १४४२/ई० सन् १३८५ में एक ग्राम तथा अन्य वस्तुयें दान में दीं। यह बात यहाँ से प्राप्त उक्त तिथि (वि०सं० १४४२) के एक अभिलेख से ज्ञात होती है।^४ इसके अलावा यहाँ वि०सं० १५०१ से वि०सं० १६८६ तक के लेख भी विद्यमान हैं, जिनमें इस जिनालय को दानादि प्राप्त होने और इसके पुनर्निर्माण का उल्लेख करते हैं।^५ जैन श्रावकों की एक बड़ी संख्या यहाँ निवास करती थी, वे यहाँ होने वाले उत्सव आदि में पूर्ण सहयोग करते थे।^६ वि०सं० १७२२ में रचित एक तीर्थमाला में

१. अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क ४४, ४५, ४६, ४७.

२. संवत् १३८९ वर्षे फागु (लु) ण सुदि ८ श्रीकौ (को) रटकीयगच्छे मह० पूनसीह भा० पुनभिरि सुत, धाधलेन भ्रातृ मूल गेहा र्हा सहितेन मुण्डस्थल सत्कश्रीमहावीरचैत्ये निजमातृपितृश्रेयोर्थे जिनयुगळं कारितं प्रतिष्ठितं श्रीनय (न्न) सूरिभिः।
मुनि जयन्तविजय—अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, लेखाङ्क २४५

३. अर्बुदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह—लेखाङ्क ४९, ५०

४. मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ५१।

५. मुनि विशालविजय—पूर्वोक्त, पृ० ३२।

६. जैन, कैलाशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ४१९।

भी इस तीर्थ का उल्लेख है और यहां जिनालय में १४५ प्रतिमाओं के विद्यमान होने की बात कही गयी है।^१ धीरे धीरे यह नगरी उजड़ गयी और वर्तमान में तो एक साधारण ग्राम मात्र ही अवशिष्ट है। १७वीं शती के पश्चात् इस स्थान का उल्लेख किसी भी स्रोत (साहित्यिक अथवा पुरातात्विक) में प्राप्त नहीं होता, अतः यह माना जा सकता है कि उसी समय से इस नगरी की अवनति प्रारम्भ हुई होगी।

१०. शुद्धदन्ती स्थित पार्श्वनाथ कल्प

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत “शुद्धदन्तीनगरी” का भी उल्लेख किया है और यहाँ पार्श्वनाथ के मंदिर होने का बात कही है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“पूर्वकाल में अयोध्या नगरी में राजा दशरथ के पुत्र आठवें बलदेव श्रीपद्म ने भगवान् पार्श्वनाथ की एक रत्नमयी प्रतिमा अपने निजी चैत्रालय में स्थापित की। कालक्रम से पूर्व देश में दुर्भिक्ष पड़ने से अधिष्ठायाकदेव ने उक्त प्रतिमा गगनमार्ग से सातसौदेश के शुद्धदन्ती नामक नगरी में भूमिगृह में रख दी और उसे रत्नमय से पाणाणमय बना दिया। बहुत काल बीतने पर सोधतिवालगच्छ में विमलसूरि नामक एक जैनाचार्य को स्वप्न में उक्त प्रतिमा के बारे में जानकारी मिली तब उन्होंने प्रतिमा प्राप्त कर एक नवनिर्मित चैत्य में उसे स्थापित कर दी। कालचक्र के प्रभाव से एक बार तुर्कों ने यहाँ आक्रमण किया और पार्श्वनाथ की उक्त प्रतिमा के सिर को धड़ से अलग कर दिया। उस समय वहाँ आये एक अजापालक ने भूमि पर पड़े प्रतिमा के सिर को उठाकर उसके धड़ पर रख दिया जिससे वह तुरन्त जुट गयी। आज भी वही प्रतिमा वहाँ पूजी जाती है।”

जिनप्रभ के उक्त विवरण का सार यही है कि सोधतिवालगच्छीय किसी विमलसूरि नामक एक जैनाचार्य को स्वप्नादेश से भूमि से पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा प्राप्त हुई जिसे उन्होंने यहाँ एक नवनिर्मित चैत्य में स्थापित कर दिया और बाद में मुस्लिम आक्रमणकारियों ने इस जिनालय और प्रतिमा को भग्न कर दिया।

१. विजय धर्मसूरि—संपा० प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, भाग २, पृ० ६०।

ग्रन्थकार के उक्त विवरण से अप्रत्यक्ष रूप से सिद्ध होता है कि सोधतिवालगच्छीय विमलसूरि १४वीं शती के पूर्व हुए थे उन्हें प्रतिमा प्राप्त होने के पहले भी शुद्धदन्ती नगरी जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रही, क्योंकि किसी भी स्थान को जैनतीर्थ के रूप में प्रसिद्ध होने के पश्चात् ही वहाँ से किसी गच्छ का उदय होना संभव है। जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित विमलसूरि एवं उनके गच्छ के बारे में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। उन्होंने यहाँ के जिनालय एवं प्रतिमा को मुसलमानों द्वारा भग्न किये जाने की जो बात कही है, वह भी सत्य माननी चाहिए, क्योंकि इस युग में किसी मुस्लिम आक्रमणकारी द्वारा मंदिरों को भग्न कर देना एक सामान्य बात थी। जहाँ तक इस तीर्थ की प्राचीनता का प्रश्न है, सिद्धसेनसूरि द्वारा वि० सं० ११२३/ई० सन् १०६७ में रचित *सकलतीर्थ स्तोत्र*^१ में इसका उल्लेख है जिससे यह माना जा सकता है कि ११वीं शती के आसपास कभी यह स्थान जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ होगा। हेमहंससूरि द्वारा वि० सं० १४७७ में लिखित *मातृकाक्षर तीर्थमाला* में भी इस तीर्थ का उल्लेख है।^२ वि० सं० १६६७ में अकबर के आमन्त्रण पर लाहौर जाते समय खरतंगच्छीय युगप्रधान जिनचन्द्र सूरि शुद्धदन्ती नगरी में ही ठहरे थे, यह बात श्री जिनचन्द्र सूरिअकबरप्रतिबोधरास से ज्ञात होती है।^३

शुद्धदन्ती नगरी आज सोजत के नाम से जानी जाती है। आज यहाँ १० जिनालय विद्यमान हैं, ये १७ वीं शती से १९ वीं शती के मध्य निर्मित हैं।^४ इस प्रकार स्पष्ट है कि यह नगरी ११ वीं शती से ही जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित है और आज भी इसका प्राचीन गौरव

१. खंडिल—डिडूआयण नराण—हरसडर खट्टऊदेसे।

नागउरमुव्विदंतिमु संभरिदेसंमि वंदेमि ॥ २४ ॥

दलाल, सी० डी०—डिस्कृष्टिव कैटलॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडार्स ऐट पाटन पृ० १५६

२. आदरणीय श्री भंवरलाल जी नाहटा से उक्त सूचना प्राप्त हुई है, जिसके लिये लेखक उनका आभारी है।

३. नाहटा, अगरचन्द, भंवरलाल—संपा० ऐतिहासिकजैनकाव्यसंग्रह (कलकत्ता वि० सं० १९९४) पृ० ६७।

४. शाह, अम्बालाल—जैनतीर्थसर्वसंग्रहतीर्थसूची, पृ० ३७९-३८२

विद्यमान है। राजस्थान प्रान्त के वर्तमान जोधपुर जिले में सोजतरोड रेलवे स्टेशन से ७ मील दूर यह तीर्थ स्थित है।^१

११. सत्यपुर तीर्थ

सत्यपुर (वर्तमान सांचोर) जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। जिन-प्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ पर एक स्वतन्त्र कल्प लिखा है, जिसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“नाहड़ राय नामक एक राजपुत्र ने जज्जिगसूरि नामक एक जैना-चार्य की प्रेरणा से सत्यपुर नगरी में जिन महावीर की पीतल की प्रतिमा एवं जिनालय का निर्माण कराया। वीरनिर्वाण सम्वत् ६०० के लगभग उक्त जैनाचार्य ने उस प्रतिमा को नवनिर्मित चैत्य में स्थापित किया। वि०सं० ८४५ में गजनीपति हम्मीर ने वलभी नगरी के एक श्रेष्ठी रांका के आमन्त्रण पर वलभी नरेश शीलादित्य पर आक्रमण किया और उसे पराजित कर मार डाला एवं उसकी नगरी का भंग किया। वि०सं० १०८१ में गजनीपति गुजरात को लूटते हुए सत्यपुर पहुँचा और यहाँ स्थित महावीर चैत्यालय को नष्ट करने का प्रयास किया, जो विफल रहा। मालवनरेश गुजरात पर आक्रमणार्थ सत्यपुर की सीमा तक आ पहुँचे, परन्तु ब्रह्मशान्ति के प्रभाव से भयाक्रान्त हो वे वापस लौट गये। वि०सं० १३४८ में देश पर मुगलों का भीषण आक्रमण हुआ। वे एक के बाद दूसरे प्रदेश को लूटते हुए सत्यपुर की सीमा तक आगये, परन्तु इसी समय उन्हें बघेलानरेश सारंगदेव के आगमन की बात ज्ञात हुई और वे वापस लौट गये। वि०सं० १३५६ में अला-उद्दीन खिलजी के छोटे भाई उलगूखान ने चित्रकूट और गुजरात पर आक्रमण किया। चित्रकूट के नरेश समरसिंह ने कर देकर मेवाड़ की रक्षा की। इसके बाद वह पश्चिम की ओर बढ़ा और मेहसाणा, बागड़ आदि देशों को लूटता हुआ आशापल्ली तक गया। राजा कर्णदेव ने भाग कर अपनी जान बचायी। इसके पश्चात् उसने वामनस्थली जाकर माण्डलिक राजा को दंडित किया। सोमनाथ के मंदिर को नष्ट कर उसके अनेक अवशेषों को दिल्ली भेज दिया। इस प्रकार सौराष्ट्र को

१. शाह—अम्बालाल, पूर्वोक्त, पृ० ३७९-३८२।

अपने साम्राज्य में मिलाने के पश्चात् वह वापस लौट गया। इस बार भी आक्रमणकारियों ने सत्यपुर के महावीर जिनालय को कोई क्षति नहीं पहुँचायी। वि०सं० १३६७ में अलाउद्दीन खिलजी ने यहाँ आक्रमण किया तथा चैत्यालय को नष्ट कर प्रतिमा अपने साथ दिल्ली ले गया।^१

सत्यपुर का सर्वप्रथम उल्लेख चौलुक्य नरेश मूलराज 'प्रथम' (ई० सन् ९४१-९९६) के वि०सं० १०५२/ई० सन् ९९५ के एक दान शासन^१ में प्राप्त होता है। इसीप्रकार सत्यपुर स्थित महावीर चैत्यालय का सर्वप्रथम उल्लेख परमारनरेश भोज (ई० सन् १०११-१०५५) के मंत्री धनपाल द्वारा रचित "सत्यपुरमहावीरजिनोत्साह"^२ नामक स्तोत्र में हुआ है। इन विवरणों के आधार पर कहा जा सकता है कि यह नगरी १०वीं शतीके लगभग कभी अस्तित्व में आयी होगी और ई० सन् की ११ वीं शती के आसपास इस महावीर जिनालय का निर्माण हुआ होगा। इस तथ्य को दृष्टि में रखते हुए जिनप्रभ के इस बात जिसके अनुसार वीरनिर्वाण के ६०० वर्ष पश्चात् यहाँ महावीर का जिनालय निर्मित कराया गया, यह बात स्वीकार्य नहीं प्रतीत होती। जहाँ तक निर्माणकर्ता का प्रश्न है, हो सकता है कि नाहड़ राय^३ नामक किसी व्यक्ति ने उक्त निर्माण कराया हो। ग्रन्थकार ने वि०सं० ८४५ में वलभी नगरी पर गजनी के सुलतान द्वारा आक्रमण करने का उल्लेख किया है। यह सत्य है कि ई० सन् ८वीं शती के अन्तिम चरण में भारत पर विदेशी आक्रमण हुआ, परन्तु यह आक्रमण अरबों की ओर से हुआ था न कि गजनी के सुलतान की ओर से। दूसरे वि०सं० ८४५ में यह आक्रमण नहीं हुआ बल्कि वि०सं० ८३३ के लगभग हुआ था।^४ अतः यह कहा जा सकता है कि जिनप्रभ की यह मान्यता त्रुटिपूर्ण है।

१. इपिग्राफियाइंडिका, जिल्द १०, पृ० ७८।
२. जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अङ्क २ के अन्तर्गत प्रकाशित।
३. डा० दशरथ शर्मा राजस्थान श्रो द एजेज, (बीकानेर, ई० सन् १९६६, पृ० १२२ ओर आगे) ने नाहड़राय को प्रतिहार नरेश नागभट्ट 'प्रथम,' जिसका ८वीं शती ई० सन् का उत्तरार्ध माना जाता है, से समकृत किया है। परन्तु हमें १० वीं शती से पहले सत्यपुर के अस्तित्व का ही पता नहीं चलता अतः यह बात स्वीकार नहीं की जा सकती।
४. विर्जी, के० जे०-एन्शेंट हिस्ट्री ऑफ सौराष्ट्र, पृ० १०२।

ग्रन्थकार ने वि०सं० १०८१ में गजनीपति द्वारा गुजरात पर आक्रमण करने के पश्चात् सत्यपुर स्थित महावीर जिनालय को नष्ट करने का असफल प्रयास करते हुए उल्लिखित किया है। यह आक्रमणकारी महमूद गजनवी था, जिसने वि० सं० १०८१ में भारत पर आक्रमण किया था तथा सोमनाथ के मंदिर को लूट लिया था। यह बात अन्य साक्ष्यों से भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होती है।^१ महाकवि धनपाल ने भी कहा है कि तुर्कों ने धार, श्रीमाल, अणहिलवाड़, चन्द्रावती आदि स्थानों पर स्थित जिनालयों को नष्ट कर दिया, परन्तु सत्यपुर के महावीर मंदिर को क्षति पहुँचाने में वे असफल रहे।^२ इसप्रकार जिनप्रभ की यह बात, जिसका अन्य साक्ष्यों से भी समर्थन होता है, प्रामाणिक मानी जा सकती है। ग्रन्थकार वे मालवनरेश द्वारा गुजरात पर आक्रमणार्थ सत्यपुर तक पहुँचने का उल्लेख किया है, परन्तु उन्होंने आक्रामक का नाम, घटना की तिथि आदि बातों की चर्चा नहीं की है। आक्रामक का आक्रमण किये बिना लौट जाना एवं तत्सम्बन्धी जिस घटना की चर्चा उन्होंने की है वह और अनैतिहासिक है। इसके साथ-साथ अन्य किसी भी साक्ष्य से मालव नरेश द्वारा गुजरात पर आक्रमण करने का उल्लेख प्राप्त नहीं होता। अतः जिनप्रभ का यह विवरण भ्रामक माना जा सकता है। वि०सं० १३४८ में उन्होंने देश पर मुगल आक्रमण होने की बात कही है। परन्तु इस तिथि में भारतवर्ष पर किसी विदेशी आक्रमण का उल्लेख नहीं मिलता। वि०सं० १३४२/ई० सन् १२८५ में यहाँ मंगोलों का आक्रमण अवश्य हुआ था,^३ उस समय बलवन (ई० सन् १२६६-१२८६) दिल्ली का बादशाह था। उसके ज्येष्ठ पुत्र मुहम्मद ने मंगोलों को हरा कर वापस लौटने को विवश कर दिया, परन्तु वह स्वयं इस युद्ध में मारा गया। लेकिन इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि यह घटना ग्रन्थकार के यौवनावस्था में घटित हुई थी अतः विचारणीय है।

१. मजुमदार और पुसालकर—द स्ट्रिगिल फॉर एम्पायल, (बम्बई, १९६६) पृ० ६ और आगे।
२. “सत्यपुरमहावीरजिनोत्साह”, गाथा ५-७ जैन साहित्य संशोधक, वर्ष ३, अङ्क २ में प्रकाशित।
३. मजुमदार और पुसालकर—पूर्वोक्त, पृ० १५५।

अलाउद्दीन खिलजी के भाई उलगूखान ने चित्तौड़ और गुजरात पर आक्रमण किया था। जिनप्रभसूरि ने इस आक्रमण की तिथि वि०सं० १३५६।ई० सन् १२९९ बतलायी है। मुस्लिम इतिहास लेखकों ने भी प्रायः यही तिथि बतलायी है।^१

अलाउद्दीन ने वि० सं० १३६७/ई० सन् १३१० में राजपुताना पर आक्रमण कर सिवाना और जालोर को जीत लिया और उन्हें अपने साम्राज्य में मिला लिया।^२ इस संदर्भ में जिनप्रभ का यह कथन कि उसने सत्यपुर के महावीर चैत्यालय को नष्ट किया, एवं प्रतिमा को दिल्ली भेज दिया, विश्वसनीय प्रतीत होता है। एक विजेता और मुस्लिम शासक होने के नाते वह गर्व से प्रायः अनेक देवालियों को नष्ट करता हुआ वापस लौटा होगा। उक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि सत्यपुर पर प्रथम बार वि०सं० १०८१ में महमूद गजनवी द्वारा आक्रमण किया गया और दूसरा आक्रमण अलाउद्दीन खिलजी द्वारा वि०सं० १३६७ में किया गया। इस बीच के वर्षों में यहाँ शान्ति रही और इस तीर्थ का बहुत महत्त्व रहा। यह बात यहाँ से प्राप्त वि० सं० १२२५,^३ वि०सं० १२४२^४, वि०सं० १२७७^५, और वि०सं० १३२२^६ के अभिलेखों ज्ञात होती है। इसके अलावा चौलुक्य नरेश अजयपाल (वि० सं० १२२९-१२३२) के दण्डनायक आल्हण ने यहाँ के वीरचैत्य में महावीर स्वामी की प्रतिमा स्थापित करायी।^७ वि० सं० १२८८ के लगभग वस्तुपाल-तेजपाल ने इस तीर्थ के महिमास्वरूप गिरनार पर्वत पर

१. मजुमदार और पुसालकर—दिल्ली सल्तनत, (बम्बई, १९६७) पृ० १९। वही, पृ० ३३।
२. वही, पृ० ३३।
३. नाहर पूरन चन्द्र—जैन लेख संग्रह, भाग १-३ (कलकत्ता ई० १९१८-२९) लेखाङ्क ९३२।
४. जैन, कैलाश चन्द्र—ऐन्शेंट सिरीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, (दिल्ली, ई० सन् १९७२) पृ० १९८।
५. शाह, अम्बालाल—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, पृ० ३०५।
६. वही, पृ० ३०५।
७. देसाई, मोहनलाल दलीचंद—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास (बम्बई, ई० सन् १९३३) पृ० ३४२।

‘सत्यपुरीयावतार’ नामक मंदिर का निर्माण कराया^१। इसप्रकार स्पष्ट होता है कि १२-१४ वीं शती में सत्यपुर एक अत्यन्त प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहा और इसी प्रसिद्धि के कारण ही विधर्मी लोगों ने इसका नाश किया ।

सत्यपुर आज सांचोर के नाम से जाना जाता है । यह स्थान वर्तमान राजस्थान प्रान्त के जोधपुर शहर से २१२ कि० मी० दक्षिण पश्चिम में लूणी नदी के तट पर स्थित है ।^२ यहाँ आज ५ जिनालय विद्यमान हैं परन्तु वे आधुनिक काल के हैं ।^३ यहाँ का प्राचीन जिनालय सर्वथा नष्ट हो चुका है ।

-
१. सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादिवस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह, संग० मुनि जिन-विजयमुनि (सिधी जैन ग्रन्थमाला, ग्रन्थांक ५, बम्बई वि०सं० २०१७) पृ० ४४-४८ ।
 २. जैन, कैलाशचन्द्र-पूर्वोक्त, पृ० १९८ ।
 ३. त्रिपुटी महाराज-जैनतीर्थोन्नो इतिहास, पृ० ३१६



पश्चिम भारत

(२) गुजरात-काठियावाड़



(ब) गुजरात-घौराष्ट्र

१. अजाहरा

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत अजाहरा का भी उल्लेख है और यहां पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है।

अजाहरा आज “अजारी” के नाम से जाना जाता है। यह स्थान दक्षिणी सौराष्ट्र के जूनागढ़ जिले में ऊना से ५ किमी० दूर स्थित है।^१

अजाहरा का जैन तीर्थ के रूप में संभवतः सर्वप्रथम उल्लेख जिन-प्रभसूरि का ही है। गुजरात के सुल्तान अहमदशाह (ई० सन् १४११-१४४३) के कृपापात्र श्रेष्ठी गुणराज ने वि. सं. १४९६ में शत्रुंजय-गिरनार आदि तीर्थों की यात्रा के लिये सुल्तान से फरमान प्राप्त कर एक संघ निकाला था, उसी यात्रा के अन्तिम चरण में उक्त श्रेष्ठी ने अजाहरा, पीडवाड़ा (प्राचीन सिरोही राज्य के अन्तर्गत स्थित), सालेरा, (प्राचीन उदयपुर राज्य के अन्तर्गत) आदि स्थानों में स्थित जिनालयों का जीर्णोद्धार तथा नये जिनालयों का निर्माण कराया। यह बात राणकपुर स्थित जिनालय में उत्कीर्ण वि. सं. १४९६ के एक लेख से ज्ञात होता है।^२

तीर्थमालाचैत्यबंदन (रचनाकाल वि० सं० १८८०) में भी इस तीर्थ का उल्लेख मिलता है।^३

आज यहां ग्राम में महावीर स्वामी का एक जिनालय विद्यमान है, जिसमें ११७ पाषाण की तथा ५३ धातु की प्रतिमायें प्रतिष्ठित हैं।^४

१. पारीख और शास्त्री - पूर्वोक्त, भाग १, पृ० ३४८।

२. देसाई, मोहनलाल दलीचंच—जैन साहित्य नो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४५७।

जिनविजय—संपा० प्राचीनजैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखाङ्क ३०७।

३. क्राउझे, शालोटे—संपा० ऐन्सेन्ट जैन हीम्स, पृ० ११८।

४. शाह, अम्बालाल पी०—पूर्वोक्त, तीर्थसूची - संख्या २९११।

२. अम्बुरिणीग्राम

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत “अम्बुरिणी ग्राम” का भी उल्लेख है और वहां सुमतिनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है।

अम्बुरिणी ग्राम को गुजरात राज्य के जामनगर जिले में स्थित वर्तमान “आमरण” नामक ग्राम से समीकृत किया जाता है।^१ ग्राम के मध्य में वि. सं १९७५ में निर्मित एक जिनालय विद्यमान है जो मुनिसुव्रत को समर्पित है।^२ जहां तक जिनप्रभसूरि के उक्त उल्लेख का प्रश्न है, यद्यपि सुमतिनाथ का कोई जिनालय यहां विद्यमान नहीं है, परन्तु इससे उनके उक्त कथन को अप्रामाणिक नहीं माना जा सकता। हो सकता है उनके समय में उक्त तीर्थङ्कर का कोई मंदिर यहां रहा हो।

३. अणहिलपुरस्थित अरिष्टनेमिकल्प

गूर्जरदेश की राजधानी और पश्चिमी भारत की एक प्रमुख नगरी के रूप में अणहिलपुर का विशेष महत्त्व रहा है। परम्परानुसार वि.सं. ८०२ में चावड़ा वंश के संस्थापक वनराज चावड़ा ने इस नगरी की नींव डाली थी। जैन प्रबंधग्रंथों में इस नगरी के बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस नगरी का उल्लेख किया है और चापोत्कट, चौलुक्य एवं वघेला आदि राजवंशों के राजाओं की वंशावली का भी यथाश्रुत उल्लेख किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इसप्रकार हैं—

“कन्नौज देश से एक बार यक्ष नामक एक व्यापारी व्यापार हेतु बैलों का सार्थ लेकर अणहिलपुरपत्तन आया। वर्षाकाल उसने वहीं व्यतीत किया। एक दिन रात्रि में अम्बिका देवी ने उसे भूमि में एक निश्चित स्थान में जिन प्रतिमा होने तथा उसे निकाल कर चैत्य में स्थापित करने का निर्देश दिया। प्रातःकाल उस व्यापारी ने देवी के

१. पारीख और शास्त्री—संपा० गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास, भाग १, पृ० ३३६।

२. शाह अम्बालाल पी०—पूर्वोक्त, तीर्थसूची, संख्या, १५२५।

निर्देशानुसार निर्दिष्ट स्थान से जिन प्रतिमायें प्राप्त कीं और चैत्य निर्मित कर उसमें उन्हें स्थापित कर दिया। एक बार ब्रह्माणगच्छीय आचार्य यशोभद्रसूरि खंभात नगरी से भ्रमण करते हुए वहां आये। श्रावकों के अनुरोध पर उन्होंने उक्त चैत्य में पूजन-वन्दन किया और मार्गशीर्ष पूर्णिमा के दिन ध्वजारोहण महोत्सव किया। यह महोत्सव वि. सं. ५०२ में सम्पन्न हुआ। आज भी उसी दिन प्रतिवर्ष ध्वजारोहण महोत्सव किया जाता है।

वि० सं० ८०२ में चापोत्कटवंशीय वनराज ने पाटन (अणहिलपुर पाटन) नगरी को बसाया। उसके वंश में कुल सात राजा हुए। १-वनराज, २-जोगराज, ३-क्षेमराज, ४-भूअड़, ५-वयरसिंह, ६-रत्नादित्य और ७-सामन्तसिंह। इनके पश्चात् चौलुक्यवंशीय राजाओं का शासन प्रारम्भ हुआ। इस वंश में कुल ११ राजा हुए।

१-मूलराज, २-चामुण्डराज, ३-वल्लभराज, ४-दुर्लभराज, ५-भीमदेव 'प्रथम', ६-कर्णदेव, ७-जयसिंहदेव, ८-कुमारपालदेव, ९-अजयपाल, १०-मूलराज और ११-भीमदेव 'द्वितीय'।

इसके पश्चात् बघेलवंशीय ६ राजाओं का शासन प्रारम्भ हुआ, ये राजा हैं—१-लवणप्रसाद, २-वीरधवल, ३-वीसलदेव, ४-अर्जुनदेव, ५-सारंगदेव और ६-कर्णदेव। इसके पश्चात् गूर्जरदेश में सुल्तान अलाउद्दीन का शासन प्रारम्भ हो गया।”

ब्रह्माणगच्छ चन्द्रकुल (बाद में चन्द्रगच्छ) की एक शाखा और चैत्यवासीगच्छों में प्रमुख था। यह गच्छ ई० सन् की ११वीं शती के लगभग अर्बुदमण्डल में स्थित वरमाण नामक तीर्थस्थान से अस्तित्व ने आया।^१ यशोभद्रसूरि इस गच्छ के पुरातन आचार्य माने जाते हैं। वि० सं० ११२४ के प्रतिमालेखों में इनका उल्लेख मिलता है।^२ अतः

१. नाहटा, अगचन्द्र—“श्वेताम्बर श्रमणोंके गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश” यतीन्द्रसूरिअभिनन्दनग्रन्थ, पृ० १३५-१६५।

२. श्रीब्रह्माणगच्छे श्रीजसोभद्रसूरिभूषिते स्वापितुरम्नैय तस्य श्रेयसे मूलप्रासादे ... कारितः सं० ११२४। सं० ११२४ श्रीब्रह्माणगच्छे श्रीजसोभद्राचार्या जसोवर्धनवैरसिंहजज्जक-प्रभृतैः पधरिनागदेव्यो पितृमात्रोनिमित्त कारितेयं प्रतिमा।

मुनि जिनविजय-संपा० प्राचीनजैनलेखसंग्रह, भाग-२, लेखाङ्क ४६३, ४६४ प्रतिष्ठा स्थान—जैन मंदिर-रातेज

जिनप्रभसूरि का यह विवरण —“अणहिलपुर में ब्रह्माणगच्छीय आचार्य यशोभद्रसूरि ने नवनिर्मित अरिष्टनेमि के जिनालय पर ध्वजारोहण किया,” स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है। इस सम्बन्ध में एकमात्र समस्या है ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित समय निर्देश की, जो उपरोक्त परिस्थिति में संदिग्ध ही नहीं अपितु असंभव है।

अणहिलपुर को वि० सं० ८०२ में बसाये जाने की बात को अधिकांश विद्वानों ने स्वीकार किया है,^१ परन्तु कुछ विद्वानों के अनुसार ८०२ वि० सं० न होकर शक सं० होना चाहिए।^२ जहाँ तक चापोत्कटों की वंशावली का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में लम्बे समय से ही मतभेद रहा है। इस बारे में हमें दो मत दिखाई पड़ते हैं। प्रथम मतानुसार^३ चापोत्कटों की वंशावली इस प्रकार है—

१-वनराज, २-योगराज, ३-रत्नादित्य, ४-वैरसिंह, ५-क्षेमराज, ६-चामुण्डराज, ७-आहड़, ८-भूअड़ और ९-सामन्तसिंह।

द्वितीय मतानुसार^४ चापोत्कटों की वंशावली इस प्रकार है—

१-वनराज, २-योगराज, ३-क्षेमराज, ४-भूअड़राज, ५-वैरसिंह, ६-रत्नादित्य और ७-सामन्तसिंह।

जिनप्रभसूरि ने द्वितीय मत को ही प्रामाणिक मानते हुए उसी के अनुसार चापोत्कटों की वंशावली प्रस्तुत की है।

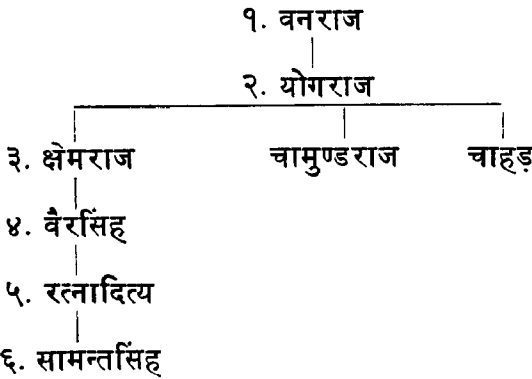
चापोत्कटों की संशोधित वंशावली इस प्रकार है—

१. पारीख और शास्त्री—गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास, भाग ३, पृ० १२५।

२. ढाकी, एम० ए०—“लेट गुप्ता स्कल्पचर्स फ्राम पाटन अणहिलवाड” बुलेटिन—म्यूजियम एण्ड पब्लिशर्स गैलरी बडोदा जिल्द १९- (ई० सन् १९६५-६६) पृ० १७-२८, यादटिप्पणी-६५

३. सुकृतसंकीर्तन, सर्ग १; सुकृतकीर्तिकलोलिनी, श्लोक ९-२२; प्रबन्धचिन्तामणि (ए और D हस्तप्रति) पृ० १५; विचारश्रेणी, पृ० ९ धर्मारण्यमहात्म्य अ. ६६, श्लोक ८७-९७ आदि।

४. प्रबन्धचिन्तामणि पृ० १४-१५; कुमारपालप्रबन्ध (जिनमण्डनसूरि) पृ० २; प्रवचनपरीक्षा पृ० २७१; मिरात - ए - अहमदी, पृ० २३; गुर्जरदेशराजवंशावली—स्वाध्याय, खंड-५, पृ० २४८-२४९।



चौलुक्यों की वंशावली, जिसका ग्रन्थकार ने उल्लेख किया है, पूर्णतः प्रामाणिक मानी जाती है।^१

चौलुक्यों के पश्चात् गुर्जरदेश में वाघेलों का शासन प्रारम्भ हुआ। जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित वाघेल राजाओं की वंशावली के प्रथम दो राजा लवणप्रसाद और वीरधवल चौलुक्य नरेश भीम 'द्वितीय' (वि० सं० १२३४-१२९८) के सामन्त थे।^२ भीम 'द्वितीय' एक दुर्बल शासक था और वास्तविक सत्ता इन्हीं के हाथों में केन्द्रित थी, अतः उसके मृत्यु के पश्चात् इन्होंने सत्ता अपने हाथ में ले ली।^३ इस वंश का प्रथम स्वतन्त्र शासक वीसलदेव और अन्तिम शासक कर्णदेव था। कर्ण के पश्चात् यहाँ अलाउद्दीन खिलजी का शासन प्रारम्भ हो गया।^४ इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित चापोत्कटों, चौलुक्यों एवं वाघेलों की वंशावली प्रायः प्रामाणिक है।

१. पारीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, भाग ४, पृ० ५६०।

२. वही, पृ० ७८।

३. प्रबन्धचिन्तामणि (पृ० १०४) के अनुसार भीम 'द्वितीय' के पश्चात् वीसलदेव के हाथों में सत्ता आ गयी, परन्तु कुछ पट्टावलियों और वि० सं० १२९९ के एक दानशासन के अनुसार भीम 'द्वितीय' की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र त्रिभुवनपाल शासक बना। इस आधार पर कुछ विद्वानों ने उसे भी ऐतिहासिक माना है। द्रष्टव्य-पारीख और शास्त्री-पूर्वोक्त, पृ० ८०।

४. वही, भाग ४, पृ० ९८।

४. अश्ववावबोधतीर्थ

भृगुकच्छ (वर्तमान भरुच) भारतवर्ष की एक सुप्रसिद्ध नगरी और पत्तन के रूप में प्राचीनकाल से प्रतिष्ठित रही है। इसके भरुकच्छ, भारुकच्छ, भरुअच्छ आदि नाम भी मिलते हैं। जैन परम्परानुसार यह नगरी प्राचीनकाल से ही जैन तीर्थ के रूप में मान्य रही है। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ का वर्णन किया है, जिसके अन्तर्गत उन्होंने इसकी उत्पत्ति एवं इसके सम्बन्ध में प्रचलित जैन मान्यताओं की चर्चा की है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“मुनि सुव्रतस्वामी कैवल्य प्राप्ति के पश्चात् विचरण करते हुए एक बार प्रतिष्ठानपुरी में एक रात्रि में ६० योजन चलकर राजा जितशत्रु के अश्व को प्रतिबोधित करने के लिए लाट देशान्तर्गत नर्मदा नदी के तट पर स्थित भृगुकच्छ नगरी के कोरंटवन नामक स्थान पर पहुँचे। वहाँ समवशरण में अन्य लोगों के अलावा वह अश्व भी आया। उसने धर्मदेशना सुनी। मुनिसुव्रत ने उसके पूर्वभव का वर्णन किया, जिसे सुनकर उसने अनशन द्वारा अपना शरीर छोड़ा और मरकर देव हुआ। अपना पूर्वभव ज्ञात कर उसने स्वामी का रत्नमय चैत्य बनवाया तथा उसमें अपना अश्वरूप भी स्थापित कराया। इस प्रकार भृगुकच्छ नगरी अश्ववावबोधतीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुई। कालान्तर में सिंहलद्वीप की राजकुमारी सुदर्शना अपना पूर्वभव ज्ञात कर इसी नगरी में आयी और यहाँ उसने चैत्य का जीर्णोद्धार कराया। पूर्वभव में वह शकुनिका (शमली) थी, अतः उसके पूर्वभव के नाम पर ही यह जिनालय शकुनिका विहार के नाम से प्रसिद्ध हुआ। मिथ्यादृष्टि सिन्धवादेवी ने यहाँ प्रासादशिखर पर नृत्य करते हुए आम्रभट्ट पर उपसर्ग किया, जिसे हेमचन्द्राचार्य ने दूर किया। यहाँ अनेक लौकिक तीर्थ भी विद्यमान हैं।”

कल्पप्रदीप के अतिरिक्त अन्य जैन ग्रन्थों में भी इस तीर्थ के सम्बन्ध में इसी प्रकार का कथानक प्राप्त होता है। ये ग्रन्थ हैं—

वादिदेव सूरि कृत स्यादवादरत्नाकर^१ (वि० सं० ११७१)।

१. स्यादवादरत्नाकर (संपा० मोतीलाल लाघजी, पूना, वीरसंबद् २४५३) १११२।

हेमचन्द्र सूरि कृत त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित^१ (वि० सं० १२१६-२६) ।

सोमप्रभसूरि कृत कुमारपालप्रतिबोध^२ (वि० सं० १२४१) ।

महेन्द्रसूरि कृत अष्टोत्तरीतीर्थमाला^३ (वि० सं० १२९०) ।

प्रभाचन्द्रसूरि कृत प्रभावकचरित^४ (वि० सं० १३३४) ।

लेख नं० २९७ (माउन्टआबू)^५ (वि० सं० १३३५) ।

मेरुतुङ्ग कृत प्रबन्धचिन्तामणि^६ (वि० सं० १३६१) ।

पुरातनप्रबन्धसंग्रह^७ (वि० सं० १४वीं शती) ।

जिनमण्डलगणि—कुमारपालप्रबन्ध^८ (वि० सं० १४९२) ।

सोमधर्मगणि कृत उपदेशसप्तति^९ (वि० सं० १५०३) ।

जिनहर्षगणि कृत वस्तुपालचरित^{१०} (वि० सं० १४९८) ।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित उक्त कथानक जैन परम्परा पर ही आधारित है। अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि सुदर्शना के पश्चात् और आम्बड (आम्भट्ट) द्वारा इस तीर्थ के पुनरुद्धार कराये जाने के पूर्व इसकी क्या स्थिति थी ?

१. त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित ५।७।१ ।
२. प्रस्ताव ५, प्रकरण १० (गुजराती अनुवाद-जैन आत्मानन्द सभा, भाव-नगर, पृ० ४३६) ।
३. विधिपक्षीयपंचप्रतिक्रमणसूत्राणि (वि० सं० १९८४) के अन्तर्गत-प्रकाशित ।
४. प्रभावकचरित, पृ० ४१ और आगे ।
५. मुनि जयन्तविजय—अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, पृ० १२४ ।
६. प्रबन्धचिन्तामणि, (सिंधी जैन ग्रन्थमाला-कलकत्ता संस्करण) पृ० ८७, १०० और आगे ।
७. पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ४०, ७६ ।
८. मूल ग्रन्थ उपलब्ध न होने से यह उद्धरण ऐन्शेन्ट जैन हीम्स (संपा० शार्लोटे क्राउझे) पृ० ६-७ के आधार पर दिया गया है ।
९. उपदेशसप्तति, अधिकार २, उपदेश २, पृ० २६ (अहमदाबाद, वि० सं० १९९८) ।
१०. वस्तुपालचरित, प्रस्ताव ५, पृ० १३६ और आगे (गुजराती अनुवाद-जैन धर्म प्रचारक सभा, वि० सं० १९७४) ।

प्रभावकचरित से ज्ञात होता है कि सुदर्शना के पश्चात् सम्प्रति, विक्रमादित्य, सातवाहन, पादलिप्त और आर्य खपुटाचार्य की परम्परा के विजयसेनसूरि ने इस तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया। इस समय तक यह जिनालय काष्ठ निर्मित ही था, जिसे बाद में आम्रभट्ट ने पाषाण निर्मित कराया।

दो अन्य साक्ष्यों से भी आम्रभट्ट से पूर्व इस जिनालय के विद्यमान होने का प्रमाण मिलता है।

१—श्रीचन्द्रसूरि कृत मुनिसुव्रतचरित (वि० सं० १२००) इस ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि संपत्कार (सांतु) ने भृगुकच्छ स्थित शमलिका विहार पर सुवर्ण कलश चढ़ाया। सांतु सोलङ्की राजा कर्णदेव और जयसिंह सिद्धराज का मंत्री था।^१

२—खरतरगच्छीय देवभद्रसूरि कृत पाश्वनाथचरित (प्राकृत भाषा-मय, रचनाकाल वि०सं० ११६८) इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि “देवभद्रसूरि ने वि० सं० ११६८ में भृगुकच्छ के आमदत्त मंदिर में इसकी (इस ग्रन्थ की) रचना की।”^२ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वि० सं० ११६८ में यह जिनालय जैनों के अधिकार में था। इसके पश्चात् आम्रभट्ट ने इस जिनालय का जीर्णोद्धार कराया, जैसा कि उक्त सभी साक्ष्यों से स्पष्ट होता है। यह जीर्णोद्धार वि० सं० १२१६/ई० सन् ११६० में सम्पन्न हुआ माना जाता है।^३

आम्रभट्ट द्वारा पुनर्निर्माण कराये जाने के पश्चात् प्रभावकचरित, प्रबंधचिन्तामणि और कल्पप्रदीप में शकुनिका-विहार के बारे में आगे कुछ भी नहीं कहा गया है। इस सम्बन्ध में हमें आगे जिन ग्रन्थों से जानकारी प्राप्त होती है वे इस प्रकार हैं—

१—बृहद्गच्छीय रत्नप्रभसूरि कृत उपदेशमालावृत्ति^४ (रचना काल, वि० सं० १२३८)।

१. देसाई, मोहन लाल दलीचन्द—पूर्वोक्त, पृ० २२९, पैरा ३१२, ३१३।

२. वही, पैरा ३२४, पृ० २३७।

३. क्राउझे, शालोटे—संपा० ऐन्शेन्ट जैन हीम्स, पृ० १४।

४. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द—पूर्वोक्त, पैरा ४८३।

२—अंचलगच्छीय महेन्द्रसूरि द्वारा रचित अष्टोत्तरीतीर्थमाला^१ (रचना काल, वि० सं० १२९०) ।

३—जयसिंहसूरि द्वारा रचित वस्तुपालतेजपालप्रशस्ति^२ (रचना काल, वि० सं० १३वीं शती का अन्तिम चरण) ।

४—जिनहर्षगणि कृत वस्तुपालचरित^३ (रचना काल वि० सं० १४९८) ।

इन ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि तेजपाल ने अपने भाई वस्तुपाल से पूछकर शकुनिकाविहार स्थित २५ देवकुलिकाओं पर स्वर्ण ध्वजादण्ड चढ़ाया । यह कार्य वि० सं० १२७८ से वि० सं० १२८६ के मध्य सम्पन्न हुआ माना जाता है ।^४

आज शकुनिकाविहार तथा अन्य प्राचीन जैन मंदिरों का पता भी नहीं है । मुस्लिम शासनकाल में यहाँ के अनेक धार्मिक स्थल मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये । कुछ विद्वानों के अनुसार यहाँ जो जामा मस्जिद है, वही शकुनिका-विहार था । यह बात सत्य प्रतीत होती है, क्योंकि यह मस्जिद शहर के बाहर नर्मदा के तट पर स्थित है ।^५ इस मस्जिद के स्तम्भों और आन्तरिक संरचना को देखने से यह सिद्ध हो जाता है कि यह पहले जैन मन्दिर ही था । इस मन्दिर में हिजरी ७२१/वि० सं० १३७८ का एक लेख भी उत्कीर्ण है ।^६ गयासुद्दीन तुगलक के राज्यकाल (ई० सन् १३२०-२५) में यहाँ (गुजरात) में उसका प्रतिनिधि (सूबेदार) मोहम्मद वतुगरी शासन करता था, उसी समय उक्त परिवर्तन किया गया ।

आज यहाँ १२ जिनालय विद्यमान हैं, जिनमें से ४ उत्तर-मध्यकाल में निर्मित हैं और शेष वर्तमान युग के हैं ।^७

१ विधिपक्षीयपंचप्रतिक्रमणसूत्राणि (वि० सं० १९८४) अन्तर्गत प्रकाशित ।

२. देसाई, पूर्वोक्त पैरा ५२८ और ५५२ ।

३. वस्तुपालचरित, ८।९७-१०३ ।

४. क्राउञ्जे—पूर्वोक्त पृ० २० ।

५. वही, पृ० २२ ।

६. वही,

७. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, भाग १, खंड १, २८-२९, तीर्थसूची - पृ० ६७-७० ।

५. उर्जयन्तगिरि

उर्जयन्त (वर्तमान गिरनार) जैन धर्मावलम्बियों का एक महान् तीर्थ है। जैन मान्यतानुसार २२वें तीर्थंकर नेमिनाथ के अन्तिम तीन कल्याणक-दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण यहीं हुए, जिससे यह स्थान जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुआ।

कल्पप्रदीप के अन्तर्गत उर्जयन्त (रैवतक-गिरनार) पर चार कल्प लिखे गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१—रैवतकगिरिकल्पसंक्षेप।

२—उज्जयन्तस्तव।

३—उज्जयन्तमहातीर्थकल्प।

४—रैवतकगिरिकल्प।

इनमें से प्रथम तीन कल्पों में तीर्थ की महिमा आदि का ही विवेचन है और चौथे रैवतकगिरिकल्प में महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक विवरण समाविष्ट हैं, अतः यहाँ केवल इसी कल्प के विवरणों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। जिसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“पश्चिम दिशा में सौराष्ट्र देश में रैवतकगिरि के शिखर पर नेमिनाथ का जिनालय है। एक बार काश्मीर देश से अजित और रतन नामक दो श्रावक, संघ के साथ यहां आये और पूजा-अर्चना प्रारम्भ की। बार-बार न्हणव कराये जाने से नेमिनाथ की लेप्यमयी प्रतिमा गल गयी, जिससे संघपति अजित ने वहां दूसरी प्रतिमा स्थापित कर दी। चौलुक्य नरेश जयसिंह सिद्धराज ने राखेंगार को मारकर सज्जन को जब सौराष्ट्र का दंडाधिपति नियुक्त किया, तो उसने वि. सं. ११८५ में यहां नेमिनाथ का सुन्दर मंदिर बनवाया। मालववंशीय श्रेष्ठी भावड़शाह ने मंदिर पर स्वर्णकलश चढ़ाया। कुमारपाल के समय सौराष्ट्र के दण्डनायक आम्मड़ ने पर्वत पर सीढ़ियां बनवायीं। राजा वीरधवल के मन्त्री तेजपाल ने गिरनार की तलहटी में अपने नाम से तेजलपुर नामक नगर बसाया और वहां अपने पिता के नाम पर आसराजविहार और माता के नाम से कुमारसरोवर का निर्माण कराया। वस्तुपाल ने पर्वत के शिखर पर शत्रुञ्जयावतारमंदिर, अष्टापदसम्मेतशिखरमंडप, कर्पादियक्ष एवं

महदेवी के प्रासाद निर्मित कराये । तेजपाल ने ३ कल्याणक चैत्य बनवाया । देपाल मन्त्री ने इन्द्रमंडप का उद्धार कराया ।”

जिनप्रभसूरि द्वारा अजित और रतन के सम्बन्ध में उल्लिखित कथानक हमें निम्नलिखित ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है—

१—**रैवंतगिरिरामु**^१ (नागेन्द्रगच्छीय विजयसेनसूरि, रचनाकाल १२२३ ई०)

२—**प्रबन्धकोश**^२ (राजशेखर, रचनाकाल, १३४८ ई०)

३—**पुरातनप्रबन्धसंग्रह**^३ (प्रति-पी०, रचनाकाल १४-१५वीं ई०)

प्रबन्धकोश में अजित और रतन के स्थान पर उनके भाई मदन और पूर्णसिंह का नाम दिया गया है । **कल्पप्रदीप**, **रैवंतगिरिरामु** और **प्रबन्धकोश** में घटना की तिथि नहीं दी गयी है जबकि **पुरातन-प्रबन्धसंग्रह** में वि. सं. ९८० में यह कार्य सम्पन्न हुआ बतलाया गया है । अजित और रतन जैन धर्म के किस सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे ? चूँकि इस युग में काश्मीर में श्वेताम्बरों के अस्तित्व का कोई प्रमाण नहीं मिलता, जबकि ९वीं शती में यहां दिगम्बरों की उपस्थिति की सूचना मिलती है^४ अतः इस आधार पर प्रो० एम. ए. ढाकी ने यह विचार व्यक्त किया है कि अजित और रतन संभवतः दिगम्बर सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे ।^५ गिरनार पर्वत पर सर्वेक्षण के समय एम. ए. ढाकी और श्रीलक्ष्मणभाई भोजक को भगवान् नेमिनाथ की १०वीं शती की एक सिरविहीन प्रतिमा प्राप्त हुई है । इस प्रतिमा के बारे में उन्होंने यह अनुमान व्यक्त किया है कि यह संभवतः वही प्रतिमा है जिसे अजित

१. सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादिवस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह (सिंधी जैन ग्रन्थ-माला - नं० ५) संपा० मुनि पुण्यविजय, बम्बई, १९६१ ई० ।

२. “रतनश्रावकप्रबन्ध” प्रबन्धकोश, पृ० ९३ ।

३. “रैवंततीर्थप्रबन्ध” पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ९७ ।

४. शासनचतुर्त्रिशिका—तीर्थवन्दनसंग्रह (संपा० विद्याधर जोहरापुरकर) पृ० ३२

५. ढाकी, एम. ए. - “उर्जयन्तगिरि एण्ड जिन अरिष्टनेमि” जर्नल ऑफ इन्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियन्टल आर्ट, जिल्द ६ (१९८२ई०) पृ० १७

और रतन ने स्थापित किया था ।^१ इस प्रकार स्पष्ट है कि १०वीं शती तक यह तीर्थ दिगम्बरों के अधिकार में था, बाद में यहाँ श्वेताम्बरों का आधिपत्य स्थापित हो गया ।

सिद्धराज द्वारा सौराष्ट्रविजय का उल्लेख निम्नलिखित ग्रन्थों में भी पाया जाता है—

१—सिद्धहैमव्याकरण—पुरातत्त्व (गुजराती) जिल्द IV पृ. ६७

२—कीर्तिकौमुदी

३—प्रबन्धचिन्तामणि

४—पुरातनप्रबन्धसंग्रह

कीर्तिकौमुदी (२/२५) के अनुसार जयसिंह ने खेंगार को उसी प्रकार मार डाला जिस प्रकार से सिंह हाथी को मार डालता है—

अपारपौरुषोद्गारं खङ्गारं गुरुमत्सरः ।

सौराष्ट्रं पिष्टवानाजौ, करिणं केसरीव यः ।

पुरातनप्रबन्धसंग्रह^२ में भी खङ्गार को ही सौराष्ट्र का शासक बतलाया गया है, जिसे जयसिंह सिद्धराज ने हराकर मार डाला । प्रबन्धचिन्तामणि^३ में उक्त शासक का नाम नवघन बतलाया गया है । उसके अनुसार जयसिंह ने अपनी सेनाको नवघन द्वारा ११ बार परास्त हो जाने पर १२ वीं बार स्वयं उसपर चढ़ाई की और उसे हराकर मार डाला, तत्पश्चात् सज्जन को वहाँ का दण्डनायक नियुक्त किया । अन्य ग्रन्थों में खङ्गार को सौराष्ट्र का शासक बतलाया गया है, वहीं प्रबन्धचिन्तामणि में नवघन का नाम आता है । नवघन खङ्गार का दादा था, अतः प्रबन्धचिन्तामणि का उक्त नामोल्लेख भ्रामक है ।

कल्पप्रदीप में दण्डनायक सज्जन द्वारा वि० सं० ११८५ में नेमिनाथ जिनालय के निर्माण की बात कही गयी है । उक्त जिनालय में उत्कीर्ण वि०सं० ११७६/ई० सन् ११२० के सज्जन के एक लेख के आधार पर भगवानलाल इन्द्रजी ने कल्पप्रदीप के उक्त तिथि को भ्रामक बतलाया है । परन्तु कल्पप्रदीप की तिथि का समर्थन रैवन्त-गिरिरासु^१ में भी किया गया है—

१. ढाकी, पूर्वोक्त पृ० १७

२. “सज्जनकारितरैवततीर्थोद्धारप्रबन्ध” पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ३४

३. “सिद्धराजप्रबन्ध” प्रबन्धचिन्तामणि (संपा० जिनविजय), पृ० ६४-६५

इक्कारसय-सहीउ पंचासीय वच्छरि,
नेमि-भुवण उध्धरिउ साजणी नर-सेहरे १११९

प्रभावकर्त्तारत में कहा गया है कि सौराष्ट्र पर सज्जन का अधि-
कार नौ वर्षों से चला आ रहा है—

अद्य प्राग्नवमे वर्षे स्वामिनाधिकृतः कृतः ।

आरुरोह गिरि जीर्णमद्राक्षं च जिनालयम् ॥

प्रभावकर्त्तरित (संपा० जिनविजय) पृ० १९५, श्लोक संख्या ३३३
इस प्रकार स्पष्ट है कि वि० सं० ११७६ में सज्जन सौराष्ट्र का
दण्डनायक नियुक्त हो चुका था और वि० सं० ११८५ में उसने यहाँ
स्थित नेमिनाथ जिनालय का निर्माण कराया ।

प्रबन्धचिन्तामणि के अनुसार ३ वर्षों की आय से सज्जन ने नेमि-
नाथ के काष्ठमय प्रासाद को पाषाणनिर्मित कराया—

तेन स्वामिनमविज्ञाप्यैव वर्षं त्रयोद्गाहितेन श्रीमदुज्जयन्ते श्रीनेमी
श्वरस्य काष्ठमयं प्रासादमपनीय नूतनः शैलमयः प्रासादः कारितः ।

प्रबन्धचिन्तामणि—(संपा० जिनविजय) पृ० ६४

धर्मघोषसूरि द्वारा रचित गिरनारकल्प^१ (रचनाकाल वि० सं०
१३२०/ई० सन् १२६४) के अनुसार सज्जन के पूर्व मालवा के याकुडी
ने इस जिनालय के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया—

याकुड्यमात्य-सज्जनदण्डेशाद्या अपि व्यधुर्यत्र ।

नेमि-भवनोद्धृतिमसौ गिरिनारगिरीश्वरो जयति ॥२७॥

परन्तु कार्य पूर्ण होने के पूर्व ही याकुडी का मृत्यु हो गयी, अतः
सज्जन ने उसे पूर्ण कराया ।

पुरातनप्रबन्धसंग्रह^२ के अनुसार सज्जन द्वारा कराये गये निर्माण
से १३५ वर्ष पूर्व याकुडी ने निर्माण कार्य प्रारम्भ किया था । सज्जन
द्वारा उक्त निर्माण वि०सं० ११८३/ई० सन् ११२६ में पूर्ण कराया गया,
अतः याकुडी द्वारा कराये गये निर्माण का काल ई० सन् ९९० के आस-
पास माना जा सकता है ।

१ प्राचीनगूर्जर काव्यसंग्रह (संपा० सी० डी० दलाल), पृ० १५०

२. ' मंत्रीसज्जनकारितरैवततीर्थोद्धारप्रबन्ध' - पुरातनप्रबन्धसंग्रह पृ० ३४

इसी प्रकार कुमारपाल द्वारा नियुक्त सौराष्ट्र के दण्डनायक द्वारा यहाँ पर्वत पर सीढ़ियाँ बनवाने का ग्रन्थकार ने जो विवरण दिया है, उसका समर्थन भी यहाँ उत्कीर्ण शिलालेख से होता है,^१ परन्तु शिलालेख में उक्त कार्य को वि०सं० १२२२ में पूर्ण हुआ बतलाया गया है जबकि जिनप्रभसूरि इस कार्य को वि० सं० १२२० में सम्पन्न हुआ मानते हैं। इसी प्रकार वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा यहाँ सम्पन्न कराये गये निर्माण कार्यों का विवरण हमें यहीं पर वि०सं० १२८८ में उत्कीर्ण कराये गये शिलालेख तथा अन्य स्रोतों से भी प्राप्त होता है।^२ इस प्रकार स्पष्ट है कि इस तीर्थ के सम्बन्ध में जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित प्रायः सभी विवरण पूर्व परम्परा पर आधारित एवं प्रामाणिक हैं।

६. काशहद

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत काशहदका उल्लेख है और यहाँ आदिनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है—

काशहदे त्रिभुवनमङ्गलकलशः श्रीआदिनाथः ।

कल्पप्रदीप, पृ० ८५

काशहद का एक 'नगरी' के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख मैत्रकवंशीय शासक खरगृह 'प्रथम' के ई० सन् ६१६ के 'एक अभिलेख में तथा 'विषय' के रूप में धरसेन के ई० सन् ६२४ के कासींदरा दानशासन में प्राप्त होता है। ध्रुवसेन 'तृतीय' के ई० सन् ६५०-५१ के एक दान-

१. जिनविजयमुनि-संपा० प्राचीनजैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखाङ्क ५०-५१ ।

यह दण्डनायक उदयन मंत्री का पुत्र आममड़ (आम्रभट्ट) माना जाता है। द्रष्टव्य—देसाई, मोहनलाल दलीचन्द—जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २६८-७१ ।

२. सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादिवस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह, (सिद्धी जैन ग्रन्थ-माला नं० ५, संपा० मुनिपुण्यविजय) पृ० ४४-५८ ।

ढाकी, एम ए०—“वस्तुपालतेजपालनी कीर्तिनात्मक प्रवृत्तिओ” स्वाध्याय वर्ष ४ अंक ३ पृ० ३१४-१५

शासन में विभाग के रूप में इस स्थान का उल्लेख है ।^१ शीलादित्य 'तृतीय' के ई० सन् ६६४ के एक दानशासन में भी इस स्थान की चर्चा है ।^२ राष्ट्रकूटनरेश ध्रुव 'द्वितीय' के ई० सन् ८३५ के एक दानशासन में काशहृद के एक ग्राम को दान में दिये जाने का उल्लेख है ।^३ इसी प्रकार कृष्ण 'द्वितीय' के ई० सन् ९१०-११ के एक दानशासन में खेटक, हर्षपुर और काशहृद इन तीन स्थानों को साथ-साथ उल्लिखित किया गया है ।^४

१. शास्त्री हरिप्रसाद - मैत्रककालीनगुजरात, पृ० ४८
 (प्रतिसंस्का) राय भिक्षु (संघस्य च ?) पादमूलप्रजीवनाय (वनौट-कान्तर ?) काशहृदान्तर्गतराक्षसकग्रामस्सोद्गङ्गस्सोपरि (करः)
 ध्रुवसेन 'तृतीय' के ई० सन् ६५१ के एक ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख का अंश, पंक्ति-१३
 आचार्य गिरजाशंकर वल्लभजी-गुजरातना ऐतिहासिक लेखो, भाग १, लेखाङ्क ७५, पृ० २०३-२०४
२. सव्वनिव समाज्ञापयत्यस्तु वस्संविदितं यथा मया मातापित्रोः पुण्याप्यायनाय कुशहृद विनिर्गतं तच्चातुव्वेद्य सामान्यभारद्वाजसगोत्रछान्दोगसचारि-ब्राह्मण ।
 शीलादित्य 'तृतीय' का (गुप्त) संवत् ३४६/ई० सन् ६९४ के एक ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख का अंश
 वही, भाग १, लेखाङ्क ८०, पृ० २२१
३. गायानन्तरं श्रीगोविन्दराजदेवेन ख्यापितज्योतिषिकनाम्नेकासद्गृहदेशान्त-र्व्वन्ति पूसिला—
 राष्ट्रकूटनरेश ध्रुव 'द्वितीय' के ई० सन् ८३५-३६ के ताम्रपत्र पर उत्कीर्ण लेख, पंक्ति-२९
 वही, लेखाङ्क १२७, पृ० ६८ ।
४. श्रीखेटकहर्षपुरकासद्रहएतत् (i) अर्द्धाष्टमयं समधिगतपंचमहाशद्वमहा-सामन्तप्रचण्डदण्डनायक श्रीचन्द्रगुप्ते ।
 कृष्ण 'द्वितीय' का ई० ९१०-११ सन् कपडवज दानपत्र लेख
 —पंक्ति ३३-३४
 वही, भाग २, लेखाङ्क १३२, पृ० ११८ ।

जैन प्रबन्धग्रन्थों में भी इस नगरी का उल्लेख है। प्रभावकचरित^१ (वि० सं० १३३४/ई० सन् १२७८) में यहाँ के निवासी सर्वदेव नामक एक ब्राह्मण, का जो चारों वेदों में पारंगत था, उल्लेख है।

प्रबन्धचिन्तामणि^२ (वि० सं० १३६६/ई० सन् १३०९) और पुरातनप्रबन्धसंग्रह^३ (ई० सन् १४वीं-१५वीं शती) के अनुसार धारा के परमार नरेश मुञ्ज के पुत्र सिंहल ने गुर्जरदेश में आकर काशहूद में अपनी छावनी डाली थी।

यहाँ आदिनाथ का एक प्रसिद्ध जिनालय था। अपनी तार्थयात्रा के समय महामात्य वस्तुपाल और तेजपाल यहाँ आये थे। वस्तुपाल ने यहाँ एक अम्बालय का निर्माण कराया और तेजपाल ने आदिनाथ के जिनालय का जीर्णोद्धार कराया। इस जिनालय का गूढमण्डप और देवकुलिका ई० सन् १०३१ में निर्मित हो चुकी थी, परन्तु रंगमंडप में १३वीं शताब्दी में हुए जीर्णोद्धार के स्पष्ट प्रमाण यहाँ उपलब्ध हैं।^४

प्राग्वाटवंशीय श्रेष्ठी गुणधर द्वारा वि० सं० १३३० में लिखायी

१. काश्यपरोपितनगरे कासहूदाख्ये समस्ति भूदेवः ।

श्रीसर्वदेवनामा वेदचतुष्कस्य पारगतः ॥ ९० ॥

“विजयसिंहसूरिचरितम्” प्रभावकचरित, पृ० ४४

२. स सीन्धलो गुर्जरदेशे समागत्य काशहूदनगरसन्निधौ,
निजां पल्ली निवेश्य दीपोत्सवे रात्रौ मृगयां कर्तुं प्रयातः ।

“मुञ्जराजप्रबन्ध” प्रबन्धचिन्तामणि

सं० दुर्गाशंकरकेशवरामशास्त्री (बम्बई, १९३२ ई०) पृ० ३१-३२

३. श्रीपरमावंश्यश्रीहर्षभूपो राज० शरवणमध्ये जातमात्रं बालं प्राप्य देव्यै० स मुञ्ज इति नाम । ततः (राज्ञः) सीन्धलः सुतः मुञ्जे राज्यं रुद्रादित्यो महामात्यं । उत्कटत्वात्सीन्धलोः निष्काशितः । गुर्जरदेशे कासद्रासन्ने निज-पल्लीं कृत्योवास ।

“प्रबन्धचिन्तामणिगुम्फितकतिपयप्रबन्धसंक्षेप” पुरातनप्रबन्धसंग्रह,

पृ० १२८

४. ढाकी, मधुसूदन तथा शास्त्री, प्रभाशंकर—“वस्तुपालतेजपालनी कीर्त्ति-नात्मकप्रवृत्तियो” स्वाध्याय, खंड ४, अंक ३, पृ० ३०५-३२० ।

गयी शांतिनाथचरित के प्रतिलेखन की प्रशस्ति^१ तथा पुरातनप्रबन्ध-संग्रह^२ में भी यहाँ स्थित आदिनाथ जिनालय की चर्चा है। उक्त विवरणों के आधार पर जिनप्रभसूरि के उक्त कथन का समर्थन होता है।

काशहूद को अहमदाबाद के दक्षिण-पश्चिम में २० किमी० दूर स्थित “कासींदरा” नामक स्थान से समीकृत किया जाता है।^३ आज यहाँ कोई प्राचीन जिनालय विद्यमान नहीं है, परन्तु निकटवर्ती ग्राम में एक प्राचीन जिनालय विद्यमान है, जो आदिनाथको समर्पित है। ऐसी सम्भावना प्रकट की जा सकती है कि प्राचीन काल में काशहूद एक बड़ा नगर रहा होगा और उक्त ग्राम भी जहाँ वह जिनालय स्थित है, उसी के अन्तर्गत रहा हो।^४

अर्बुदगिरि की तलहटी में भी काशहूद (वर्तमान कायंद्रा) नामक एक प्राचीन स्थान है।^५ यहाँ शान्तिनाथ का एक प्राचीन जिनालय है। इस जिनालय में निर्मित एक देवकुलिका में वि० सं० १०९१/ई० सन् १०३४ का एक लेख उत्कीर्ण है, जिसके आधार पर इस जिनालय को ई० सन् की ग्यारहवीं शताब्दी में निर्मित माना जाता है।^६ श्वेताम्बर श्रमण संघ की एक प्रमुख उपशाखा ‘काशहूदगच्छ’ यहीं से अस्तित्व में आयी।^७ पुरातनप्रबन्धसंग्रह^८ के अन्तर्गत वर्णित ‘मुञ्ज-

१. काशहूदे वरनगरे धदाकेनादिनाथजिनभुवने ।

मूलप्रतिमाऽभिनवाऽस्थाप्यत शुद्धेन वित्तेन ॥ ४ ॥

शांतिनाथचरित की वि० सं० १३३० की प्रतिलिपि की प्रशस्ति मुनि जिनविजय—संपा० जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, पृ० ७७

२. काशहूदे श्रीयुगादिदेवः,

“वलभीभङ्गवृत्तम्” पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ८३

३. पारीख तथा शास्त्री, पूर्वोक्त, पृ० ३८१ ।

४. वही, पृ० ३८१ ।

५. शाह, अम्बालाल प्रेमानन्द—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, भाग १, खंड २, पृ० २६१

६. वही

७. नाहटा, अगरचंद—“श्वेताम्बर श्रमणों के गच्छों पर संक्षिप्त प्रकाश” यतीन्द्रसूरिअभिनन्दनग्रन्थ, पृ० १३५-१६५

८. “सोऽबुदे कासहूदग्रामे गतः” पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० १३

राजप्रबन्ध' में भी इस स्थान का उल्लेख है। इसी काशहूद के मैदान में चौलुक्य नरेश बालमूलराज ने ई० सन् ११७८ में मुहम्मद गोरी को बुरी तरह पराजित किया^१। इसी स्थान पर दिल्ली के गुलामवंशीय प्रथम शासक कुतुबुद्दीन ऐबक ने ई० सन् ११९७ में चौलुक्य नरेश भीम 'द्वितीय' को परास्त किया था।^२ जहाँ तक काशहूद के सम्बन्ध में कल्पप्रदीप के उल्लेख का प्रश्न है यह स्पष्ट नहीं होता कि जिनप्रभ-सूरि ने गुजरात के काशहूद का उल्लेख किया है अथवा अर्बुदमण्डल के काशहूद का। चूँकि ये दोनों ही स्थान जैन धर्म से सम्बद्ध रहे हैं, अतः इस सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ कह पाना कठिन है।

७. कोकावसति पाश्वर्नाथकल्प

अणहिलपुर नगरी चौलुक्यों की राजधानी और पश्चिम भारत की एक प्रमुख नगरी थी। जिनप्रभसूरि ने इस नगरी में मलधारी अभयदेवसूरि के आगमन, जयसिंह सिद्धराज द्वारा उन्हें सम्मानस्वरूप "मलधारी उपाधि" तथा निवास हेतु उपाश्रय प्रदान करने का एवं उनके शिष्य मलधारी हेमचन्द्रसूरि द्वारा नये चैत्य की स्थापना का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

"एक बार "प्रश्नवाहनकुल" के हर्षपुरीयगच्छालङ्कार श्री अभय-देवसूरि विहार करते हुए अणहिलपुर आये और नगर के बाहर ठहरे। एक दिन जयसिंह सिद्धराज जब उसी मार्ग से गुजर रहे थे, तो उन्होंने सूरिजी को मलमलिन वस्त्रयुक्त देखा और हाथी से उतर कर निकट जा उन्हें प्रणाम किया तथा मलधारी उपाधि एवं निवास हेतु घृतवसही के निकट उपाश्रय प्रदान किया। कालक्रम से उनके पट्ट पर हेमचन्द्र-सूरि (मलधारी) प्रतिष्ठित हुए। वे चौमासे से प्रतिदिन घृतवसही जाकर व्याख्यान देते थे। एक दिन वहाँ के गोष्ठिक लोगों ने उन्हें व्याख्यान देने से रोक दिया। इस घटना से दुःखी हो श्रावकों ने घृतवसही के निकट ही कोका नाम के एक श्रेष्ठी से सशर्त भूमि प्राप्त कर वहाँ चैत्य बनवाया एवं उसमें पाश्वर्नाथ की प्रतिमा स्थापित कर

१. पाठक, विशुद्धानन्द—उत्तरभारत का राजनैतिकइतिहास, पृ० ५४२-५४३

२. वही, पृ० ५४६-५४७

दी और पूर्व निर्णयानुसार चैत्यालय का नामकरण श्रेष्ठी के नाम पर "कोकावसतिपार्श्वनाथचैत्यालय" रखा। चौलुक्यनरेश भीम के शासनकाल में मालवा के सुल्तान ने यहाँ चढ़ाई की, नगरी को नष्ट किया तथा इस चैत्यालय के पार्श्वनाथ की प्रतिमा को भी भग्न कर दिया। कालान्तर में सौवर्णिक नायग के वंशज श्रेष्ठी रामदेव आसधर ने चैत्यालय का पुनर्निर्माण कराया और वि० सं० १२६६ में श्री देवाणंदसूरि द्वारा पार्श्वनाथ की प्रतिमा स्थापित करायी। श्रेष्ठी रामदेव को तिहुणा और जाजा नामक दो पुत्र हुए। तिहुणा के पुत्र का नाम मल्ल था, उसके दो पुत्र—पहला देल्हण और दूसरा जैत्रसिंह प्रतिदिन पार्श्वनाथ की पूजा करते हैं। 'कोकावसतिपार्श्वनाथ' का यह चैत्यालय मलधारगच्छ से सम्बन्धित है।'

जिनप्रभसूरि ने हर्षपुरीयगच्छ के श्री अभयदेवसूरि के अणहिलपुर पत्तन जाने तथा वहाँ राजा द्वारा सम्मान एवं उपाश्रय प्राप्त करने का उल्लेख किया है। यही विवरण हमें राजशेखर कृत प्राकृतद्वयाश्रयवृत्ति (वि० सं० १३८७) में भी प्राप्त होता है,^१ परन्तु वहाँ राजा का नाम जयसिंह नहीं अपितु उसका पूर्ववर्ती कर्णदेव बतलाया गया है। मलधारी हेमचन्द्रसूरि के शिष्य विजयसिंहसूरि द्वारा रचित धर्मोपदेश-मालाविवरणवृत्ति (रचनाकाल सं० ११९१) के अनुसार जयसिंह सिद्धराज ने अभयदेवसूरि के उपदेश से प्रभावित होकर अपने राज्य-भर में श्रावण वदी अष्टमी और भाद्रपद सुदी चतुर्थी को पशुवध का निषेध कर दिया था।^२ इससे जयसिंह सिद्धराज पर अभयदेवसूरि

१. श्रीगूर्जेश्वरो दृष्ट्वा तीव्रं मलपरीपहं ।

श्री कर्णो बिरुदं यस्य मलधारी व्यधोपयत् ॥

—राजशेखरकृत प्राकृत द्वयाश्रयवृत्ति की प्रशस्ति

देसाई, मोहनलाल दलीचंद—जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० २२७ से उद्धृत

२. यस्योपदेशादखिलस्वदेशे सिद्धाधिपः श्री जयसिंहदेवः ।

एकादशीमुख्यदिनेष्वमारीमकारयच्छासनदानपूर्वाम् ॥ ८ ॥

धर्मोपदेशमालावृत्ति की प्रशस्ति

दलाल, सी० डी०—ए डिस्क्रिप्टिव कैटलॉग ऑफ मैन्युस्क्रिप्ट्स इन द जैन भंडारस एट पाटन, पृ० ३१२ ।

का स्पष्ट रूप से प्रभाव परिलक्षित होता है। इस आधार पर जिनप्रभ-सूरि का यह कथन कि “जयसिंह सिद्धराज ने अभयदेवसूरि का सम्मान किया था”, सत्य प्रतीत होता है। अभयदेवसूरि के पश्चात् उनके पट्ट पर उनके शिष्य मलधारी हेमचन्द्रसूरि प्रतिष्ठित हुए।^१ उनके द्वारा कोकावसति पार्श्वनाथ चैत्यालय का निर्माण कराया गया। इस सम्बन्ध में जिनप्रभ ने जिस घटनाक्रम का उल्लेख किया है, वह असम्भव नहीं लगता।

मालवा के सुल्तान द्वारा गुजरात पर चढ़ाई करने और भीम को पराजित कर अणहिलपुरपत्तन को लूटने एवं उस पर अधिकार करने का ग्रन्थकार ने उल्लेख तो किया है, परन्तु उस आक्रामक सुल्तान के नाम और उक्त घटना के समय के बारे में वे मौन हैं। वस्तुतः भीम ‘द्वितीय’ (ई० सन् ११७८-१२४१) के समय मालवा में कोई मुस्लिम शासक नहीं था, उस समय वहाँ परमारों का शासन था। यद्यपि परमार नरेश सुभटपाल (ई० सन् ११९४-१२०९) ने अणहिलवाड़ पर चढ़ाई कर उसे जीत लिया था, परन्तु शीघ्र ही उसे वहाँ से हटना पड़ा।^२ ऐसी स्थिति में उसके द्वारा वहीं तोड़फोड़ करने का प्रश्न ही नहीं उठता। एक हिन्दू राजा द्वारा शत्रुदेश में भी मन्दिरों के तोड़ने का कोई उदाहरण नहीं मिलता। अतः यह निश्चित है कि जिनप्रभ-सूरि द्वारा उल्लिखित आक्रमणकारी मालवा का नहीं अपितु दिल्ली का सुल्तान हो सकता है। वास्तव में दिल्ली के सुल्तान कुतुबुद्दीन ऐबक (ई० सन् १२०६-१२१०) ने ई० सन् ११९७ में गुजरात पर चढ़ाई की थी तथा चौलुक्य नरेश भीम ‘द्वितीय’ को पराजित कर उसकी राजधानी अणहिलवाड़ पर अधिकार कर लिया था। इस

१. “श्रीमदभयदेवसूरि-चरणाम्बुजञ्चरीकश्रीहेमचन्द्रसूरिविरचितमावश्यकवृत्ति-प्रदेशव्याख्यानं समाप्तमिति।”

—आवश्यक—टिप्पण

गांधी, लालचन्द भगवान्—ऐतिहासिकजैनलेखो, पृ० ५१, पादटिप्पणी-१

२. अस्मिन् राजनि राज्यं कुर्वाणे श्रीसोहडनामा मालवभूपति गुर्जरदेशविध्वंसनाय सीमामागतः ।

मुनि जिनविजय संपा० प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ९७

घटना का उल्लेख फरिस्ता आदि मुस्लिम इतिहासकारों^१ तथा जिनपाल कृत खरतरगच्छपट्टावली^२ एवं जयसिंहसूरि विरचित हम्मीरमदमर्दन^३ आदि भारतीय ग्रन्थों में हुआ है। विजयी होने के पश्चात् ऐबक ने अणहिलवाड़ को लूटा एवं मन्दिरों-चैत्यों को क्षति पहुँचाई। इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनप्रभसूरि ने भीम 'द्वितीय' के समय गुजरात पर आक्रमण करने वाले जिस मुस्लिम आक्रमणकारी का उल्लेख किया है वह कुतुबुद्दीन ऐबक ही था।

अणहिलवाड़ पर मुसलमानों का अधिकार अल्पकालिक सिद्ध हुआ, क्योंकि भीम 'द्वितीय' ने ई० सन् १२०१ तक पुनः वहाँ अपना अधिकार स्थापित कर लिया था। यह बात वि० सं० १२५८ ई० सन् १२०१ में लिखी गयी षडशीतिप्रकरणवृत्ति की प्रतिलेखन प्रशस्ति से ज्ञात होती है।^४ भीम 'द्वितीय' के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि उसने आबू सहित समस्त दक्षिण राजपुताने पर भी अपना प्रभाव पुनः स्थापित कर लिया था।^५ ऐसी परिस्थिति में जिनप्रभसूरि ने अणहिलवाड़ स्थित

१. इलियट और डाउसन—भारत का इतिहास (हिन्दी अनुवाद), द्वितीय खंड, पृ० १६६-१६७
२. "पत्तमभङ्गानन्तरं घाटीग्रामे चतुर्मासी कृता।"
मुनि जिनविजय—संपा० खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, पृ० ४४।
३. "सुगृहीतनामधेयानां मतिभिरतिशयेन दीप्यते सहजदीप्तोऽति प्रभुप्रतापः।
तथाहि स्वदेशसदेशमभिसरत्सु स्वेच्छया म्लेच्छराजसैन्येषु तातकारितया
प्रयाणकस्य भृशमदीर्घकारितया तया निरतिशयामाशामाशङ्का। च
प्रपञ्चयन्तः स्वयममिलन्नभी मरुदेशनरेशाः श्रीधीरधवलस्य।
दलाल, चिमनलाल डाह्याभाई—संपा० हम्मीरमदमर्दनम्
(बडोदरा-१९२० ई०) २/८, पृ० ११
४. संवत् १२५८ वर्षे पौष वदि ५ रवावद्येह श्रीमदणहिलपाटके (समस्त
राजा) वलीविराजित महाराजाधिराज श्रीभीमदेवराज्ये षडशीतिकवृत्तिः।
"षडशीतिप्रकरणवृत्ति "
- मुनि जिनविजय—संपा०—जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, पृ० ११३।
५. चौधरी, गुलाबचन्द—पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ नार्दन इंडिया फ्राम
जैन सोर्सेज, पृ० २९१-२९२
मजुमदार, ए० के०—चौलुक्याज ऑफ गुजरात, पृ० १४२-१४४
पाठक, विद्युद्धानन्द—उत्तरभारत का राजनैतिक इतिहास, पृ० ५४८

उक्त चैत्य को श्रेष्ठी रामदेव द्वारा पुनर्निर्मित कराने एवं मलधार-गच्छीय देवाणंदसूरि द्वारा वि० सं० १२६६/ई० सन् १२०९ में मूर्ति स्थापित करने का जो उल्लेख किया है, वह अविश्वसनीय नहीं लगता।

८. खेटक

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रह-कल्प” के अन्तर्गत खेटक का भी उल्लेख किया है और यहाँ महावीर स्वामी के मन्दिर होने की बात कही है।

वलभी के मैत्रकवंशीय शासकों के समय खेटक एक ‘आहार’ (जिला), “आहारविषय” और ‘नगर’ के रूप में प्रतिष्ठित रहा।^१ यहाँ से इस वंश के शासकों यथा धरसेन ‘द्वितीय’, रसेन ‘चतुर्थ’, शीलादित्य ‘तृतीय’, शीलादित्य ‘सप्तम’ आदि के ताम्रपत्र प्राप्त हुए हैं। परमार नरेश सोयक ‘द्वितीय’ (ई० सन् ९४५-९७२) के ई० सन् ९४९ के एक दानशासन में इस नगरी को ‘खेटकमण्डल’ नाम से उल्लिखित किया गया है। पद्मपुराण (२-१३३-१९) में एक दिव्य नगरी के रूप में इसका उल्लेख है।^२ दण्डीकृत दशकुमारचरित में वलभी, मधुमती और खेटक का साथ-साथ उल्लेख हुआ है।^३ सिद्धसेनसूरि द्वारा रचित सकलतीर्थस्तोत्र (ई० सन् १०६७) में जैन तीर्थ के रूप में इस स्थान का उल्लेख किया गया है।^४ जैन प्रबन्ध ग्रन्थों में भी इस नगरी का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रबन्धचिंतामणि के ‘मल्लवादिप्रबन्ध’ में देवादित्य नामक एक ब्राह्मण की बाल-विधवा

१. परीख और शास्त्री—गुजरातनी राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास भाग १, पृ० ३८२।

२. वही, पृ० ३८२।

३. गोडवोले और शर्मा—संपा० दशकुमारचरित (बम्बई १९३६ ई०) उच्छवास ६, “निम्बवतीकथा”, पृ० २२७-२८

४. दलाल, सी० डी०—डिस्कृप्टिव कैंटलॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भण्डार्स ऐट पाटन—पृ० १५६।

कन्या सुभगा के सम्बन्ध में इस स्थान का उल्लेख है।^१ पुरातनप्रबंध-संग्रह में भी इसी संदर्भ में खेटक का उल्लेख है। प्रभावकचरित के 'बप्पभट्टिसूरिचरित' के अनुसार नन्नसूरि और गोविन्दसूरि 'खेटका-धारमण्डल' में निवास करते थे।^२ प्रबंधकोश में भी यही बात कही गयी है।

उपरोक्त विवरणों में कहीं भी यह उल्लेख नहीं मिलता कि खेटक-मंडल में महावीर स्वामी का कोई जिनालय था। सिद्धसेनसूरि ने सकलोतीर्थस्तोत्र में यद्यपि इस स्थान का उल्लेख जैन तीर्थों के साथ किया है, परन्तु यहाँ महावीर स्वामी के मन्दिर होने की बात नहीं कही गयी है। यहाँ कोई प्राचीन जैन मन्दिर भी विद्यमान नहीं है, तथापि जिनप्रभसूरि के उक्त मत को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। संभव है उनके समय में यहाँ महावीर स्वामी का कोई जिनालय रहा हो। खेटक को गुजरात राज्य में अवस्थित वर्तमान खेड़ा से समीकृत किया जाता है।^३ श्री भँवरलाल नाहटा ने युग-प्रधानाचार्यगुर्वावली के विभिन्न उल्लेखों के आधार पर राजस्थान प्रान्त में नाकोड़ाजी तीर्थ के निकट स्थित लवणखेट को कल्पप्रदीप में उल्लिखित खेड़ा से समीकृत करने पर बल दिया है।^४

१. अथ खेडमहास्थाने देवादित्यविप्रपुत्री बालकालविधवा अतिरूपपात्रं ।
“मल्लवादिप्रबन्ध” (प्रकीर्णक), प्रबन्धचिन्तामणि पृ० १०६; प्रबन्ध-
कोश के “मल्लवादिप्रबन्ध” पृ० २१ में भी यही कथा दी गयी है।

२. अस्मदीयगुरोः शिष्योः खेटकाधारमंडले । विद्येते नन्नसूरिः श्रीगोविन्दसूरि
रित्यपि ॥ ४८२ ॥

“बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध” प्रभावकचरित, पृ० ९९ ।

३. डे, नन्डोलाल — ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ एन्शेन्ट एण्ड मिडुवल
इंडिया, पृ० १०० ।

४. नाहटा, भँवरलाल—“कल्पप्रदीप में उल्लिखित खेड़ा गुजरात का नहीं
राजस्थान का है” श्रमण-वर्ष ४०, अंक ११, पृ० २५-२८ ।

९. खङ्गारगढ़

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत खंगार-गढ़ भी उल्लेख है और यहाँ आदिनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है। रवंतगिरिकल्प^१ के अन्तर्गत भी खङ्गारगढ़ का उल्लेख हुआ है, वहाँ इसके दो अन्य नामों उग्रसेनगढ़ और जीर्णदुर्ग की भी चर्चा है। खङ्गारगढ़ स्थित आदिनाथ जिनालय का सर्वप्रथम उल्लेख वि०सं० १२८९/ई० सन् १२३२ के लगभग नागेन्द्रगच्छीय विजयसिंहसूरि द्वारा रचित रवंतगिरिसु^२ में प्राप्त होता है। प्रबन्धकोश^३ में भी खङ्गार-गढ़ स्थित जिनालय का उल्लेख है और वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा यहाँ दर्शनार्थ पधारने की बात कही गयी है। मुस्लिम शासनकाल में अनेक जिनालय मस्जिदों के रूप में परिवर्तित कर दिये गये। यहाँ (खङ्गार-गढ़) स्थित आदिनाथ का उक्त जिनालय भी महमूद बेगड़ा (ई० सन् १४६७-७२) के शासनकाल में मस्जिद के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। उक्त मस्जिद के खम्भों आदि की बनावट से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह पहले एक जिनालय था।^४ हाल के वर्षों में जूना-गड़ म्यूजियम के लिए पाश्वर्नाथ की दो पाषाण प्रतिमायें प्राप्त की

१. कल्पप्रदीप के अन्तर्गत

२. तहि नयरह पुरवदिसिहि, उग्गसेण गढदुग्गु ।

आदिजिणसरपमुहजिणिमंदिरि भरिउ समग्गु ॥ ११ ॥

मुनि पुण्यविजय—संपा० सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादिवस्तुपालचरितसंग्रह,
पृ० ९९

३. अथ खङ्गारदुर्गादि देवपत्तनादिषु देवान् ववन्दे । तेजःपालं खङ्गारदुर्गे
स्थापयित्वा स्वयं ससङ्घों वस्तुपालः श्रीधवलक्कके श्रीवीरधवलमगमत् ।
.....

तेजपालस्तु खङ्गारदुर्गस्थो भूमि विलोक्य तेजलपुरमण्डयत् सत्रारामपुर-
प्रपाजिनगृहादिरम्यम् । प्राकारश्च तेजलपुरं परितः कारितः पाषाणवद्ध-
स्तुङ्गः ।

“वस्तुपालप्रबन्ध” प्रबन्धकोश, पृ० ११७

४. शास्त्री, हरिशंकर प्रभाशंकर—“जूनागढ़ म्यूजियमना केटलाक अप्रकाशित
शिलालेखो” स्वाध्याय, वर्ष १, अंक ४, पृ० ४२९-३१

गयीं, सौभाग्यवश ये अभिलेखयुक्त हैं और इन पर वि० सं० १३४३ के लेख उत्कीर्ण हैं। इन लेखों से ज्ञात होता है कि ये प्रतिमायें खड्गारगढ़ स्थित आदिनाथ जिनालय में मूलनायक के बगल में कुलिका के अन्तर्गत स्थापित की गयी थीं।^१

यहाँ स्थित आदिनाथ का वर्तमान शिखरबन्द जिनालय वि० सं० १९०१ में निर्मित कराया गया है। इसमें ८ पाषाण की तथा ६ धातु की प्रतिमायें हैं। एक प्रतिमा पर वि० सं० १८९३ का लेख भी उत्कीर्ण है। यहाँ एक प्राचीन ग्रंथ भंडार भी सुरक्षित है।^२

१०. तारण (तारङ्गा)

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत तारण (वर्तमान तारङ्गा) का भी उल्लेख है और यहाँ जिन अजितनाथ के मन्दिर होने की बात कही गयी है।

गुजरात प्रान्त में पर्वत पर स्थित तीर्थों में तारङ्गा का भी विशिष्ट महत्त्व है। यह तीर्थ श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों द्वारा मान्य है, यहाँ इनके अलग-अलग जिनालय भी हैं। जैन प्रबंधग्रन्थों तथा तीर्थमालाओं में इसके कई नाम मिलते हैं यथा तारणगिरि, तारावरनगर, तारापुर (ताराउर) आदि।^३ कुमारपालप्रतिबोध (ग्रन्थकार—सोमप्रभाचार्य, रचनाकाल—वि० सं० १२४१) के अनुसार यहाँ बौद्ध धर्मावलम्बी नरेश वत्सराज ने तारादेवी का मंदिर बनवाया, जिससे यह स्थान तारापुर के नाम से विख्यात हुआ। आर्यखण्डाचार्य के उपदेश से उक्त राजा ने जैन धर्म स्वीकार कर लिया और वहाँ जैन देवी सिद्धायिका का मंदिर बनवाया।^४ प्रभावकरित के अनुसार चौलुक्यनरेश कुमारपाल ने चाहमान नरेश अर्णोराज पर अभियान के पश्चात् तारणगिरि पर २४ गज ऊँचा जिनालय बनवाया और उसमें १०१ इंच प्रमाणवाली भगवान् अजितनाथ की प्रतिमा

१. शास्त्री, हरिशंकर प्रभाशंकर—पूर्वोक्त पृ० ४२९-३१।

२. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, तीर्थसूची, क्रमाङ्क १७७०

३. वही, पृ० १४६-७;

जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १४६।

४. कुमारपालप्रतिबोध (गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज नं० १४, ई० सन् १९२०) “आर्यखण्डाचार्यकथा”, पृ० ४४३।

प्रतिष्ठित करायी।^१ यह कार्य वि०सं० १२२२/ई० सन् ११६५ में सम्पन्न कराया गया।^२

पुरातनप्रबन्धसंग्रह के अनुसार गद्दी पर बैठने के पश्चात् अजयपाल ने कुमारपाल द्वारा निर्मित जिनालयों को ध्वस्त कराना प्रारम्भ कर दिया। एक के बाद एक मन्दिर तोड़े जाने लगे। जब तारङ्गा के मन्दिर को तोड़ने का क्रम आया तब आम्मड़ नामक एक मुख्य श्रेष्ठी ने जैन संघ को एकत्र किया और अजयपाल के सम्मुख जाकर उससे जिनालयों की रक्षा करने की प्रार्थना की। शीलनाग नामक एक अधिकारी ने भी जैनों की सहायता की तथा युक्तिपूर्वक तारङ्गा के मन्दिरों को ध्वस्त होने से बचाया।^३ **प्रबन्धचिन्तामणि** में भी इस जिनालय की युक्तिपूर्वक रक्षा करने का उल्लेख मिलता है।^४ इस जिनालय के सिंहद्वार के पास एक विशाल अग्रमंडप को वस्तुपाल द्वारा वि० सं० १२८५ में निर्मित कराया गया, इस आशय का लेख यहाँ विद्यमान है।^५ आबू स्थित लूणवसही के वि० सं० १२९६ के लेख

१. प्रभावकचरित 'हेमचन्द्रसूरिचरितम्', पृ० २०७।
२. बर्जेस एण्ड कजिन्स-आर्किटेक्चरल टेम्पुल्स ऑफ नार्दन गुजरात, पृ० ११४
३. पुरातनप्रबन्धसंग्रह—'अजयपालप्रबन्ध', पृ० ४७।
४. प्रबन्धचिन्तामणि—'कुमारपालादिप्रबन्ध', पृ० ९६।
५. स्वस्ति श्रीविक्रमसंवत् १२८५ वर्षे फाल्गुन शुदि २ रवौ। श्रीमदणहिलपुर-जास्तव्य प्राग्वाटान्वयप्रभूत ठ० चंडपात्मज ठ० श्रीचंद्रप्रसादांगज ठ० श्रीसोमतनुज ठ० श्रीआशाराजनन्दनेन ठ० कु (*) मारदेवी कुक्षिसंभूतेन ठ० श्रीलूणिग महं० श्रीमालदेवयोरनुजेन महं श्रीसेजःपालाग्रजन्मना महामात्यश्रीवस्तुपालेन आत्मनः पुण्याभिवृद्धये इह श्रीतारंगकपर्वते श्रीअजितस्वामिदेवचैत्ये श्रीआदिनाथदेवजिनविबालकृतं खतकमिदं कारितं। प्रतिष्ठितं श्रीनागेन्द्रगच्छे भट्टारकश्रीविजयसेनसूरिभिः।।

तारणदुर्गस्थशिलालेखः—

मुनिपुण्यविजय—संपा०—मुकुतकीर्तिकल्लोलिन्यादिवस्तुपालचरित-संग्रह, पृ० ७५

में भी यहाँ के अजितनाथ जिनालय की चर्चा है।^१

ईडर के गोविन्द नामक एक प्रसिद्ध श्रेष्ठी ने वि० सं० १४७९ में इस जिनालयका जीर्णोद्धार कराया तथा उसमें सोमसुन्दरसूरिके हाथों अजितनाथ की नवीन प्रतिमा प्रतिष्ठित करायी।^२ जिनालय के गर्भ-गृह में अजितनाथ की मूर्ति पर निम्नलिखित लेख विद्यमान है^३—

“.....सं० गोविन्देन भार्याजाय स्वकुटुंबयुतेन श्रेयोर्थ.....
सूरिभिः ॥ आचंद्रार्कजीयात्..... ।”

इस प्रतिमालेख की सूचना का समर्थन फार्बिस गुजराती सभा में संरक्षित एक हस्तलिखित पोथी (पु० सं० नामावली, पृष्ठ ३३४) से भी होता है। पोथी के अनुसार—“सं० १४७९ श्री ज.....पं० (सं०) गोइंदेन भार्याजायलदे.....प्रमुख कुटुंबयुतेन श्रेया(यो)र्थे.....
.....सूरिभिः ।”^४

अर्थात् सं० १४७९ में संघवी गोविन्द ने अपनी पत्नी जायलदे आदि कुटुम्बियों के साथ कल्याण हेतु अजितनाथ की मूर्ति की प्रतिष्ठा (श्री सोमसुन्दर) सूरि के हाथों से करायी।

यही उल्लेख प्रतिष्ठासोम ने सं० १५५४ में रचित सोमसौभाग्य-काव्य के सातवें सर्ग में विस्तृत विवरण के साथ किया है।^५

सं० १६४२ आषाढ सुदी १० को श्री विजयसेनसूरि ने इस तीर्थ का जीर्णोद्धार कराया। यह बात यहाँ जिनालय के दक्षिणी द्वार पर उत्कीर्ण शिलालेख से ज्ञात होती है।^६ उसी समय यहाँ बाजुओं पर

१. श्रीतारणगढे श्रीअजितनाथगृहमंडपे श्रीआदिनाथ विंबं खत्तकं च ।

“अर्बुदाचलस्थित प्रशस्ति लेख, पंक्ति १५-१६

मुनि पुण्यविजय—पूर्वोक्त, पृ० ६८

२. देसाई, मोहनलाल दलीचंद—जैनसाहित्यनो संक्षिप्तइतिहास, पृ० ४५३

३. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, भाग १, खंड १, पृ० १४९

४. देसाई, पूर्वोक्त, पृ० ४५४, पादटिप्पणी

५. शाह, अम्बालाल पी०—पूर्वोक्त, पृ० १४९ ।

६. इपिग्राफिया इंडिका—जिल्द २, पृ० ३३ ।

दो अन्य प्रतिमायें भी किसी अन्य स्थान से लाकर स्थापित की गयीं। इन पर वि० सं० १३०४ और वि० सं० १३०५ के लेख उत्कीर्ण हैं। ये मूर्तियाँ अजितनाथ की हैं।^१ कायोत्सर्ग मुद्रा में स्थित दो अन्य प्रतिमायें भी जो वि० सं० १३५४ के लेख से युक्त हैं, किसी अन्य स्थान से लाकर यहाँ रखी गयी हैं।^२

दिगम्बर परम्परा में भी इस तीर्थ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। दिगम्बर मान्यतानुसार तारापुरनगर के निकट वरदत्त, वराङ्ग तथा सागरदत्त और साढ़े तीन करोड़ मुनियों ने यहाँ से मुक्ति प्राप्त की।^३ आज यहाँ दिगम्बरों के दो मंदिर हैं, एक मंदिर वि० सं० १५११ का है और दूसरा वि० सं० १९२३ का है। वहाँ इससे पहले का दिगम्बरों का कोई अवशेष आज विद्यमान नहीं है।^४

कुमारपाल द्वारा यहाँ निर्मित—अजितनाथ का विशाल जिनालय आज श्वेताम्बरों के स्वामित्व में है। इसका समय-समय पर जीर्णोद्धार कराया गया है। यह बात उक्त विवरणों से स्पष्ट होती है। तारङ्गा उत्तर गुजरात के मेहसाणा जिले में अवस्थित है।

१. शाह, अम्बालाल पी०—पूर्वोक्त, १४९।

२. वही, पृ० १४९।

३. वरदत्तो य वरंगो सायरदत्तो य तारवरणयरे।

आहुदुयकोडीओ णिवाणगया णमो तेसि ॥ ४ ॥

निर्वाणकाण्ड (रचनाकाल ई० सन् १२-१३वीं शती)

जोहरापुरकर, विद्याधर—संपा० तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० ३६, १४६

ताराउरि बंदउँ मुणि वरंगु। आहुदु कोडि किउ तिद्धिसंगु ॥ १० ॥

तीर्थवन्दना, रचनाकार—उदयकीर्ति—ई० सन् १२ वीं १३ शती

जोहरापुरकर—पूर्वोक्त, पृ० ४०, १४६

तारापुर वरदत्त आदि अउठ कोडि मुनि गयाए ॥ ६ ॥

तीर्थवन्दना, रचनाकार—मेघराज—ई० १६वीं शती

जोहरापुरकर, पूर्वोक्त, पृ० ५२, १४६

४. प्रेमी, नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, पृ० १९१

११. द्वारका

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत द्वारका का भी उल्लेख है और यहाँ पाताललिङ्ग नेमिनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है।

द्वारका सौराष्ट्र जनपद की राजधानी और वैष्णव धर्म के एक प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित रही है।^१ इस नगरी का एक नाम “कुशस्थली” भी था।^२ प्राचीन जैन साहित्य में इस स्थान का उल्लेख तो है,^३ परन्तु उसे जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित नहीं किया गया है। मध्ययुग के प्रारम्भ में कुछ जैन ग्रन्थकारों ने इसे जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित किया है। जिनहर्षगणि द्वारा रचित वस्तुपालचरित (रचना काल वि०सं० १४४१) में वस्तुपाल द्वारा यहाँ एक जिनालय निर्मित कराने का उल्लेख है।^४ इस सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिये कि वस्तुपाल के समकालीन किसी भी जैन ग्रन्थकार ने इस बात का उल्लेख नहीं किया है। वर्तमान युग में कुछ श्रद्धालु जैनों की मान्यता है कि यहाँ स्थित द्वारकाधीश का मंदिर वस्तुपाल द्वारा निर्मित जिनालय ही है, जिसे ब्राह्मणीय धर्मावलम्बियों ने अपने अधिकार में ले लिया है।^५ परन्तु इस देवालय के निर्माणशैली से स्पष्ट होता है कि इसके मूल प्रासाद का कुछ भाग तो जयसिंह सिद्धराज के समय निर्मित हुआ है और उनपर वैष्णव शिल्पकला के स्पष्ट चिह्न विद्यमान हैं।^६ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि जैनों की उक्त धारणा अत्यन्त भ्रामक है और ब्राह्मणों की ओर से उनपर आरोप

१. लाहा, विमलाचरण—हिस्टोरिकल ज्योग्राफी ऑफ़ ऐशियेंट इंडिया (हिन्दी अनुवाद), पृ० ४७० ।
२. वही, पृ० ४७१ ।
३. जैन, जगदीशचन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ४९ ।
४. उपद्वारवतीभूमिगोमतीवाहिसङ्गमे श्रीनेमिचैत्यमुत्तुङ्ग, निर्ममेमन्त्रि-पुङ्गवः । वस्तुपालचरित, ६।७४६, पृ० १०२ ।
५. शाह, अम्बालाल पी.—जैनतीर्थ सर्वसंग्रह, खंड १, भाग १, पृ० १२९
६. ढाकी, एम. ए. तथा शास्त्री, हरिशंकर—“वस्तुपाल तेजपालनी कीर्ति-नात्मक प्रवृत्तियो” स्वाध्याय, जिल्द ४, अंक ३, पृ० ३०५-३२०

लगाया जाता है कि प्रायः सभी ब्राह्मणीय तीर्थों को जैनी अपना तीर्थ बतलाते हैं। यह आरोप सत्य है, क्योंकि वर्तमान द्वारकाधीश के मंदिर में आज कोई भी जैन प्रभाव विद्यमान नहीं है।^१ फिर भी मध्ययुगीन जैनाचार्यों के विवरणों को पूर्णतः अस्वीकार नहीं किया जा सकता और यह माना जा सकता है कि मध्ययुग में यहाँ भी कुछ जिनालयों का निर्माण कराया गया होगा। यहाँ उत्खनन से कुछ जैन पुरावशेष भी प्राप्त हुए हैं^२ जिनसे उक्त मान्यता की पुष्टि होती है। वर्तमान में यहाँ कोई भी जिनालय विद्यमान नहीं है।

१२. नगरमहास्थान

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत “नगरमहास्थान” का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ आदिनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है।

नगरमहास्थान आज बड़नगर के नाम से प्रसिद्ध है। प्राचीन काल में इसका नाम आनन्दपुर था, पर बाद में इसके नगर, वृद्धनगर, वड़नगर आदि नाम प्रचलित हुए।^३ जैन परम्परा में आनन्दपुर का विशेष महत्त्व है। जैन परम्परानुसार मैत्रकवंशीय राजा ध्रुवसेन ‘प्रथम’ के पुत्र का आनन्दपुर में देहावसान हो गया, उस समय भद्रबाहु ‘द्वितीय’ ने राजा के पुत्रशोक को दूर करने के लिये सार्वजनिक रूप से प्रथम बार कल्पसूत्र की वाचना की। यह वाचना वीरनिर्वाण के ९८० वर्ष पश्चात् हुई।^४

मैत्रकवंशीय शासकों के दानपत्रों में इस नगरी का नाम आनन्दपुर

१. ढाकी, एम०ए० तथा शास्त्री, हरिशंकर—पूर्वोक्त, पृ० ३०५-३२०।

२. यह सूचना प्रो० एम. ए. ढाकी से व्यक्तिगत रूप से प्राप्त हुई है, जिसके लिये लेखक उनका आभारी है।

३. आचार्य, गिरजाशंकर वल्लभजी—संपा० गुजरातना ऐतिहासिक लेखों लेखाङ्क १४३, पृ० २६; लेखाङ्क १४७, पृ० ४३।

४. सांडेसरा, भोगीलाल जयसिंह—जैनआगम साहित्यमां गुजरात, पृ० १८, ४२

उल्लिखित है। इन दानपत्रों में आनन्दपुर वास्तव्य ब्राह्मणों को दान दिये जाने का उल्लेख है।^१ ये ब्राह्मण यहाँ के नागर ब्राह्मणों के पूर्वज थे। इस नगरी में दीर्घ काल से ही ब्राह्मणों के निवास की परम्परा रही है।^२ आयुर्वेद के भाष्यकार “उव्वट” इसी नगरी के निवासी थे।^३ स्कन्दपुराण के ‘नागरखण्ड’ में एक स्थान पर इस नगरी का नाम आनन्दपुर तथा एक अन्य स्थान पर नगर उल्लिखित है।^४ बन्धणी सोरठ से प्राप्त वि०सं० १३४६ई० सन् १२९० के एक अभिलेख में इस नगरी का एक अन्य नाम चमत्कारपुर उल्लिखित है।^५ परन्तु इसका अधिक प्रचलित नाम आनन्दपुर था तथा परवर्तीकाल में नगर, वृद्ध-नगर और वड़नगर आदि नाम प्रचलित हुए।^६

वड़नगर ब्राह्मणों तथा जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। नागर ब्राह्मणों का मूल स्थान यहीं है, यहीं उनका प्रसिद्ध हाटकेश्वर तीर्थ स्थित है।^७

सिद्धसेनसूरि ने अपने सकलतीर्थस्तोत्र^८ में इस तीर्थ का उल्लेख किया है। यहाँ एक प्राचीन जिनालय विद्यमान है, जो आदिनाथ को

१. आचार्य, गिरजाशंकर वल्लभजी—पूर्वोक्त, लेखाङ्क ७६, पृ० २०१
२. परीख और शास्त्री—संपा० गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास भाग १, पृ० ३७०
३. दवे, कन्हैयालाल भाईशंकर—“गुजरातना संस्कृत साहित्यकारो” जर्नल ऑफ द गुजरात रिसर्च सोसाइटी, जिल्द १, खंड १, पृ० ६
पादटिप्पणी—२
४. स्कन्दपुराण ६-११४-७८
५. आचार्य, गिरजाशंकर वल्लभजी—पूर्वोक्त, लेखाङ्क २२२ (अ) पृ० २१४
६. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, भाग १, पृ० ३७०
७. वही
८. थाराउद्दय—वायड—जालीहर—नगर—खेड—मोडेरे।
अणहिल्लवाडनयरे व(च)ड्डावल्लीय बंभाणे ॥ २७ ॥
दलाल, सी० डी० संपा० पत्तनस्थप्राच्यजैनभाण्डागारीयग्रन्थसूची,
पृ० १५६

समर्पित है। यह संभवतः वही जिनालय है जिसका जिनप्रभसूरि ने उल्लेख किया है। इस जिनालय का निचला हिस्सा १०वीं शती के अन्तिम चरण में निर्मित हुआ है। तेजपाल ने इस जिनालय के मूल वेदी-बन्द भाग को यथावत् रखते हुए गूढमण्डप आदि का जीर्णोद्धार कराया, जैसा कि प्रो० ढाकी का कहना है।^१ परन्तु कान्तीलाल एफ० सोमपुरा ने उक्त मत से अपनी असहमति व्यक्त की है और कहा कि 'इस जिनालय में वि०सं० १२३४|ई० सन् ११७८ का एक शिलालेख विद्यमान है, जो इस जिनालय के जीर्णोद्धार का उल्लेख करता है। चूँकि यह तिथि तेजपाल के बहुत पहले की है, अतः तेजपाल को इसके पुनर्निर्माण का श्रेय देना उचित नहीं है।^२ ई० सन् की १७ वीं-१८ वीं शती में इस जिनालय का पुनः जीर्णोद्धार कराया गया।^३ इस जिनालय की दो धातु प्रतिमायें अभिलेख युक्त हैं। ये लेख वि०सं० १४२९ तथा वि०सं० १५२७ के हैं।^४ इसके अलावा यहाँ ५ अन्य जिनालय भी विद्यमान हैं, जिनमें महावीर स्वामी का जिनालय सर्वोत्कृष्ट है। इस जिनालय में ५२ देवकुलियें बनी हैं, जिनमें नागर वणिकों द्वारा स्थापित महावीर स्वामी की प्रतिमायें विद्यमान हैं।^५ यह स्थान गुजरात प्रान्त के मेहसाणा जिले में अवस्थित है।^६

१३. पाटलानगर

कल्पप्रदीप के 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प' के अन्तर्गत

१. ढाकी, मधुसूदन तथा शास्त्री, हरिशंकर—“वस्तुपाल तेजपालनी कीर्तिनात्मक प्रवृत्तियो” स्वाध्याय, जिल्द ४, अंक ३, पृ० ३१७।
२. सोमपुरा, के० एफ०—द स्ट्रक्चरल टेम्पुल्स ऑफ गुजरात, पृ० १५०, १५१ पादटिप्पणी १४५।१।
३. ढाकी और शास्त्री—उपरोक्त, पृ० ३१७।
४. सूरि, विजयधर्म—संगा० प्राचीनलेखसंग्रह—भाग १, लेखाङ्क ८० तथा ४०६।
५. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, भाग १, पृ० ६४।
६. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, पृ० ३७१।

पाटलानगर का भी उल्लेख है और यहाँ नेमिनाथ के मन्दिर होने की बात कही गयी है।

पाटलानगर को प्रसिद्ध जैन तीर्थ शंखेश्वर से साढ़े चार मोल दूर स्थित 'पाटलाग्राम' नामक स्थान से समीकृत किया जाता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्ययुग के प्रारम्भ में किसी समय यहाँ नेमिनाथ का मंदिर निर्मित कराया गया, उसी समय से यह स्थान तीर्थरूप में प्रसिद्ध हुआ। प्रभावकचरित के अन्तर्गत 'बप्पभट्टिसूरिचरित' में इस स्थान का उल्लेख है।^१ वि०सं० १३७१ में शत्रुञ्जय की यात्रा से लौटते हुए समराशाह यहाँ आये थे।^२ जिनकुशलसूरि ने भी संघ के साथ यहाँ की यात्रा की थी।^३ वि० सं० १३७८ में जिनप्रभसूरि द्वारा रचित तीर्थयात्रास्तोत्र में भी इस तीर्थ की चर्चा है।^४ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि तेरहवीं-चौदहवीं शती में यह स्थान जैन तीर्थ के रूप में भली-भाँति प्रतिष्ठित रहा। बाद के समय में इस तीर्थ के बारे में कोई विवरण प्राप्त नहीं होता। संभवतः व्यापारिक कारणों से यहाँ के जैन श्रावक अन्य स्थानों पर चले गये और यह स्थान अपने पूर्व वैभव से च्युत हो गया। यहाँ के जिनालयों की प्रतिमायें भी अन्य

१. अस्ति स्वस्तिनिधिः श्रीमान् देशो गूर्जरसंज्ञया ।

अनुत्सेकविवेकाद्यलोकः शोकाचलस्वरः ॥ ४ ॥

यदेकांश प्रतिच्छन्दस्वरभ्रमुकुरस्थितम् ।

गौरीशमुनिबाहुल्यात् तत्पुरं पाटलाभिधम्

प्रभावकचरित संपा० मुनि जिनविजय, पृ० ८०

२. त्रयोदशशतैरेकसप्तत्याऽभ्यधिकैर्गैतैः ।

फाल्गुनेमासि पञ्चम्यां शुक्लायामभवत् पदम् । ५।२३७

... ..

देसलो गुरुभिः सार्धमगमत् पाटलापुरे ।

नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध ५।२४२

३. ततः पाटलाग्रामे श्रीनेमिनाथतीर्थं चिरकालीनं नमस्कृत्य ।

खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली—संपा० मुनि जिनविजय, पृ० ६३

४. पाडलनयरे नेमिं नमिमो तारणगिरिमि अजियजिणं ।

विधिमार्गप्रपा—संपा० मुनि जिनविजय, परिशिष्ट के अन्तर्गत प्रकाशित

स्थानों पर स्थानान्तरित कर दी गयीं। आज यहाँ कोई भी जिनालय विद्यमान नहीं है।^१

१४. प्रभासपाटन

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” में प्रभास का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ भगवान् चन्द्रप्रभ के जिनालय होने की बात कही गयी है।

प्रभास आज ब्राह्मणीय धर्म के केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित है, परन्तु मध्ययुग में यह जैनों का एक प्रसिद्ध केन्द्र था। धनेश्वरसूरि द्वारा रचित शत्रुञ्जयमहात्म्य (रचनाकाल—वि० सं० १३७२/ई० सन् १३१५) में यहाँ स्थित चन्द्रप्रभ जिनालय का उल्लेख मिलता है।^२ जैन प्रबन्धग्रंथों^३ के अनुसार वलभीभंग के समय चन्द्रप्रभ स्वामी और अम्बिका तथा क्षेत्रपाल की प्रतिमायें देवपत्तन लायी गयीं। देवपत्तन ‘प्रभास’ का ही एक नाम है। इससे यह संकेत मिलता है कि उक्त प्रतिमाओं के स्थानान्तरण के पूर्व यहाँ जैन मंदिर विद्यमान थे।

११वीं से १३वीं शती तक यह स्थान दिगम्बरों के केन्द्र में रूप में भी प्रतिष्ठित रहा।^४ कुमारपाल द्वारा यहाँ पार्श्वनाथ चैत्यालय का निर्माण कराया गया। यह बात हेमचन्द्राचार्य द्वारा रचित प्राकृतद्वयाश्रयकाव्य^५ से ज्ञात होती है। जूनागढ़ संग्रहालय में संरक्षित भीम ‘द्वितीय’ (ई० सन् ११७८ से ई० सन् १२४१) के समय के एक खंडित अभिलेख के अनुसार प्रभास स्थित चन्द्रप्रभ स्वामी के चैत्य का भीम ‘द्वितीय’ के समय हेमसूरि द्वारा जीर्णोद्धार कराया गया।^६ इस अभि-

१. मुनिजयन्तविजय—शंखेश्वरमहातीर्थ, पृ० ८९, पादटिप्पणी
२. ढाकी, मधुसूदन तथा शास्त्री, प्रभासकर—“प्रभास पाटनना प्राचीन जैन मंदिरों” स्वाध्याय—जिल्द ३, अंक ३, पृ० ३२०-३४१
३. “वलभीभङ्गप्रबन्ध”—प्रबन्धचिन्तामणि, संपा० जिनविजय, पृ० १०८-९
“वलभीभङ्गप्रबन्ध”—पुरातनप्रबन्धसंग्रह, संपा० जिनविजय, पृ० ८३
४. ढाकी तथा शास्त्री—पूर्वोक्त
५. कथावत, ए० बी०—संपा प्राकृतद्वयाश्रयकाव्य, खंड २, पृ० ६३७
६. ढाकी और शास्त्री—पूर्वोक्त

लेख में संवत् भी दिया गया है—१२ (५) अर्थात् प्रथम दो अंक स्पष्ट हैं, तीसरा अंक (५) आधा नष्ट हो चुका है और चौथा अंक समाप्त हो चुका है ।^१

वस्तुपाल—तेजपाल द्वारा यहाँ भी जिनालयों का निर्माण कराया गया । 'मेरुतुंग' द्वारा रचित प्रबन्धचिन्तामणि^२ और 'जिनहर्षगणि' द्वारा रचित 'वस्तुपालचरित'^३ के अनुसार वस्तुपाल ने यहाँ अष्टापदप्रासाद का निर्माण कराया । यह निर्माण-कार्य वि० सं० १२८९/ई० सन् १२३२ के पश्चात् सम्पन्न हुआ माना जाता है ।^४ यही कारण है कि उक्त काल के पूर्व के रचित ग्रन्थों में, जिनमें वस्तुपाल-तेजपाल के सुकृत्यों का वर्णन है, इसकी कोई चर्चा नहीं मिलती, जैसे—सोमेश्वरकृत कीर्तिकौमुदी (रचनाकाल ई० सन् १२३१ के लगभग), उदयप्रभसूरि कृत धर्माभ्युदयमहाकाव्य—(ई० सन् १२२० के पूर्व), अरिसिंहकृति—सुकृत-संकीर्तन—(ई०सन् १२३० के पूर्व रचित) आदि । उक्त ग्रंथों में वस्तुपाल द्वारा प्रभासपाटन में निर्मित अष्टापदप्रासाद की कोई चर्चा नहीं मिलती । इसीप्रकार तेजपाल द्वारा यहाँ निर्मित आदिनाथ जिनालय की चर्चा भी वस्तुपालचरित में ही प्राप्त होती है ।^५

प्रभासपाटन में १३वीं शती में नेमिनाथ के मंदिर होने की भी सूचना मिलती है । यहाँ स्थित चन्द्रप्रभ जिनालय के भूगर्भ में एक भग्न पाषाण खंड पर वि०सं० १३४३/ई०सन् १२८७ का एक लेख उत्कीर्ण है । इस लेख के अनुसार मुनि सुव्रतस्वामी की सामलियाविहार और देव-

१. जोहरापुरकर, विद्याधर—जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेखाङ्क २८७
२. श्रीमत्पत्तने प्रभासक्षेत्रे चन्द्रप्रभं प्रभावनया प्रणिपत्य यथौचित्यादभ्यर्च्य च निजेऽष्टापदप्रासादेऽष्टापदकलशमारोप्य तत्रत्यदेयलोकाय दानं ददानः
... .. । "५९ वस्तुपालतेजपालप्रबन्ध"

प्रबन्धचिन्तामणि-संपा० शास्त्री, दुर्गाशंकर, पृ० १६४

३. तत्र चन्द्रप्रभस्वामिसदनस्यान्तिकेऽमुना ।
चतुर्विंशतितीर्थेशप्रासादोऽष्टापदः कृतः ॥
वस्तुपालचरित, प्रस्ताव ६, श्लोक ५३७
४. ढाकी और शास्त्री—पूर्वोक्त
५. वही ।

कुलिका श्री सोमेश्वरपत्तन स्थित नेमिनाथचैत्यालय में निर्मित करायी गयी।^१ इस जिनालय का निर्माता कौन था ? यह ज्ञात नहीं होता। उप-देशतरंगिणी के अनुसार वि०सं० १३२१/ई०सन् १२६४ में मांडवगढ़ के पथड़शाह ने इस महातीर्थ की यात्रा की और उसी समय देवपत्तन में एक जिनालय का निर्माण कराया।^२ शत्रुञ्जयप्रकाश के अनुसार मांडवगढ़ के पथड़शाह ने जैन तीर्थों में सुकृत्य कराये, इन जैन तीर्थों में सोमेश्वरपत्तन का भी उल्लेख है।^३ उक्त विवरणों से यह संभावना प्रकट की जा सकती है कि पथड़शाह ने देवपत्तन में ई० सन् १२६४ के लगभग नेमिनाथ चैत्यालय का निर्माण कराया होगा। इस प्रकार मुस्लिम आक्रमण के पूर्व यहाँ कुल ६ जिनालयों की उपस्थिति का पता चलता है, ये जिनालय हैं—

१—वलभी भंग (ई० सन् ७८८-७८९) के पश्चात् यहाँ से जिन प्रति-माओं का प्रभासपत्तन जाना और वहाँ उनकी चैत्यों में स्थापना।

२—दिगम्बरों द्वारा निर्मित चंद्रप्रभस्वामी का मंदिर, जिसका भीम 'द्वितीय' के समय वि०सं० १२ (५) में जीर्णोद्धार कराया गया।

३—कुमारपाल द्वारा निर्मित कुमारपालविहार—पार्श्वनाथ चैत्यालय।

४—वस्तुपाल द्वारा निर्मित अष्टापदप्रासाद।

५—तेजपाल द्वारा निर्मित आदिनाथजिनालय।

६—पथड़शाह द्वारा निर्मित नेमिनाथजिनालय।

मुस्लिम आक्रमणों से गुजरात के अधिकांश ब्राह्मणीय और जैन मंदिरों को क्षति पहुँची। अलाउद्दीन खिलजी के सेनापति उलगूखान द्वारा गुजरात पर ई० सन् १२९८ से ई० सन् १३०५ तक आक्रमणों का क्रम चलता रहा। उसने यहाँ के मंदिरों को नष्ट कर इनके स्थान पर मस्जिदों का निर्माण कराना प्रारम्भ कर दिया। प्रभासपाटन के भी प्रायः सभी मंदिर या तो समाप्त कर दिये गये अथवा उन्हें मस्जिदों के

१. ढाकी और शास्त्री—पूर्वोक्त।

२. वही।

३. वही।

रूप में परिवर्तित कर दिया गया। आज यहाँ स्थित निम्नलिखित मस्जिदों में जैन मंदिरों के अवशेष देखे जा सकते हैं। ये मस्जिद हैं—

१—जुमा मस्जिद, २—माइपुरी मस्जिद और ३—काजी की मस्जिद।^१

प्रभास की पहचान वर्तमान सोमनाथ से जाती है।

१५. मोढेरक (मोढेरा)

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत मोढेरक का भी उल्लेख है और यहाँ महावीर स्वामी के जिनालय होने की बात कही गयी है।

मोढेरक आज मोढेरा के नाम से प्रसिद्ध है। यहाँ चौलुक्य नरेश भीम 'प्रथम' द्वारा वि० सं १०८३ में निर्मित प्रसिद्ध सूर्य मन्दिर स्थित है, जो गुजरात के अत्यन्त सुन्दर मन्दिरों में से एक है।^२

साहित्यिक तथा अभिलेखीय साक्ष्यों में मोढेरा का उल्लेख प्राप्त होता है। सूत्रकृताङ्गचूर्णी^३ (ई० सन् ७वीं शती) तथा सूत्रकृताङ्गवृत्ति (शीलाङ्गाचार्य—ई० सन् ९वीं शती) एवं स्कन्दपुराण-धर्मरण्य खण्ड^४ (१३वीं-१४वीं शती ई० सन्) में इस स्थान का उल्लेख है। मूलराज 'प्रथम' के वि० सं० १०४३/ई० सन् ९८६ तथा भीम 'द्वितीय' के वि० सं० १२३५/ई० सन् ११७८ के दानशासनों में इस स्थान का एक ग्राम के रूप में उल्लेख हुआ है।^५

मोढेरा जैन तीर्थ के रूप में भी प्रतिष्ठित रहा है। सिद्धसेनसूरि द्वारा रचित सकलतीर्थस्तोत्र^६ (वि० सं० ११२३/ई० सन् १०६७)

१. ढाकी और शास्त्री-पूर्वोक्त
२. सोमपुरा, के० एफ०—द स्ट्रक्चरल टेम्पुल्स ऑफ गुजरात, पृ० १२०
३. सांडेसरा, भोगीलाल—जैन आगम साहित्यमां गुजरात, पृ० १४९।
४. जोशी, उमाशंकर—पुराणोंमां गुजरात, पृ० १६१।
५. परीख और शास्त्री—गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास भाग १, पृ० ३७२, भाग ४, पृ० ७४।
६. दलाल, सी० डी०—पत्तनस्थप्राच्यजैनभाण्डागारीयग्रन्थसूची, पृ० १५६।

में जैन तीर्थस्थानों की सूची में मोढेरा का भी उल्लेख है। प्रबन्ध ग्रन्थों में यहाँ स्थित महावीर स्वामी के मन्दिर की चर्चा है। प्रभावक-चरित^१ के “बप्पभट्टिसूरिचरितम्” के अन्तर्गत सिद्धसेनसूरि द्वारा मोढेरे के महावीर स्वामी को वन्दन करने तथा बप्पभट्टिसूरि के वहाँ दर्शनार्थ जाने का उल्लेख है। पुरातनप्रबन्धसंग्रह^२ के अनुसार “वलभी के नगर देवता द्वारा वर्धमानसूरि को निर्देश दिया गया कि साधुओं को जहाँ भिक्षा में प्राप्त क्षीर रक्त हो जाये और पुनः रक्त से क्षीर हो जाये, वहीं उन्हें ठहर जाना चाहिए; इस प्रकार वे मोढेरे में

१. मोढाख्यप्रौढगच्छश्रीविवोढानूढमूढतः ।

श्रीसिद्धसेन इत्यासीन्मुनीन्द्रस्तत्र विश्रुतः ॥८॥

विश्वविद्यावदातश्रीमान्यः क्षितिभृतामपि ।

मोढेरे श्रीमहावीरं प्रणन्तुं सोऽन्यदाययौ ॥९॥

.....

इतश्च श्रीसिद्धसेनसूरयो जरसा भृशम् ।

आक्रान्ताः कृतकृत्यत्वाद् सेच्छाः प्रायोपवेशने ॥२७४॥

बप्पभट्टे विधेयस्य विनेयस्य मुखाम्बुजम् ।

दिदृक्षवो मुनि प्रपुष्टं चान्द्वानहेतवे ॥२७५॥

.....

तं दृष्ट्वा बहुमानार्द्रो गुरो द्रागाजगाम च ।

राजपुंभिः समं मोढेरेके प्रभुपदान्तिके ॥२७७॥

प्रभोः स न्यासविन्यासं रुन्धन् प्रथमदर्शने ।

अतृप्तस्तस्य वात्सल्ये तेनासौ जल्पितः शमी ॥२७८॥

“बप्पभट्टिसूरिचरितम्” प्रभावकचरित, संपा० जिनविजय मुनि,

पृ० ८०-९१.

२. ततः पूर्वैवतया श्रीवर्धमानसूरीणां बहिर्भूमौ रोदनेन ज्ञापनम् ।

का त्वं सुन्दरि जल्प देविसदृशे किं कारणं रोदिषि,

भंगं श्रीवलभीपुरस्य भगवन् पश्याम्ययं प्रत्ययः ।

भिक्षायां रुधिरं भविष्यति पयो लब्धं भवत्साधुभिः

स्थातव्यं मुनिभिस्तदेव रुधिरं यस्मिन् पयो जायते ॥

***मोढेरेपुरे रुधिरं पतद्गृहे पयो जातम् ॥

“वलभीभङ्गप्रबन्ध” — पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ८३

ठहरे।^१ प्रबन्धकोश^१ के बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध^१ के अन्तर्गत बप्पभट्टि-सूरि के गुरुभ्राता गोविन्दाचार्य और नन्नसूरि के सम्बन्ध में इस नगरी की चर्चा है। कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के माता-पिता श्रीमोढ-वणिक कुल के थे, इनके कुल का यह नाम इसलिए पड़ा कि ये लोग मोढेर से आये थे।^२ वसन्तविलासमहाकाव्य (रचनाकाल वि० सं० १२९७/ई० सन् १२४०) के रचयिता श्री बालचन्द्रसूरि मोढ ब्राह्मण थे।^३ मन्त्रीश्वर वस्तुपाल की द्वितीय पत्नी मोढजातीय थीं।^४ जैन ग्रन्थों में यहाँ ब्रह्मशान्ति यक्ष के प्रभावक्षेत्र होने की बात कही गयी है।^५ मोढेर को गुजरात राज्य के मेहसाणा जिले के चाणस्मा ताल्लुक में स्थित मोढेरा नामक स्थान से समीकृत किया जाता है।^६

१६. रामसैन

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के 'चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प'

१. स्वस्ति श्रीमोढेरे परमगुरुश्रीनन्नसूरि-श्रीगोविन्दसूरिपादान् सगच्छान् गोपगिरिदुर्गात्।

“बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध” प्रबन्धकोश, पृ० ४५।

२. बुहलर, जार्ज-लाइफ ऑफ हेमचन्द्र, पृ० ६।

३. त्रिपुटी महाराज-जैनतीर्थोन्नो इतिहास, पृ० १७९।

४. वही, पृ० १७९।

५. (i) एह राहु (सु ?) विस्तारिहि जाए,

राषइ सयल संघ अंबाई।

राखइ जाखु जु आछइ खेडइ,

राखइ ब्रह्मसंति मूढेरइ।

आबूरास (रचनाकार-पालहणपुत्र, रचनाकाल वि०सं० १२७९/ई० सन् १२३२) मुनि पुण्यविजय द्वारा संपादित-सुकृतकीर्तिकल्योलिन्यादि-वस्तुपालप्रशस्तिसंग्रह, पृ० १०४-१०८ में प्रकाशित

(ii) मोढेरकपुरं ब्रह्मशान्तिस्थापितवीरजिनमहोत्सवाद्यं प्रापुस्ते।

“बप्पभट्टिसूरिप्रबन्ध” प्रबन्धकोश, पृ० ३४

६. परीख और शास्त्री-पूर्वोक्त, पृ० ३७२

के अन्तर्गत रामसैन का भी उल्लेख किया है और यहाँ महावीर स्वामी के मन्दिर होने की बात कही है।

रामसैन प्राचीनकाल में रामसैन्य के नाम से प्रसिद्ध था। यह स्थान गुजरात राज्य के बनासकांठा जिलान्तर्गत 'डीसा' नामक स्थान से २५ किमी० उत्तर-पश्चिम में स्थित है। यहाँ ग्राम के मध्य में ऋषभदेव का एक प्राचीन और भव्य जिनालय विद्यमान है। तपागच्छीय सोमसुन्दरसूरि के शिष्य मुनिसुन्दरसूरि ने स्वरचित गुर्वावलो (वि० सं० १४६७-६८ / ई० सन् १४१०-११) में ऋषभदेव के इस जिनालय का उल्लेख किया है और वि० सं० १०१० में इस जिनालय में चन्द्रप्रभ की प्रतिमा स्थापित किये जाने की बात कही है।^१ ग्राम से एक मील दूर धातु की एक प्रतिमा का परिकर प्राप्त हुआ है, जिस पर एक लेख भी उत्कीर्ण है। उस लेख से पता चलता है कि यहाँ के राजा रघुसेन ने वि० सं० १०८५ में ऋषभदेव की प्रतिमा बनवाकर इस जिनालय में स्थापित करायी।^२ यद्यपि जिनप्रभसूरि ने यहाँ महावीर स्वामी के जिनालय होने की बात कही है, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह जिनालय प्राचीनकाल से ही आदिनाथ को समर्पित रहा है और उसमें समय-समय पर विभिन्न तीर्थकरों की प्रतिमाएँ भी स्थापित की जाती रहीं। अठारहवीं शती के जैन ग्रन्थकार शीलविजय ने भी अपनी तीर्थमाला^३ (रचना-काल सं० १७४६) में इस तीर्थ का उल्लेख किया है।

वर्तमान में इस जिनालय में पाषाणनिर्मित ८ और धातुनिर्मित ६ प्रतिमायें हैं। इनमें से पार्श्वनाथ की एक प्रतिमा पर वि० सं० १२८९/ ई० सन् १२३२ का एक लेख भी उत्कीर्ण है।^४

१. नृपाद् दशाग्रे शरदां सहस्र १०१० यो रामसैन्याहपुरे चकार ।

नाभेयचैत्येऽष्टमतीर्थबिम्बप्रतिष्ठां विधिवत् सदर्थ्यः ॥ ५७ ॥

गुर्वावली, प्रका० यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी-वीर सं० २४३७

२. त्रिपुटी महाराज-जैन तीर्थोन्नो इतिहास (प्रका० श्रीचारित्रस्मारक

ग्रन्थमाला, अहमदाबाद, ई० सन् १९४९) पृ० २२६-२२७ ।

३. विजयधर्मसूरि—संपा० प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० १०५ ।

४. शाह, अम्बालाल पी०-जैनतीर्थसर्वसंग्रह, भाग १, खंड १, पृ० १११-११२

१७. वलभी

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत वलभी का भी जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख है और यहाँ भगवान् चन्द्रप्रभ के जिनालय होने की बात कही गयी है ।

वलभी पश्चिमी भारत की राजधानी और मैत्रकवंशीय राजाओं की राजधानी थी । उनके शासनकाल वि० सं० ५२७/ई० सन् ४७० से वि० सं० ८४०/ई० सन् ७८३ तक यह नगरी विद्या, धर्म और राजनीति तीनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण रही ।

वलभी का सर्वप्रथम उल्लेख पाणिनी ने किया है ।^१ कथासरित्सागर^२—(सोमदेवभट्ट—ई० सन् १०वीं शती) तथा दशकुमारचरित^३ (दण्डी—ई० सन् ७वीं शती) में भी इस नगरी का उल्लेख प्राप्त होता है ।^४ मैत्रकवंशीय राजाओं के समय इस नगरी का सर्वाङ्गीण विकास हुआ । इनके समय में यह नगरी बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रही । चीनी यात्रियों ने इस स्थान का उल्लेख किया है । ह्वेनसांग के अनुसार यह हीनयान सम्प्रदाय का केन्द्र था ।^५ इत्सिन (ई० सन् ६७१-६९५) ने इसे एक विद्याकेन्द्र के रूप में उल्लिखित करते हुए नालन्दा के समान ही महत्त्व दिया है ।^६

१. अष्टाध्यायी गणपाठ ४।२।८२ ।

२. अहं हि सार्थवाहस्य वलभीवासिनः सुतः ।

महाधनाभिधानस्य महेश्वरवरार्जितः ॥

कथासरित्सागर २।४।११६ ।

३. 'अस्ति सौराष्ट्रेषु वलभी नाम नगरी । तस्यां गृहगुप्तनाम्नो गुह्यकेन्द्रतुल्य-विभवस्य नाविकपतेर्दुहितां रत्नवती नाम ।

दशकुमारचरित संपा० नारायण बालकृष्ण गोडबोले, (बम्बई-शक सं० १८४४) षष्ठ उच्छ्वास, पृ० २२५ ।

४. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, पृ० ३५१

५. वाटर्स, थामस—आन ह्वेनसांग ट्रेवेल्स इन इंडिया, भाग २, पृ० १०९

६. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, पृ० ३५२ ।

जैन परम्परा में भी इस नगरी का बड़ा महत्त्व है। जैन मान्यतानुसार^१ यहाँ जैन आगमों की दो वाचनायें हुईं। प्रथम वाचना वीरनिर्वाण के ८२७ या ८४० वर्ष पश्चात् स्कन्दिलसूरि की अध्यक्षता में मथुरा में हुई, इसी वर्ष वलभी में भी नागार्जुन की अध्यक्षता में एक संगीति हुई। इस संगीति के पश्चात् नागार्जुन और स्कन्दिलसूरि परस्पर मिल न सके, जिससे दोनों वाचनाओं के पाठों में अन्तर बना रहा। वीर निर्वाण के ९८० अथवा ९९३ वर्ष पश्चात् वलभी में देवर्धिमणि क्षमाश्रमण ने आगमों की पुनः वाचना करायी और इन्हें लिपिबद्ध कराया^२। यह कार्य ध्रुवसेन 'प्रथम' के समय सम्पन्न हुआ। इसी वर्ष राजा के पुत्र का आनन्दपुर में निधन हो गया, उस समय राजा के शोक को दूर करने के लिये यहाँ सार्वजनिक रूप से प्रथम बार कल्पसूत्र की वाचना की गयी।^३ जैनों की उक्त मान्यता त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि ध्रुवसेन 'प्रथम' का समय ई० सन् ५२०-५५० माना जाता है^४ और जब कि यह संगीति वीरनिर्वाण संवत् ९८० या ९९३/ई० सन् ४५३ अथवा ४६६ में हुई थी, अतः ध्रुवसेन 'प्रथम' के समय वलभी की दूसरी संगीति होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित विशेषावश्यकभाष्य की वि० सं० ६६६ में लिखी गयी प्रतिलिपि को यहाँ के एक जिनालय में समर्पित किया गया।^५ इससे यह स्पष्ट है कि उस समय यहाँ पर जिनालय विद्यमान थे, परन्तु आज यहाँ कोई प्राचीन जिनालय विद्यमान नहीं हैं। जैन प्रबन्ध-ग्रन्थों में मल्लवादिसूरि का कथानक प्राप्त होता है,^६ विवरणा-

१. मुनि कल्याणविजय-वीरनिर्वाण सम्वत् और जैन कालगणना, पृ० ११० और आगे।
२. वही, पृ० ११२-११३।
३. परीख और शात्री—पूर्वोक्त, भाग ३, पृ० २६० पादटिप्पणी संख्या २१।
४. वही, पृ० ३९।
५. मालवणिया, दलसुखभाई डाह्याभाई—गणधरवाद, प्रस्तावना, पृ० २७-३३।
६. "मल्लवादिसूरिचरितम्"—प्रभावकचरित, संपा० जिनविजय, पृ० ७७-७९
 "मल्लवादिप्रबन्ध"—प्रबन्धचिन्तामणि, संपा० वही, पृ० १०७-१०९।
 "मल्लवादिसूरिप्रबन्ध-प्रबन्धकोश, संपा० वही, पृ० २१-२३।

नुसार उन्होंने शीलादित्य की समा में बौद्धों को शास्त्रार्थ में पराजित किया तथा राजसभा में अपना प्रभुत्व स्थापित किया। परन्तु जैनों का उक्त विवरण भ्रामक माना जाता है। प्रथम तो प्रबन्धग्रन्थों में ही उक्त बात का अलग-अलग रूप से उल्लेख किया गया है और दूसरे किसी भी अन्य साक्ष्य से इसका समर्थन नहीं होता। राजदरबार में बौद्धों के व्यापक प्रभाव के कारण सम्भवतः धार्मिक विद्वेष के कारण जैनों ने यह कथा गढ़ ली है। वास्तव में वलभी मैत्रकयुग में बौद्धों का एक प्रसिद्ध केन्द्र रहा। मैत्रक नरेश यद्यपि बौद्ध धर्मावलम्बी थे, परन्तु उन्होंने किसी भी धर्म पर कोई कुठाराघात नहीं किया। इस समय ब्राह्मणीय धर्म भी विकसित होता रहा तथा जैनों पर भी कोई दबाव नहीं था, तथापि इसे राजाश्रय प्राप्त न हो सका। फिर भी यहाँ जैनों की बड़ी संख्या विद्यमान थी, यह बात वलभी संगीति के विवरण और प्रबन्धग्रन्थों से स्पष्ट होती है। प्रबन्धग्रन्थों^१ के अनुसार वलभीभंग के समय यहाँ से जिनप्रतिमायें भिन्न-भिन्न स्थानों को ले जायी गयीं। इस प्रकार स्पष्ट है कि मैत्रक युग में वलभी नगरी में जैन धर्म विद्यमान रहा।

जैन प्रबन्धग्रन्थों में वलभी भंग की कई तिथियाँ प्राप्त होती हैं,^२ परन्तु वे प्रामाणिक नहीं मानी जाती। वास्तव में यह नगरी ई० सन् ७८३ के पूर्व अवश्य ही नष्ट की जा चुकी थी, यह बात हरिवंशपुराण^३ (जिनसेन—ई० सन् ७८३) से ज्ञात होती है। आधुनिक विद्वानों ने वलभीभंग की तिथि ई० सन् ७७६ मानी है।^४ भंग होने के पश्चात् भी इस नगरी का अस्तित्व बना रहा, परन्तु वह अपने पूर्ववैभव को पूर्णतः

१. “वलभीभङ्गप्रबन्ध”—प्रबन्धचिन्तामणि, संपा० जिनविजय, पृ० १०९।

“वलभीभङ्गप्रबन्ध”—पुरातनप्रबन्धसंग्रह, संपा० जिनविजय, पृ० ८२।

२. विरजी, के० जे०—ऐन्शियेन्ट हिस्ट्री ऑफ सौराष्ट्र, पृ० १०२।

३. शाकेष्वद्वशतेषु सप्तसुदिशं पंचोतेरेषूत्तरं (रां)

पातीद्रायुधनान्ति (मिन्) कृष्णनृपजेश्रीवल्लभे दक्षिणां।

पूर्वा श्रीमदवर्ति(न्ति) भूमृति नृपे वत्सादिराजै(जे) परां

सौर्याणामधिमडलं जययुते वीरे वरादे(हे)वनि(ति) ॥ ५१ ॥

हरिवंशपुराण की प्रशस्ति

४. विरजी, के०के०—पूर्वोक्त, पृ० १०१-१०२।

खो चुकी थी। प्रभावकचरित^१ से ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र के साथ कुमारपाल यहाँ आये थे और उन्होंने आदिनाथ तथा पार्श्वनाथ की प्रतिमाओं को नवनिर्मित प्रासाद में स्थापित कराया। वस्तुपाल ने भी यहाँ स्थित आदिनाथ जिनालय का जीर्णोद्धार कराया एवं सुधाकुंड तथा प्रपा का निर्माण कराया।^२

वलभी को गुजरात राज्य के भावनगर जिलान्तर्गत वर्तमान 'वला' नामक स्थान से समीकृत किया जाता है। यहाँ ग्राम में वि०सं० १९६० में निर्मित पार्श्वनाथ का एक जिनालय विद्यमान है।^३

१८. वायड

कल्पप्रदीप के "चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प" के अन्तर्गत वायड का भी उल्लेख है और यहाँ महावीर स्वामी के मंदिर होने की बात कही गयी है।

वायड का जैन तीर्थ के रूप में सर्वप्रथम उल्लेख सम्भवतः सकल-तीर्थस्तोत्र^४ (रचनाकार-सिद्धसेनसूरि, वि० सं० ११२३) में प्राप्त होता है। जैन प्रबन्धग्रन्थों में भी इस स्थान की चर्चा है। प्रभावकचरित^५

१. "हेमसूरिचरितम्"—प्रभावकचरित, संपा० जिनविजय, पृ० २११
२. ढाकी, एम० ए० तथा शास्त्री, हरिशंकर प्रभाशंकर—"बस्तुपाल-तेज-पालनी कीर्तिनात्मक प्रवृत्तियो" स्वाध्याय, वर्ष ४, अंक ३, पृ० ३०५-३२०।
३. शाह, अम्बालाल पी०—पूर्वोक्त, पृ० ११४-११५।
४. थाराउदय-वायड-जालीट्टर-नगर-खेड-मोढेरे।
अणहिल्लवाडनयरे व(च)डुवल्लिय बंभाणे ॥ २७ ॥
दलाल, सी०डी०—पत्तनस्थप्राच्यजैनभाण्डागारीयग्रन्थसूची, पृ० १५६
५. जगत्प्राणः पुरादेवो जगत्प्राणप्रदायकः।
स्वयं सदाऽनवस्थानः स्थानमिच्छन् जगत्यसौ ॥ ५ ॥
वायटाख्यं महास्थानं गूर्जरावनिमण्डनम्।
ददौ श्रीभूमिदेवेभ्यो ब्रह्माभ्य इव मूर्तिभिः ॥ ६ ॥
"जीवदेवसूरिचरितम्" प्रभावकचरित, पृ० ४७।

तथा प्रबन्धकोश^१ के अनुसार यहाँ वायुदेव का मंदिर था। स्कन्दपुराण^२—‘धर्मारण्यखण्ड’ (१३वीं—१४वीं शती) में भी यहाँ स्थित वायुदेव के मंदिर की चर्चा है। प्रबन्धकोश^३ के अनुसार ‘वायड’ अणहिलपुरपत्तन के अन्तर्गत एक ‘महास्थान’ था। यहाँ स्थित महावीर जिनालय का भी राजशेखर ने उल्लेख किया है।^४ पुरातनप्रबन्धसंग्रह^५ के अनुसार चौलुक्यनरेश जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल के मन्त्री उदयन की प्रथम पत्नी के मृत्योपरान्त उसके पुत्र वाहड़ (वागभट्ट) ने वायड में अपने पिता की दूसरी शादी निश्चित की। “वायडमहास्थान” से ही वायडगच्छ की उत्पत्ति मानी जाती है।^६ जिनदत्तसूरि इस गच्छ के प्रसिद्ध आचार्य थे। इन्होंने “विवेकविलास” नामक ग्रन्थ की रचना की। वि० सं० १२६५ में यहाँ (वायड में) इनका आगमन हुआ, इस अवसर पर उन्होंने अनेक लोगों को जैन धर्म में दीक्षित किया। वे वस्तुपाल के साथ शत्रुंजय की यात्रा पर भी गये।^७ वायड ब्राह्मणों तथा वायड वाणिकों की यहीं से उत्पत्ति हुई मानी जाती है।^८ वस्तुपाल ने यहाँ स्थित महावीर जिनालय का जीर्णोद्धार कराया। यह कार्य ई०सन्

१. गूर्जरधरायां वायुदेवतास्थापितं वायटं नाम महास्थानम् ।

“जीवदेवसूरिप्रबन्ध”—प्रबन्धकोश, पृ० ७

२. स्कन्दपुराण—धर्मारण्यखण्ड ३।२।२।१

३. श्रीअणहिलपत्तनासन्नं वायटं नाम महास्थानमास्ते ।

“अमरचन्द्रकविप्रबन्ध”—प्रबन्धकोश, पृ० ६१ ।

४. स निम्बो वायटे श्रीमहावीरप्रासादमचीकरत् ।

‘जीवदेवसूरिचरितम्’—प्रबन्धकोश, पृ० ८

५. वायडपुरे जीवितस्वामिनं श्रीमुनिसुव्रतमपरं श्रीवीरं नन्तुं चलत ।

“मन्त्रिउदयनप्रबन्ध”—पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ३२ ।

६. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द—जैनसाहित्यनो संक्षिप्तइतिहास,

पृ० ३४१ ।

७. वही

८. वही

१२३२ के पश्चात् ही सम्पन्न हुआ होगा।^१ वृद्धाचार्यप्रबन्धावली^२ में भी यहाँ स्थित महावीर स्वामी के जिनालय का उल्लेख है।

उपरोक्त विवरणों से स्पष्ट है कि पूर्व-मध्यकाल में वायड ब्राह्मणीय तथा जैन धर्म का एक प्रसिद्ध तीर्थ रहा। यहाँ वायुदेव तथा महावीर स्वामी के जिनालय विद्यमान थे। आज यह एक साधारण ग्राम मात्र है। यहाँ आज न तो कोई प्राचीन मंदिर है और न कोई ऐसा प्राचीन अवशेष ही मिला है। ग्राम के मध्य में सम्भवनाथ का एक जिनालय है, जो वि० सं० १९५० के लगभग निर्मित है।^३ यह स्थान गुजरात राज्य के बनासकांठा जिलान्तर्गत पाटन से २३ किमी० उत्तर-पश्चिम में स्थित है।^४

१९. शत्रुञ्जयकल्प

शत्रुञ्जय प्राचीनकाल से ही जैनों के एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तीर्थ के रूप में विख्यात रहा है। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ की प्राचीनता, इसके विभिन्न नाम, पौराणिक एवं ऐतिहासिक घटनाओं आदि का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

“शत्रुञ्जय के २१ नाम प्रचलित हैं, यथा १—सिद्धक्षेत्र, २—तीर्थ-राज, ३—मरुदेव, ४—भगीरथ, ५—विमलाचल, ६—बाहुबलि, ७—सहस्रकमल, ८—तालध्वज, ९—कदम्ब, १०—शतपत्र, ११—नगाधिराज, १२—अष्टोत्तरशतकूट, १३—सहस्रपत्र, १४—ढङ्क, १५—

१. सुकृतसंकीर्तन—(रचनाकार—अरिसिंह—१२३१ ई० सन्), सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी (उदयप्रभसूरि १२३२ ई० सन्) आदि ग्रन्थ जो वस्तुपाल—तेजपाल के सत्कार्यों का विवरण देते हैं, सन् १२३२ तक लिखे जा चुके थे, परन्तु इनमें वायड स्थित महावीर जिनालय का वस्तुपाल द्वारा पुनर्निर्माण कराये जाने का कोई उल्लेख नहीं है। अतः यह मानना अनुचित न होगा कि उक्त जीर्णोद्धार ई० सन् १२३२ के पश्चात् ही सम्पन्न हुआ होगा।

२. खरतरगच्छवृहत्गुर्वावली, पृ० ६३, ७३, ७८।

३. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह, तीर्थसूची—क्रमांक-८३८।

४. सोमपुरा, के० एफ०—द स्ट्रक्चरल टेम्पल्स ऑफ गुजरात, पृ० २३०

लौहित्य, १६—कपर्दिनिवास, १७—सिद्धशिखर, १८—शत्रुंजय, १९—मुक्तिनिलय, २०—सिद्धिपर्वत और २१—पुण्डरीक। इस तीर्थ का विस्तार अवसर्पिणीकाल के विभिन्न आरों में अलग-अलग रहा। इस काल के प्रथम आरे में यह ८० योजन विस्तार वाला रहा तथा षष्ठम् और अन्तिम आरे में केवल सात हाथ विस्तार वाला हो गया। ऋषभदेव के समय यह पर्वत ५० योजन लम्बा, १० योजन चौड़ा और ८ योजन ऊँचा था। नेमिनाथ को छोड़कर अन्य सभी तीर्थकरों का यहाँ सम-वसरण हुआ है। भरत और बाहुबलि ने यहाँ अनेक चैत्यों और बिम्बों का निर्माण कराया। भरत चक्रवर्ती के प्रथम पुत्र और ऋषभदेव के प्रथम गणधर पुण्डरीकस्वामी इस तीर्थ से सर्वप्रथम सिद्ध हुए। उनके पश्चात् अन्य कई कोटि ऋषियों ने भी यहाँ से सिद्धि प्राप्त की। राम, नारद, जय, पंच पांडव, कुन्ती तथा अन्य कई कोटि ऋषि यहाँ से मुक्त हुए। अजितनाथ और शान्तिनाथ ने अपने कई वर्षावास यहाँ बिताये। यहाँ अनेक बार निर्माण और उद्धार कार्य कराये गये। सम्प्रति, सातवाहन, विक्रमादित्य, जावड़, पादलिप्त और आम तथा वाहड़ द्वारा यहाँ कराये गये जीर्णोद्धार प्रसिद्ध हैं। कल्कि का पौत्र मेघघोष भविष्य में यहाँ चैत्यों का निर्माण करायेगा। विक्रमादित्य के १०८ वर्ष पश्चात् मधुमतिनगरी के निवासी जावड़शाह ने यहाँ एक जिनालय का निर्माण कराया और उसमें ऋषभदेव, चक्रेश्वरीदेवी, और कपर्दियक्ष की प्रतिमायें स्थापित करायीं। अन्य तीर्थों की यात्रा करने की अपेक्षा यहाँ की यात्रा करने पर सौगुना फल प्राप्त होता है। इसी प्रकार पूजा करने से सौगुना पुण्य यहाँ जिनबिम्ब निर्माण कराने से प्राप्त होता है तथा चैत्यनिर्माण कराने से हजार गुना पुण्य प्राप्त होता है। यहाँ पर्वत पर आदिनाथ का एक भव्य जिनालय है। इसके बायीं तरफ सत्यपुरीयावतारमंदिर तथा उसके पीछे अष्टापद-जिनालय विद्यमान है। दूसरे अन्य शिखरों पर श्रेयांसनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, ऋषभदेव एवं महावीरस्वामी के चैत्यालय हैं। मन्त्रीश्वर वाग्भट्ट ने यहाँ ऋषभदेवका चैत्य बनवाया। वस्तुपाल, पेशशाह आदि ने भी यहाँ जिनालय निर्मित कराये। वि० सं० १३६९ में म्लेच्छों ने यहाँ तोड़-फोड़ किया, तत्पश्चात् वि० सं० १३७१ में संघपति समरा-शाह ने यहाँ चैत्यों का पुनर्निर्माण कराया। पालिताना नगरी में

पार्श्वनाथ और महावीर के दो जिनालय हैं। भद्रबाहुस्वामी ने “कल्प-प्राभृत” के आधार पर “शत्रुञ्जयकल्प” की रचना की। उसके बाद वज्रस्वामी और पादलिप्ताचार्य ने भी “शत्रुञ्जयकल्प” लिखा। उन्हीं के आधार पर संक्षेप में वि० सं० १३८५ में यह कल्प लिखा गया है।”

ग्रन्थकार द्वारा उल्लिखित इस तीर्थ की प्राचीनता, विभिन्न नाम, तीर्थ का विस्तार, तीर्थङ्करों का आगमन, भरत एवं बाहुबलि द्वारा चैत्यों का निर्माण, करोड़ों मुनियों को यहां से सिद्धि एवं मुक्ति प्राप्त करने आदि सम्बन्धी कथानक पौराणिक मान्यताओं की कोटि में रखे जा सकते हैं। यद्यपि श्रद्धालु जैनों के लिये इनका विशिष्ट महत्त्व है, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से ये कथायें उपेक्षणीय हैं।

सम्प्रति, सातवाहन, विक्रमादित्य, पादलिप्त, आम और जावड़-शाह को ग्रन्थकार ने यहाँ जिनालयों के निर्माण कराने का श्रेय दिया है। यद्यपि ये सभी व्यक्ति प्रायः ऐतिहासिक ही हैं, परन्तु उन सभी द्वारा यहां उद्धारकार्य कराने का कोई विश्वसनीय प्रमाण नहीं मिलता है।^१ कल्कि के प्रपौत्र मेघघोष द्वारा भविष्य में यहां जिनालयों के निर्माण कराने का ग्रन्थकार ने जो उल्लेख किया है, वह उनके श्रद्धालुता की ओर संकेत करता है। इसीप्रकार इस तीर्थ की यात्रा करने तथा बिम्बों एवं चैत्यों के निर्माण कराने के सम्बन्ध में पुण्य-लाभ की जो बात कही गयी है, उसका उद्देश्य श्रद्धालु जैन उपासकों के अन्तःस्थल में इस तीर्थ के प्रति विशेष श्रद्धाभाव उत्पन्न करना ही है। जैन आचार्यों द्वारा समय-समय पर प्रसारित इसी अवधारणा से ही यहाँ अनेकानेक जिनालयों का निर्माण सम्भव हो सका है।

कुमारपाल के मंत्री उदयन के पुत्र बाहुड़ (वाग्भट्ट) द्वारा यहाँ जिनालय निर्मित कराये जाने का जिनप्रभसूरि ने उल्लेख किया है। यही

१. शत्रुञ्जयकल्प—(रचनाकार—तपगच्छीयधर्मघोषसूरि) में सम्प्रति, सातवाहन, विक्रमादित्य, पादलिप्त, आम और जावड़शाह द्वारा यहां जिनालयों के निर्माण कराने का उल्लेख है।

बात प्रबन्धचिन्तामणि^१ में भी कही गयी है। उसके अनुसार उदयन के पुत्र वाग्भट्ट द्वारा वि०सं० १२११ में शत्रुंजय पर नये प्रासाद का निर्माण कराया गया।^२ आज यहाँ जो सबसे प्राचीन जिनालय विद्यमान है, वह वाग्भट्ट द्वारा निर्मित जिनालय ही है। वस्तुपाल^३ और पथड़शाह^४ द्वारा भी यहाँ जिनालयों के निर्माण कराने का उल्लेख मिलता है, जिससे जिनप्रभ की बात का समर्थन होता है। वि०सं० १३६९ में यहाँ म्लेच्छों द्वारा किये गये विध्वंस का ग्रन्थकार ने जो उल्लेख किया है, वह सत्य है। इस समय तक गुर्जरदेश पर दिल्ली के सुल्तान अलाउद्दीन

१-२. अथाणहिल्लपुरं प्राप्तैस्तेः स्वजनैस्तं वृत्तान्तं ज्ञापितौ वाग्भट्टाभ्रभटौ तानेवाभिग्रहानुगृहीत्वा जीर्णोद्धारमारभाते। वर्षद्वयेन श्रीशत्रुंजये प्रासादे निष्पन्ने उपेत्यागतमानुषेण वर्धापनिकायां वाच्यमानायां पुनरागतेन द्वितीयपुरुषेण प्रासादः स्फुटित इत्यूचे। ततस्तप्तत्रपुत्रायां गिरं निशम्य श्रीकुमारपालभूपालमापृच्छमहं कपर्दिनिश्रीकरणमुद्रां नियोज्य तुरङ्ग-माणां चतुर्भिः सहस्रैः सह श्रीशत्रुञ्जयोपत्यकां प्राप्त स्वनाम्ना वाग्भट्ट-पुरनगरं निवेशयामास। सभ्रमप्रासादे पवनः प्रविष्टो न निर्यातीति स्फुटनहेतुं शिल्पिभिर्निर्णीयोक्तं, भ्रमहीने च प्रासादे निरन्वयतां विमृश्या-ज्वयाभावे धर्मसंतानमेवास्तु पूर्वोद्धारकारिणां श्रीभरतादीनां पङ्क्तौ नामास्तु, इति तेन मन्त्रिणा दीर्घदर्शिन्या बुद्ध्या विभाव्य भ्रमभित्योरन्त-रालं शिलाभिर्निचितं विधाय वर्षत्रयेण निष्पन्ने प्रासादे कलशदण्डप्रतिष्ठायां श्रीपत्तनसंघं निमन्त्रणापूर्वमिहानीय महता महेन सं० १२११ वर्षे ध्वजारोपं मंत्री कारयामास। स शैलमयबिब मम्माणीयखनीसक्तपरिकरमानीय निवेशितवान्। श्रीवाग्भटपुरे नृपतिपितुर्नाम्ना त्रिभुवनपालविहारे श्रीपाश्र्वनाथं स्थापितवान्। तीर्थपूजाकृते च चतुर्विंशत्यारामान्नगरे परितो वप्रं देवलोकस्य प्रासवासादि दत्त्वा चैतत्सर्वं कारयामास।

“कुमारपालप्रबन्ध” प्रबन्धचिन्तामणि-सं०-दुर्गाशंकरशास्त्री, पृ० १४१-१४२

३. ढाकी, मधुसूदन तथा शास्त्री, हरिशंकर—“वस्तुपाल-तेजपालनी कीर्ति-नात्मक प्रवृत्तियो” स्वाध्याय वर्ष ४, अंक ३, पृ० ३०५-३२०

४. पथड़रास, ४४-५२ (रचनाकार मांडलिक; रचनाकाल वि० सं० १३६०/ ई० सन् १३०३ के आस-पास) प्राचीनगूर्जरकाव्यसंग्रह, संपा० सी०-डी० दलाल, पृ० १५४-१५९।

उपकेशगच्छीय कक्कसूरि द्वारा रचित नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध (रचनाकाल वि० सं० १३९३) में भी उक्त बात कही गयी है।

खिलजी का अधिकार स्थापित हो गया था, उसने अलपखान को यहाँ का शासक नियुक्त किया था और उसी ने यहाँ तोड़फोड़ किया। वि०सं० १३७१ में संघपति समराशाह ने यहाँ के चैत्यों का पुनर्निर्माण कराया, यह बात आम्नदेवसूरि द्वारा रचित समरारासु से ज्ञात होती है। जिनप्रभ ने भी यही यही बात कही है। अपने विवरण के अन्त में उन्होंने बतलाया है कि उन्होंने इस कल्प को भद्रबाहु, वज्रस्वामी और पादलिप्तसूरि द्वारा रचित 'शत्रुजयकल्प' के आधार पर लिखा है, तथापि उनके विवरण की सभी बातें हमें तपगच्छीय धर्मघोषसूरि द्वारा रचित 'शत्रुजयकल्प' में विस्तार से प्राप्त होती हैं। 'धर्मघोषसूरि को जिनप्रभसूरि से लगभग ४०-५० वर्ष पहले रखा जाता है।^१ अतः यह माना जा सकता है कि जिनप्रभ ने धर्मघोषसूरि द्वारा रचित 'शत्रुजयकल्प' के आधार पर ही यह कल्प लिखा होगा।

आज यहाँ पर्वत पर और उसकी तलहटी में अवस्थित पालीताना नगरी में छोटे-बड़े ८०० से अधिक जिनालय हैं। चौलुक्य और वघेल शासकों के समय यहाँ अनेक जिनालयों का निर्माण कराया गया, परन्तु मुसलमानों ने यहाँ के अधिकांश मंदिरों को नष्ट कर दिया। बाद में १५वीं से १९वीं शती तक यहाँ अनेक मंदिरों का निर्माण कराया गया। जिससे सम्पूर्ण पर्वतशृंखला और घाटी मंदिरों से ही ढंक गयी है। आज यहाँ जितने अधिक जिनालय हैं उतने अन्यत्र कहीं नहीं हैं। यहाँ के जिनालयों में अनेक प्राचीन प्रतिमायें भी हैं उनमें से कुछ पर लेख भी उत्कीर्ण हैं। ये लेख वि०सं० १०३४ से लेकर २० वीं शती तक के हैं।^२

१. आगमोद्धार ग्रन्थमाला जिला, खेड़ा (गुजरात) द्वारा वि० सं० २०२६ में प्रकाशित।

२. प्रो० एम० ए० ढाकी से उक्त सूचना प्राप्त हुई है, जिसके लिये लेखक उनका अभारी है।

३. इन लेखों के सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विवरण के लिये द्रष्टव्य—

(i) शाह, ए० पी०—“सम इन्सकृप्सन्स एण्ड इमिजेज ऑन माउन्ट शत्रुजय”—महावीरजैनविद्यालयसुवर्णमहोत्सवअंक, भाग १, पृ० १६२-१६९।

(ii) ढाकी एम० ए०—“शत्रुजयगिरिना केटलाक प्रतिमा लेखो”—सम्बोधि जिल्द ७, नं० १-४, पृ० १३-२५।

(iii) मुनि, कंचनसागर—शत्रुजयगिरिराजदर्शन इन स्कल्पचर्स एण्ड आर्किटेक्चर, (प्रका. आगमोद्धारक ग्रन्थमाला, कपडवज, १९८२ ई०)।

२०. शंखेश्वरपार्श्वनाथकल्प

शंखपुर श्वेताम्बर जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। श्वेताम्बर जैन साहित्य में इसके बारे में विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। जिनप्रभसूरि ने भी इस तीर्थ का उल्लेख किया है और इसके सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं की चर्चा की है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“पूर्व काल में एक बार राजगृह नगरी के राजा नवें प्रतिवामुदेव जरासन्ध ने नवें वासुदेव कृष्ण पर चढ़ाई करने के लिये पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान किया। उसके आगमन का समाचार सुनकर कृष्ण भी अपनी सेना के साथ द्वारका से चले और राज्य की सीमा पर आ कर डट गये। वहीं पर अरिष्टनेमि ने अपना पाञ्चजन्य नामक शंख बजाया, जिससे वह स्थान शंखपुर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जब दोनों पक्षों में युद्ध प्रारम्भ हुआ तब जरासन्ध ने कृष्ण की सेना में महामारी फैला दी, जिससे उनकी सेना हारने लगी। इसी समय अरिष्टनेमि की सलाह पर कृष्ण ने तपस्या की और पातालस्थित भावी तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त की। फिर उस प्रतिमा को न्हवण कराया गया और उसी जल को सेना पर छिड़क दिया गया, जिससे महामारी शान्त हुई और उन्होंने जरासन्ध को पराजित कर मार डाला। पार्श्वनाथ की उक्त प्रतिमा वहीं (शंखपुर में) स्थापित कर दी गयी। कालान्तर में यह तीर्थ विच्छिन्न हो गया तथा यह प्रतिमा बाद में वहीं शंखकूप में प्रकट हुई और उसे चैत्य निर्मित कर वहीं स्थापित कर दी गयी। इस तीर्थ में अनेक चमत्कारिक घटनायें घटित हुईं। तुर्क लोग भी यहाँ उपद्रव नहीं करते हैं।”

शंखेश्वर पार्श्वनाथ के बारे में जिनप्रभसूरि ने जो विवरण प्रस्तुत किया है, वैसा ही विवरण उनके शगच्छीय कक्कसूरि द्वारा रचित **नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध** (रचनाकाल वि० सं० १३९३) में भी प्राप्त होता है। पश्चात्कालीन अन्य ग्रन्थों में भी यही बात कही गयी है।

१. प्रस्ताव ५, श्लोक २४३-२५१

शीलाङ्काचार्यकृत **चउपपन्नमहापुरुषचरियं** (वि० सं० १२५/ई० सन् ८६८), मलधारगच्छीय हेमचन्द्रसूरि द्वारा रचित **नेमिनाहचरिय** (१२वीं शती का उत्तरार्ध), कलिकालसर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्यकृत **त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र** (वि० सं० १२१४-२८ के मध्य), मल-धारगच्छीय देवप्रभसूरिकृत **पांडवचरितमहाकाव्य** (वि० सं० १२७०/ई० सन् १२१३ के पश्चात्) आदि ग्रन्थों में भी उक्त कथानक प्राप्त होता है,^१ परन्तु वहाँ शंखपुर नहीं अपितु आनन्दपुर नामक नगरी के बसाने का उल्लेख है। जिनप्रभसूरि के उक्त कथानक का आधारभूत ग्रन्थ कौन-सा है? वे स्वयं इसे गीत के आधार पर उल्लिखित बतलाते हैं—

शंखपुर द्विअमुत्ती कामियतित्थं जिणेसरो पासो ।
तस्सेस मए कप्पो लिहिओ गीयाणुसारेण ॥

कल्पप्रदोष अपरनाम विविधतीर्थाकल्प—पृ० ५२

यह गीत कौन-सा था? उसके रचनाकार का समय क्या था? यह ज्ञात नहीं। शंखेश्वर महातीर्थ को मुंजपुर से दक्षिण-पश्चिम में सात मील दूर राधनपुर के अन्तर्गत स्थित 'शंखेश्वर' नामक ग्राम से समीकृत किया जाता है।^२ ग्राम के मध्य में भगवान् पार्श्वनाथ का ईंटों से निर्मित एक प्राचीन जिनालय है, जो अब खण्डहर के रूप में विद्यमान है। इसी के निकट एक नवीन जिनालय का भी निर्माण कराया गया है।^३

जयसिंह सिद्धराज के मंत्री दण्डनायक सज्जन को यहाँ स्थित पार्श्वनाथ चैत्यालय के जीर्णोद्धार कराने का श्रेय दिया जाता है। यह कार्य वि० सं० ११५५ के लगभग सम्पन्न हुआ माना जाता है। यद्यपि समकालीन ग्रंथों में इस बात की कहीं चर्चा नहीं मिलती, परन्तु पश्चात्-

१. मुनि जयन्तविजय—शंखेश्वरमहातीर्थ, पृ० ३२

२. बर्जेस एण्ड कजिन्स—द आर्किटेक्चरल ऐन्टीक्वीटीज ऑफ नार्दर्न गुजरात (वाराणसी-१९७५ ई०), पृ० ९४-९५।

३. वही, पृ० ९५।

कालीन ग्रन्थों से यह बात ज्ञात होती है।^१ वस्तुपाल-तेजपाल ने भी यहाँ स्थित चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया एवं चैत्यशिखर पर स्वर्ण-कलश लगवाया।^२ कुछ विद्वानों के अनुसार यह कार्य वि० सं० १२८६ के लगभग सम्पन्न हुआ,^३ परन्तु यथेष्ट प्रमाणों के अभाव में उक्त तिथि को स्वीकार नहीं किया जा सकता। बीजूवाड़ा के राणा दुर्जनशाल ने भी उक्त पार्श्वनाथ चैत्यालय का जीर्णोद्धार कराया। यह बात जगड्-चरितमहाकाव्य से ज्ञात होती है।^४ चौदहवीं शती के अन्तिम दशक में अलाउद्दीन खिलजी ने इस तीर्थ को नष्टप्राय कर दिया।^५

आज यहाँ ग्राम में ईंटों से निर्मित जो ध्वंस जिनालय विद्यमान है वह अकबर द्वारा गुजरात-विजय (ई० सन् १५७२) के तुरन्त बाद

१. मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० ९६ और आगे
२. वस्तुपालचरित—(जिनहर्षगणि-वि० सं० १४९७); प्रस्ताव ७, श्लोक २८४—२९७।
३. मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० ९९ और आगे
४. इतश्च पूर्णिमापक्षोदद्योतिकारी महामतिः ।
श्रीमान्परमदेवाख्यः सूरिर्भाति तपोनिधिः ॥ १ ॥
श्रीशङ्खेश्वरपार्श्वस्यादेशमासाद्य यः कृती ।
आचाम्लवर्धमानाख्यं निर्विघ्नं विदधे तपः ॥ २ ॥
अघोषशतवर्षेषु व्यधिकेषु च विक्रमात् ।
मार्गशीर्षस्य शुक्लायां पञ्चम्यां श्रवणे च भे ॥ ३ ॥
कटपद्राभिधे ग्रामे देवपालस्य वेशमति ।
आचाम्लतपसश्चक्रे पारणं यः शुभाशयः । युगम् ॥ ४ ॥
प्रबोधं सप्तयक्षाणां संघविघ्नविधायिनाम् ।
शङ्खेशपार्श्वभवने यश्चकार कृपापरः ॥ ५ ॥
तस्यैवाराधनं कृत्वा चारित्रश्रीविभूषितः ।
राज्ञो दुर्जनशल्यस्य कुष्टरोगं जहार यः ॥ ६ ॥
भूपो दुर्जनशल्योऽपि यस्यादेशमवाप्य सः ।
शङ्खेशपार्श्वदेवस्य समुद्ध्ये च मन्दिरम् ॥ ७ ॥
—जगड्चरितमहाकाव्य (सर्वाणंदसूरि-१४वीं शती लगभग)
सर्ग ६, श्लोक १-७
५. मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० १०१।

बनवाया गया, क्योंकि उस समय तक जैनो ने सम्राट् का विश्वास प्राप्त कर लिया था और वे अहमदशाही बन्धनों से भी पूर्णतया मुक्त हो चुके थे, इसी से उत्साहित होकर उन्होंने यह निर्माण कार्य कराया।^१ इस जिनालय को राज्य की ओर से दान एवं शाही फरमान भी प्राप्त हुआ।^२

इस जिनालय में वि० सं० १६५२ से १६९८ तक के लेख प्राप्त हुए हैं, जो ध्वस्त देहरीओं, उनके बारशाखों आदि पर उत्कीर्ण हैं।^३ इनकी कुल संख्या ३५ हैं, जिनमें से २८ लेखों में कालनिर्देश है; शेष लेख मितिबिहीन हैं।

यहाँ स्थित नवीन जिनालय के मुख्यद्वार के बाहर बाँयी ओर वि० सं० १८६८ भाद्रपद सुदी १० बुधवार का एक लेख उत्कीर्ण है।^४ बर्जेस ने इस लेख के आधार पर यह मत व्यक्त किया है कि यह जिनालय उक्त तिथि में निर्मित हुआ है।^५ परन्तु उनका यह मत भ्रामक है। वस्तुतः इस लेख में उक्त जिनालय को दिये गये दान एवं उसके व्यय के प्रबन्ध सम्बन्धी विवरण हैं। मुनि जयन्तविजय का यह मत उचित ही प्रतीत होता है कि इस जिनालय के निर्माता, प्रतिष्ठापक-आचार्य, प्रतिष्ठातिथि आदि के सम्बन्ध में कोई जानकारी उपलब्ध नहीं है।^६

नवीन जिनालय में प्रतिष्ठित प्रतिमाओं, परिकरों, देहरीओं आदि पर वि० सं० १२१४ से वि० सं० १९१६ तक के लेख उत्कीर्ण हैं।^७ इनमें से २१ लेखों में कालनिर्देश है, शेष ३ लेख मितिबिहीन हैं।

१. बर्जेस और कजिन्स—पूर्वोक्त, पृ० ९५।

२. परीख और शास्त्री—संपा० गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास—जिल्द ६, पृ० ३७४

मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० २१७ और आगे

३. मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० १८८-१९३

४. वही, लेखाङ्क ११, पृ० १८४

५. बर्जेस और कजिन्स—पूर्वोक्त

६. मुनि जयन्तविजय—पूर्वोक्त, पृ० ११९

७. वही, पृ० १८२-१८८

शंखेश्वर महातीर्थ गुजरात प्रान्त के मेहसणा जिलान्तर्गत स्थित है।^१

२१. सिंहपुर

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत सिंहपुर का भी उल्लेख है और यहाँ विमलनाथ और नेमिनाथ के जिनालय होने की बात कही गयी है।

जैन मान्यतानुसार ११वें तीर्थंकर श्रेयांसनाथ का सिंहपुर में जन्म हुआ था।^१ जहाँ तक जिनप्रभसूरि के उल्लेख का प्रश्न है; उन्होंने, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प में श्रेयांसनाथ से सम्बन्धित स्थानों के साथ नहीं अपितु विमलनाथ और नेमिनाथ से सम्बन्धित स्थानों के साथ सिंहपुर का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट होता है कि यह सिंहपुर श्रेयांसनाथ के जन्मस्थान सिंहपुर से भिन्न है। जहाँ तक इस तीर्थ की भौगोलिक स्थिति का प्रश्न है, द्वारका और स्तम्भतीर्थ के साथ इस स्थान का उल्लेख है। अतः इसे गुजरात राज्य में स्थित होना चाहिए। इस आधार पर सिंहपुर को भावनगर जिलान्तर्गत सिहोर नामक स्थान से समीकृत किया जा सकता है। कुछ विद्वानों ने इससे भिन्न तर्कों के आधार पर भी इसी

१. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, भाग १, पृ० ३७२-३७३

२. मेहता और चन्द्रा—प्राकृत प्रापर नेम्स, पृ० ८०२;

जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १८४।

सिंहपुर की भौगोलिक स्थिति के बारे में प्राचीन जैन साहित्य से कोई जानकारी नहीं मिलती। उत्तरकालीन जैन परम्परा में इसे वाराणसी नगरी से उत्तर में अवस्थित सारनाथ नामक प्रसिद्ध स्थान के निकट स्थित सिंहपुरी से समीकृत किया जाता है। यह उल्लेखनीय है कि जिनप्रभसूरि के समय तक इस मान्यता का जन्म नहीं हुआ था, क्योंकि वाराणसीनगरीकल्प में उन्होंने सारनाथ और यहां के बौद्ध स्मारकों का उल्लेख किया है, परन्तु सिंहपुरी की कोई चर्चा नहीं है। अतः यह स्पष्ट है कि जिनप्रभसूरि के पश्चात् ही इस मान्यता का प्रचलन हुआ होगा।

समीकरण को स्वीकार किया है।^१ आज यहाँ अजितनाथ, कुन्धुनाथ और पार्श्वनाथ के जिनालय विद्यमान हैं, परन्तु वे वर्तमान युग के हैं।^२

२२. स्तम्भनककल्प

कल्पप्रदीप के अन्तर्गत स्तम्भनक तीर्थ पर ३ कल्प लिखे गये हैं—

१—श्री पार्श्वनाथकल्प

२—श्रीस्तम्भनककल्प

और ३—स्तम्भन-पार्श्वनाथकल्पशिलोच्छ

इनमें से प्रथम में तो पार्श्वनाथ की महिमा का वर्णन है। दूसरे में यहाँ भूमि से अभयदेवसूरि द्वारा प्रतिमा प्रकट करने का उल्लेख है और तीसरे कल्प में सविस्तार नागार्जुन की कथा और अभयदेवसूरि द्वारा प्रतिमा प्रकट करने की चर्चा है। अतः यहाँ केवल तीसरे कल्प—स्तम्भन-पार्श्वनाथकल्पशिलोच्छ का ही विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। इस विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“ढंक पर्वत पर वासुकी और भोपलदेवी का पुत्र नागार्जुन रहता था। वह वानस्पतिक औषधियों का विशिष्ट ज्ञाता था। प्रसिद्ध जैनाचार्य पादलिप्तसूरि से उसने गगनगामिनी विद्या सीखी। एक बार वह सेढी नदी के तट पर पार्श्वनाथ की प्रतिमा के समक्ष रससिद्धि का प्रयास कर रहा था, जिसमें उसे असफलता मिली और वहीं उसकी हत्या कर दी गयी। पार्श्वनाथ की प्रतिमा भूमि में चली गयी और वहीं पर रसस्तम्भित हुआ, जिससे उस स्थान का नाम ही स्तम्भनक पड़ गया। बहुत काल व्यतीत होने पर अभयदेवसूरि वहाँ आये और उन्होंने जयतिहुअणस्तोत्र का पाठ किया, जिससे पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हुई; जिसे उन्होंने वहीं पर चैत्य निर्मित कराकर स्थापित कर दिया।”

१. परीख और शास्त्री—गुजरातनो राजकीय अने सांस्कृतिक इतिहास-भाग १, पृ० ३५४-५५।

२. शाह, अम्बालाल पी०—जैनतीर्थसर्वसंग्रह—तीर्थसूची—कृमांक १६६६—१६६८।

चन्द्रकुल के प्रसिद्ध आचार्य नवाङ्गीवृत्तिकार अभयदेवसूरि के सम्बन्ध में जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित उपरोक्त विवरण हमें प्रभावकचरित, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातनप्रबन्धसंग्रह आदि ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है,^१ अतः कहा जा सकता है कि जिनप्रभसूरि के उक्त विवरण का आधार ये ग्रन्थ ही रहे होंगे।

प्रबन्धकोश में कहा गया है कि कुमारपाल,^२ वस्तुपाल^३ और तेजपाल ने इस तीर्थ की यात्रा की थी। वस्तुपाल-तेजपाल द्वारा वि० सं० १२८८ में गिरनार स्थित नेमिनाथ प्रासाद पर उत्कीर्ण कराये गये ६ बृहत् शिलालेखों में अणहिलपुर, भृगुपुर, स्तम्भतीर्थ, दर्भावती और धवलक के साथ स्तम्भनक का भी उल्लेख है।^४ वस्तुपालचरित में भी उसके द्वारा यहाँ की यात्रा करने की चर्चा है।^५ जिनप्रभसूरि

१. "अभयदेवसूरिचरितम्" प्रभावकचरित, पृ० १६५
"नागार्जुनोत्पत्तिस्तम्भनकतीर्थप्रबन्ध" प्रबन्धचिन्तामणि (संपा० दुर्गा-शंकर शास्त्री), पृ० १९६
"अभयदेवसूरिप्रबन्ध"-पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ९५-९६
"पालिप्ताचार्यप्रबन्ध"-प्रबन्धकोश, पृ० १४
"नागार्जुनप्रबन्ध"-वही, पृ० ८४-८६
२. राजा स्तम्भनपुरे यात्रां सूत्रयामास । तत्पुरं पार्श्वदेवाय ददौ ।।
"हेमसूरिप्रबन्ध" प्रबन्धकोश, पृ० ५२-५३
३. एकदा तौ भ्रातरौ द्वावपि मन्त्रिपुरन्दरौ महर्द्धिसङ्घोपेतौ श्रीपार्श्वं नन्तुं स्तम्भनकपुरमीयतुः ।
"वस्तुपालप्रबन्ध"-प्रबन्धकोश, पृ० १०९
४. मुनि पुण्यविजय—सुकृतकीर्तिकल्लोलिन्यादिवस्तुपालप्रशस्ति-संग्रह-नवम् परिशिष्ट, पृ० ४४-५८
५. देव त्वं जय रञ्जयन् जनमनोऽभीष्टार्थसार्थापिणाङ्गक्तिप्रह्वसुपर्वशेखरगल-न्मन्दारदामार्चितः । सर्वाशाप्रसरत्प्रभावनिभृतः श्रीपार्श्वविशेश्वरः, श्रीमत्-स्तम्भनकाभिधाननगरालङ्कारचूडामणिः ।
यस्यार्चामणिनामन्त्रतदभिश्लेषानुभावोल्लसद्द्रव्य-णिश्रेमहौषधीसमुदाये माहात्म्यमत्यद्भूतम् । दृष्ट्वाऽशेषमणित्रजादिषु तथा भावं बुधा मेनिरे, स श्रीपार्श्वजिनः प्रभावजलधिर्भूयात्सतां सिद्धये ।

वस्तुपालचरित ४।५०५-५०६

ने वस्तुपाल-तेजपाल की इस यात्रा का उल्लेख नहीं किया है, जो आश्चर्यजनक है।

स्तम्भनक को गुजरात राज्य के खेड़ा जिलान्तर्गत आणंद ताल्लुका में स्थित “थामणा” नामक स्थान से समीकृत किया जाता है। आज यहाँ कोई जिनालय विद्यमान नहीं है।^१

२३. स्तम्भतीर्थ

कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प” के अन्तर्गत स्तम्भतीर्थ का भी उल्लेख है और यहाँ नेमिनाथ के मंदिर होने की बात कही गयी है।

स्तम्भतीर्थ (वर्तमान कैम्बे) पश्चिमी भारतवर्ष की एक प्रमुख नगरी और पत्तन के रूप में पूर्व-मध्यकाल से ही प्रसिद्ध रही है। इसके कई नाम मिलते हैं, यथा खम्भायत, खय्यात, त्रम्बवती, ताम्रलिप्ति, महीनगर, भोगावती, पापवती आदि।^२ इनमें खंभात और स्तम्भतीर्थ नाम ज्यादा प्रचलित हैं। स्तम्भतीर्थ का सर्वप्रथम उल्लेख राष्ट्रकूट नरेश गोविन्द ‘तृतीय’ (ई० सन् ७९३-८१४) के ‘कावीदान-शासन’ में प्राप्त होता है।^३ गुजरात का दक्षिणी भाग जिसके अन्तर्गत भड़ौच पत्तन स्थित था, राष्ट्रकूटों के अधिकार में था। स्तम्भतीर्थ (खम्भात) पर इनके प्रतिद्वन्दी प्रतिहारों का अधिकार था। राष्ट्रकूटों की प्रतिद्वन्दिता में ही प्रतिहारों ने स्तम्भतीर्थ का विकास किया। सोलहवीं युग में यह भारतवर्ष के सर्वप्रमुख पत्तन के रूप में प्रतिष्ठित हो गया।^४ व्यापारिक दृष्टि के साथ-साथ धार्मिक दृष्टि से भी इस नगरी का बड़ा महत्त्व रहा। इस युग (सोलहवीं युग) में यह नगरी शैव, वैष्णव और जैन धर्मों के प्रमुख केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित रही।^५

१. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, भाग १, पृ० ३८७

२. वही, पृ० ३८८।

३. अल्तेकर, ए०एस०—“ए हिस्ट्री ऑफ इम्पार्टेंट ऐन्शेन्ट टाउन्स एण्ड सिटीज इन गुजरात एण्ड काठियावाड़” “इंडियन ऐन्टीक्वेरी”, (ई० सन् १९२५) सेप्लिमेन्ट, पृ० ४७।

४. परीख और शास्त्री—पूर्वोक्त, पृ० ३९०

५. वही

कलिकालसर्वज्ञ आचार्य हेमचन्द्र ने अपने गुरु देवचन्द्राचार्य से से इसी नगरी में वि० सं० ११५४ के लगभग दीक्षा प्राप्त की थी ।^१ इस समय यहां जेतला नामक एक श्रेष्ठी रहता था, उसने यहां एक जिनालय बनवाया ।^२ जयसिंह सिद्धराज और कुमारपाल का मन्त्री उदयन इसी नगरी में रहता था, उसने यहाँ उदयनवसही नामक एक जिनालय तथा आलिंग नाम के एक अन्य मन्त्री ने यहां आदिनाथ का मंदिर बनवाया ।^३ वि० सं० ११६५/ई० सन् ११०८ में मोढवशीय जेलाश्रेष्ठी की पत्नी बहिडाबाई ने यहाँ पार्श्वनाथ का एक जिनालय निर्मित कराया, यह बात उक्त जिनालय में उत्कीर्ण वि० सं० १३९२ के एक लेख से ज्ञात होती है ।^४ पूर्णिमागच्छीय मुनिरत्नसूरि द्वारा वि० सं० १२५२ / ई० सन् ११९५ के लगभग रचित मुनिसुव्रतस्वामि-चरित^५ की प्रशस्ति में यहां के एक श्रेष्ठी नागिल का उल्लेख है ।^६ वि० सं० १२७६/ई० सन् १२२० तक वस्तुपाल धवलक में वीरधवल

१. अलंघ्यत्वाद् गुरोर्वाचामाचारस्थितया तथा ।

दूनयापि सुतः स्नेहादार्यत स्वप्नसंस्मृते ॥ ३१ ॥

तमादाय स्तम्भतीर्थे जग्मुः श्रीपार्श्वमन्दिरे ।

माघे सितचतुर्दश्यां ब्राह्मे धिष्ण्ये शनेदिने ॥ ३२ ॥

धिष्ण्ये तथाष्टमे धर्मस्थिते चन्द्रे वृषोपगे ।

लग्ने बृहस्पतौ शत्रुस्थितयोः सूर्यभौमयोः ॥ ३४ ॥

“हेमचन्द्रसूरिचरितम्” प्रभावकचरित, पृ० १८४

अर्थात् वि० सं० ११५० माघ शुक्ल चतुर्दशी शनिवार को दीक्षा संस्कार हुआ, परन्तु ज्योतिषीय गणनानुसार माघ शुक्ल चतुर्दशी शनिवार

वि० सं० ११५४ में पड़ता है; अतः प्रभावकचरित में उल्लिखित उक्त

संबन्ध अशुद्ध प्रतीत होता है । द्रष्टव्य—

मुसलगांवकर, वि० भा०—आचार्यहेमचन्द्र, पृ० १७

२. शाह, अम्बालाल पी०—पूर्वोक्त, पृ० १७

३. वही, पृ० १७

४. मुनि जिनविजय-संगा.—प्राचीनजैनलेखसंग्रह, भाग २, लेखाङ्क ४४९

५. जिनरत्नकोश, पृ० ३१२

६. शाह, पूर्वोक्त, पृ० ११७

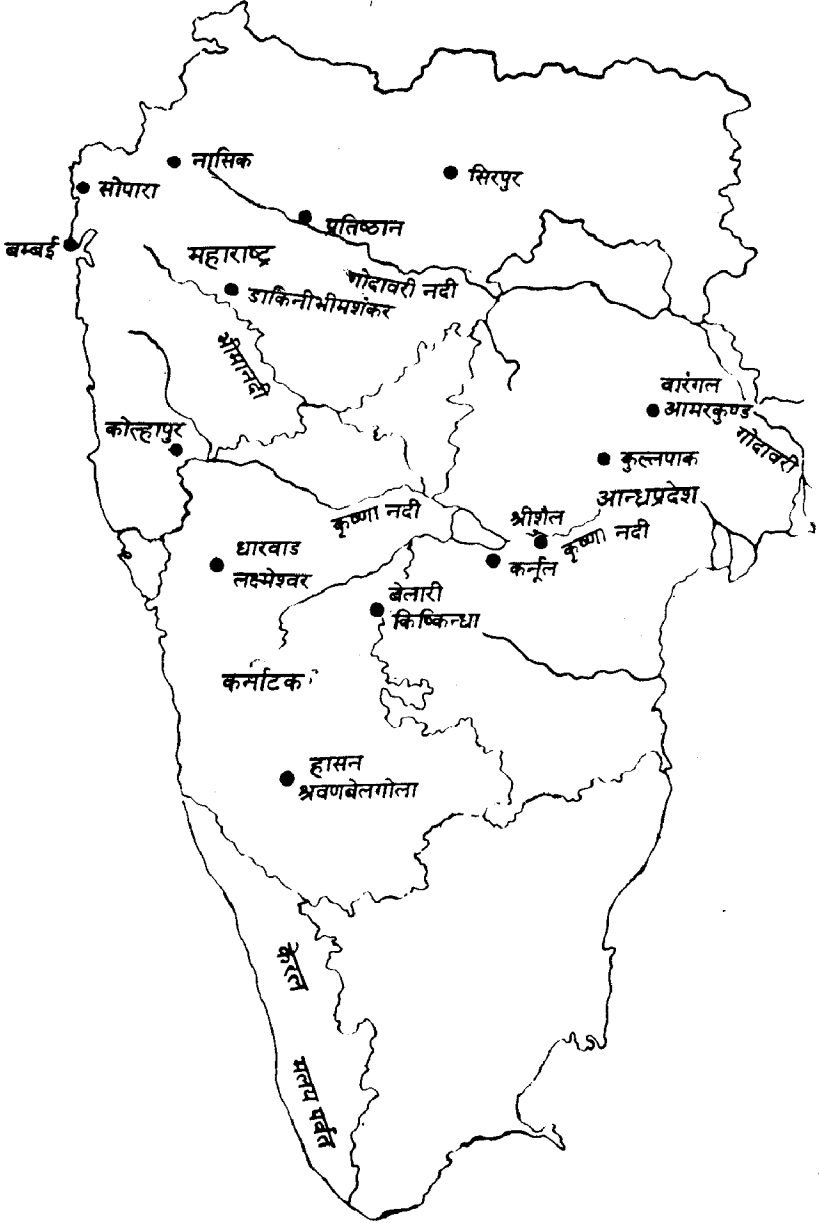
के दण्डनायक के रूप में नियुक्त हो चुके थे।^१ वस्तुपाल - तेजपाल ने स्तम्भतीर्थ का बहुमुखी विकास किया। स्तम्भतीर्थ का शासनतंत्र सुधारने के पश्चात् वि० सं० १२७९ ई० सन् १२२३ में वस्तुपाल ने अपने पुत्र जैत्रसिंह को स्तम्भतीर्थ का राज्यपाल नियुक्त किया।^२ जैत्रसिंह के आग्रह पर नागेन्द्रगच्छीय आचार्य विजयसिंहसूरि ने हम्मीरमदमर्दन^३ नामक नाटक तथा बालचन्द्रसूरि ने वि० सं० १२९६ में वसन्तविलासमहाकाव्य^४ की रचना की।

इस युग में यहाँ ताड़पत्रों पर अनेक पुस्तकों की प्रशस्तियाँ लिखी गयीं।^५ वि० सं० १५२७/ई० सन् १४७१ में यहाँ श्रेष्ठी घोषा ने एक जिनालय का निर्माण कराया। उक्त जिनालय आज विद्यमान नहीं है।^६ परवर्ती काल के अनेक जैन ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी रचनाओं में यहाँ के जिनालयों का उल्लेख किया है।^७ भारतवर्ष के जिन ४ स्थानों पर विशाल जैन ग्रन्थ भंडार विद्यमान हैं,^८ उनमें स्तम्भतीर्थ (खंभात) भी एक है। यहाँ के प्रमुख ज्ञानभंडार हैं--

१- नीतिविजयज्ञानभंडार, २- श्रीशांतिनाथज्ञानभंडार, ३- सागर-गच्छ के उपाश्रय का ज्ञानभंडार, ४- विजयनेमिसूरि का ज्ञानभंडार तथा ५- जिरालापाड़ा में स्थित ज्ञानभंडार। इसके अलावा यहाँ कई उपाश्रयों में भी छोटे-छोटे ज्ञानभंडार हैं।^९

-
१. सांडेसरा, भोगीलाल—महामात्यवस्तुपाल का साहित्यमंडल, पृ० ३९-
 २. वही, पृ० ४१
 ३. मुनि पुण्यविजय--संपा०—कैटलाग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैन्युस्कृप्ट्स-जैसलमेरकलेक्शन, पृ० १५४
 ४. जिनरत्नकोश, पृ० ३४४
 ५. द्रष्टव्य, मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित—जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह
 ६. सोमपुरा, के०एफ०—पूर्वोक्त, पृ० २१६
 ७. अमीन, जे०पी०—खंभातनुजैनमूर्तिविधान, पृ० ४
 ८. तीन अन्य प्रमुख जैन ग्रन्थ भण्डार पाटन, जैसलमेर और पूना (महाराष्ट्र) में हैं
 ९. अमीन, पूर्वोक्त, पृ० ४

दक्षिण भारत



अध्याय ९ दक्षिणभारत

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, इस अध्याय में दक्षिण भारत (महाराष्ट्र, आन्ध्रप्रदेश, कर्णाटक और केरल) के तीर्थों को सम्मिलित किया गया है। इन प्रान्तों के तीर्थों का अलग-अलग वर्णक्रमानुसार विवरण प्रस्तुत है—

<p>अ—महाराष्ट्र</p> <p>(१) कोल्हापुर (२) डाकिनीभीमशंकर (३) नासिक्य (नासिक) (४) प्रतिष्ठान (५) श्रीपुर (६) सूर्पारक</p>	<p>इ—कर्णाटक</p> <p>(१) किष्किन्धा (२) गोमेश्वरबाहुबलि (३) शंखजिनालय</p> <p>ई—केरल</p> <p>(१) मलयपर्वत</p>
---	--

आ—आन्ध्रप्रदेश

(१) आमरकुण्डपद्मादेवीकल्प
(२) कुल्याकमाणिक्यदेवकल्प
(३) श्रीपर्वत

अ—महाराष्ट्र १. कोल्हापुर

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत कोल्हापुर का भी उल्लेख किया है और यहाँ आदिनाथ के मन्दिर होने की बात कही है। इसके अतिरिक्त 'प्रतिष्ठानपुराधिपति सातवाहननृपचरित्र' में भी इस नगरी का उल्लेख है और यहाँ स्थित-महालक्ष्मी के मन्दिर की चर्चा है।

कोल्हापुर महाराष्ट्र प्रान्त की एक प्रमुख नगरी है। जैन केन्द्र के रूप में यह नगरी कब प्रतिष्ठित हुई ! यह कहना कठिन है, परन्तु

१२वीं शती के मध्य तक यह जैन तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित हो चुकी थी, इसका श्रेय पुस्तकगच्छ, देशीगण और मूलसंघ के आचार्य कुलचन्द्रदेव के शिष्य मुनि माघनन्दी को है। यह बात ई० सन् ११६३ के एक अभिलेख से ज्ञात होती है।^१ उक्त अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि यहाँ का रूपनारायणवसति पुस्तकगच्छ, देशीयगण और मूलसंघ से सम्बन्धित था।^२ ई० सन् १२०० के एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि माघनन्दी यहाँ स्थित शावन्तवसति से सम्बन्धित थे और यह वसति भी उक्त गच्छ, गण और संघ से ही सम्बन्धित थी।^३ इसी अभिलेख से यह भी ज्ञात होता है कि शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य सागरनन्दी सिद्धान्तदेव भी इसी सावन्तवसति से सम्बन्धित थे।^४ १२वीं शती के मध्य से लेकर १५वीं शती के मध्य तक कोल्हापुर एक महत्त्वपूर्ण जैन केन्द्र रहा, इसकी गणना मूडबिद्री, पावगूड, मेलकूट आदि प्रसिद्ध जैन तीर्थ केन्द्रों के साथ होती रही।^५ ई० सन् १४४० में यहाँ के आचार्य जिनसेन भट्टारकपट्टाचार्य अपने शिष्यों और अनेक जैन श्रावकों के साथ श्रवणबेलगोला चले गये और उसी समय से इस तीर्थ का महत्त्व कम होने लगा।^६ यहाँ से ई० सन् १११७ और ई० सन् ११३५ के दो अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं जो शिलाहारवंशीय राजा गण्डरादित्य और उसके सामन्त द्वारा यहाँ के रूपनारायणवसति को दिये गये दानादि की चर्चा करते हैं।^७ जहाँ तक जिनप्रभूसूरि के उक्त उल्लेख का प्रश्न है, यह उल्लेखनीय है कि यहाँ आदिनाथ के मन्दिर होने के सम्बन्ध में हमारे पास अभी तक कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है, पर उनके समय में यह स्थान प्रसिद्ध जैन केन्द्रों में एक रहा,

१. सालेटोर, बी.ए.—मिडुवल जैनज्म, पृ० २०६।

२. वही, पृ० १४९।

३. वही, पृ० २०६।

४. वही, पृ० २०६।

५. वही, पृ० ३३९।

६. वही, पृ० ३५३।

७. जोहरापुरकर, विद्याधर—संपा० जैनशिलालेखसंग्रह, भाग ४, लेखाङ्क १९२, २२१।

यह तो स्पष्ट है। उन्होंने यहाँ स्थित महालक्ष्मी के मन्दिर का जो उल्लेख किया है, वह आज भी विद्यमान है।^१

आज यहाँ ३ जिनालय है; जो वर्तमान युग में निर्मित हैं; परन्तु उनमें रखी कुछ जिनप्रतिमाएँ मध्ययुगीन हैं।^२

२. डाकिनीभीमशंकर

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशोत्तिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत 'डाकिनीभीमशंकर' का भी उल्लेख किया है और यहाँ पार्श्वनाथ के मंदिर होने की बात कही है।

डाकिनीभीमशंकर, जिसकी गणना १२ ज्योतिर्लिङ्गों में की जाती है, पूना के उत्तर-पश्चिम में सह्याद्रिपर्वत (पश्चिमी घाट) पर स्थित है।^३ जैन साहित्य में अन्यत्र इस स्थान का कोई भी उल्लेख प्राप्त नहीं होता, परन्तु चूँकि यह स्थान अत्यन्त प्रसिद्ध शैव तीर्थों में से एक है और प्रायः ऐसा देखने में आता है कि किसी एक धर्म का तीर्थस्थान दूसरे धर्मवालों के लिये भी तीर्थरूप में मान्य हो जाता है। इसके पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं, जैसे वाराणसी शैव और वैष्णव धर्म के साथ-साथ जैन धर्म का भी एक प्रसिद्ध तीर्थ है। श्रीशैलपर्वत (जिसकी गणना १२ ज्योतिर्लिङ्गों में की जाती है) को हम १४वीं-१६वीं शती में शैव तीर्थ के साथ-साथ जैन तीर्थ के रूप में भी प्रतिष्ठित पाते हैं। श्रीशैल को जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित करने वाले एकमात्र जैन ग्रन्थकार जिनप्रभसूरि^४ हैं। उनके इस कथन का समर्थन यहीं से प्राप्त और शैवों द्वारा उत्कीर्ण कराये गये एक शिलालेख से होता है।^५ अतः जिन-प्रभ की उक्त मान्यता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि यहाँ से भी श्रीशैल पर्वत के समान कोई जैन पुरावशेष प्राप्त हो जाता है तो जैन तीर्थ के रूप में इस स्थान की मान्यता स्वतः सिद्ध हो जायेगी।

१. काणे, पी०वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग ३, पृ० १४२५।

२. जैन, बलभद्र—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग ४, पृ० २३३-३५।

३. डे, नन्दोलाल—ज्योग्राफिकल डिक्सनरी ऑफ ऐन्डोर्ट एण्ड मिडुवल इंडिया, पृ० ५१।

४. सालेटोर, बी ए.—मिडुवल जैनिज्म, पृ० ३१९,

देसाई, पी०बी०—जैनिज्म इन साउथ इंडिया, पृ० २३।

३. नासिक्यपुरकल्प

नासिक भारतवर्ष की एक प्रमुख नगरी के रूप में प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित रही है। यह ब्राह्मणीय धर्मवलम्बियों का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। मध्ययुग में यह स्थान जैन तीर्थ के रूप में भी प्रसिद्ध रहा। जिनप्रभसूरि ने इस नगरी की उत्पत्ति के सम्बन्ध में ब्राह्मणीय तथा अन्य परम्पराओं में प्रचलित पौराणिक कथाओं तथा एक जैन तीर्थ के रूप में इसका यथाश्रुत उल्लेख किया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“कृतयुग में विष्णु ने इस नगरी को बसाया और वहाँ चन्द्रप्रभ-स्वामी का जिनालय बनवाया। इस युग में इस नगरी का नाम “पद्म-पुर” प्रसिद्ध हुआ। त्रेतायुग में राम, लक्ष्मण और सीता ने अपना वनवास-काल यहीं व्यतीत किया। राम से प्रणय-याचना करने के कारण लक्ष्मण ने रावण की बहन सूर्पनखा की नासिकाछेदन कर दी, इसीलिये इस नगरी का नाम “नासिक्यपुर” पड़ा। बाद में लंका-विजय के पश्चात् लौटते समय राम ने यहाँ स्थित चन्द्रप्रभस्वामी के जिनालय का जीर्णोद्धार कराया। मिथिलानरेश जनक ने यहाँ १० यज्ञ किये, इस-लिये इसका एक नाम “जनकस्थान” भी प्रचलित हुआ। इसीप्रकार एक अन्य घटना विशेष से इसका एक नाम “जगथाण” भी पड़ गया। द्वापर-युग में कुन्ती ने यहाँ के चन्द्रप्रभ जिनालय को जीर्ण देखकर उसे पुन-निर्मित कराया, जिसके कारण इस नगरी का नाम “कुन्तीविहार” पड़ा। द्वारिकादाह के पश्चात् यादववंश के बचे हुए लोग यहाँ आये और उन्होंने चन्द्रप्रभ के जिनालय का पुनर्निर्माण कराया। इसप्रकार तीनों युगों में इस तीर्थ का अनेक बार जीर्णोद्धार हुआ। वर्तमान कलिकाल में शान्तिसूरि ने इस तीर्थ का उद्धार कराया। कल्याणकटक के राजा परमर्दी ने इस जिनालय को व्यय हेतु २४ ग्राम प्रदान किये। बहुत काल बीतने पर त्रैयम्बक देवाधिष्ठित महादुर्ग ब्रह्मागिरि स्थित महल्लय क्षत्रिय ने, जिसका नाम वाइओ था; जिनप्रासाद को गिरा दिया। तत्प-श्चात् पल्लीवालवंशीय किसी ईश्वर नामक व्यक्ति के पुत्र कुमारसिंह ने उसे पुनर्निर्मित कराया। चारों दिशाओं से यहाँ संघादि आते हैं और पूजा अर्चना करते हैं।”

जैसा कि ग्रन्थकार का स्पष्ट कथन है कि उन्होंने इस तीर्थ के सम्बन्ध में जो विवरण दिये हैं वे ब्राह्मणीय तथा जैन दोनों परम्पराओं पर आधारित हैं। प्रथम तीन युगों कृतयुग, त्रेता और द्वापर में इस तीर्थ की स्थिति का विवरण ब्राह्मणीय परम्परा पर आधारित प्रतीत होता है और इसमें ग्रन्थकार ने यथास्थान अपने अनुकूल परिवर्तन भी किया है। कलिकाल में इस तीर्थ का जीर्णोद्धार शान्तिसूरि ने कराया, वे ऐसा उल्लेख करते हैं; परन्तु ये शान्तिसूरि किस गच्छ के थे? उनका समय क्या था? इन बातों का ग्रन्थकार ने कोई उल्लेख नहीं किया है। जहाँ तक कल्याणकटक (कल्याणी) के राजा परमर्दी द्वारा २४ ग्राम देवालय को प्रदान करने का प्रश्न है, यह बात असंभव तो नहीं लगती; हो सकता है कि कल्याणी के चौलुक्यवंशीय किसी राजा या उसके किसी उच्चाधिकारी अथवा सामन्त ने यह दान दिया हो। त्रयम्बक देवाधिष्ठित महादुर्ग ब्रह्मगिरि के महल्लय क्षत्रियजातीय वाइयो नामक एक डाकू ने जिस प्रासाद को गिरा दिया ऐसा—जिनप्रभ का कथन है। त्रयम्बक (त्रयम्बकेश्वर)^१ और ब्रह्मगिरि^२ नासिक में ही स्थित हैं। ब्रह्मगिरि नामक पर्वत से गोदावरी नदी निकलती है और वहीं त्रयम्बकेश्वर तीर्थ है। ये ब्राह्मणीय परम्परा में प्रसिद्ध तीर्थ माने जाते हैं।^३ जहाँ तक डाकू द्वारा जिनप्रसाद गिराने की घटना का प्रश्न है, सम्भव है कि जैनों के प्रति विद्वेष के कारण यह घटना घटित हुई हो। ऐसा प्रतीत होता है कि एक प्रसिद्ध ब्राह्मणीय तीर्थस्थान पर जैनों के बढ़ते हुए प्रभाव को रोकने के लिये ब्राह्मणों की ओर से उनके जिनालय को क्षतिग्रस्त कराया गया होगा। परन्तु जैनों की स्थिति भी यहाँ दृढ़ प्रतीत होती है, क्योंकि आगे स्वयं जिनप्रभ यह उल्लेख करते हैं कि पल्लीवालवंशीय ईश्वर नामक एक श्रावक के पुत्र कुमारसिंह ने उस

१. नासिक में स्थित तीर्थ, जहाँ से गोदावरी निकलती है।

नादरीयपुराण २।७३। १-१५२; स्कन्दपुराण ४।६।२२।

२. एक पर्वत जहाँ से गोदावरी निकलती है।

ब्रह्मपुराण—७।४।२५-२६; ८।४। २।

३. धर्मशास्त्र का इतिहास, (हिन्दी अनुवाद), खंड ३, पृ० १४४१ तथा १४६१।

जिनालय को पुनर्निर्मित करा दिया। यह कार्य १३ वीं शताब्दी के पूर्व ही सम्पन्न हुआ होगा !

ऐसे संकेत हैं कि १३वीं शती में महामात्य वस्तुपाल-तेजपाल^१ और १४वीं शती में झाँझण के पुत्र पथड़शाह ने^२ यहाँ जिनालयों का निर्माण कराया। जिनप्रभसूरि ने वस्तुपाल और तेजपाल तथा पथड़शाह द्वारा तीर्थों पर जिन भवनों के निर्माण तथा जीर्णोद्धार का अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है,^३ परन्तु उनके द्वारा नासिक में कराये गये जिनालयों के निर्माण का उन्होंने कोई उल्लेख नहीं किया है, जो आश्चर्यजनक है।

४. प्रतिष्ठानपत्तनकल्प

प्राचीन भारतवर्ष की एक प्रसिद्ध नगरी और सातवाहनों की राजधानी के रूप में प्रतिष्ठान का अत्यधिक महत्त्व रहा है। ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन साहित्य में इस नगरी का सुन्दर विवरण प्राप्त होता है। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस नगरी से सम्बन्धित ३ कल्प लिखे हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. प्रतिष्ठानपत्तनकल्प

२. प्रतिष्ठानपुरकल्प

३. प्रतिष्ठानपुराधियतिसातवाहननृपचरित्र

प्रतिष्ठापत्तनकल्प के अन्तर्गत इस नगरी से सम्बन्धित मान्यताओं की चर्चा है। प्रतिष्ठानपुरकल्प के अन्तर्गत सातवाहनवंश की उत्पत्ति की और इसी प्रकार तीसरे कल्प में, जैसा कि उसके नाम से ही स्पष्ट है, सातवाहननरेश का चरित्र वर्णित किया गया है। जहाँ तक

१. ढाकी, मधुसूदन तथा शास्त्री, हरिशंकर प्रभाशंकर—“वस्तुपाल तेजपालनी कीर्तिनात्मक प्रवृत्तियों” स्वाध्याय अंक ४, खंड ३, पृ० ३०५-२०।

२. देसाई, मोहनलाल दलीचन्द—जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४०५।

३. द्रष्टव्य—कल्पप्रदीप के अन्तर्गत ‘शत्रुंजयकल्प’, ‘कन्यानयनमहावीर-कल्पपरिशेष’, ‘वस्तुपाल-तेजपाल मंत्रिकल्प’ आदि।

सातवाहनों की उत्पत्ति सम्बन्धी जिनप्रभसूरि का जो विवरण है, आधुनिक विद्वानों ने उसे पूर्णतः अनैतिहासिक बतलाया है।^१ इसी प्रकार सातवाहननृपचरित्र में अनेक असम्भव बातों का भी उल्लेख आया है जिसे स्वयं जिनप्रभसूरि ने भी स्वीकार नहीं किया है। ऐसी परिस्थिति में इन दो कल्पों की चर्चा यहीं छोड़ते हुए, केवल प्रतिष्ठान-पत्तनकल्प का ही अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है। इसकी प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

महाराष्ट्र जनपद के अन्तर्गत गोदावरी नदी के तट पर प्रतिष्ठान नगरी बसी हुई है। यहाँ ६८ लौकिक तीर्थ हैं। यह ५२ वीरों का भी स्थान है, जिससे यह 'वीर क्षेत्र' के रूप में भी प्रसिद्ध है। यहाँ से ६० योजन चलकर मुनिसुव्रतस्वामी जितशत्रु राजा के अश्व को प्रतिबोधित करने भृगुकच्छ गये। यहाँ सातवाहन आदि नरेश हुए। सातवाहन नरेश के आग्रह पर कालकाचार्य ने इन्द्रमह के अवसर पर पर्यूषणा की पंचमी की तिथि को चतुर्थी में बदल दिया। वीरनिर्वाण सम्बत् ९९३ में यह घटना हुई। यहीं के राजा के अनुरोध पर कपिल, आत्रेय, बृहस्पति और पांचाल ने अपने बनाये हुए चालीस श्लोक परिमाण वाले ग्रन्थों को एक श्लोक में पद्यबद्ध कर दिया। यहाँ मुनिसुव्रत का एक भव्य जिनालय है, जिसमें मूलनायक के साथ-साथ अम्बिका देवी, क्षेत्रपाल और कपर्दीयक्ष की भी प्रतिमायें स्थापित हैं।^२

प्रतिष्ठान नगरी को महाराष्ट्र प्रान्त के औरंगाबाद जिलान्तर्गत गोदावरी के तट पर स्थित पैठन नामक स्थान से समीकृत किया जाता है।^२

ग्रन्थकार ने यहाँ के जिन ६८ लौकिक तीर्थों का उल्लेख किया है, वे जैन धर्म के प्रतिद्वन्दी ब्राह्मणीय और बौद्ध धर्म से सम्बन्धित रहे

१. पाण्डेय, चन्द्रभान—आन्ध्र-सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, पृ० ६ और आगे;

वेदालंकार, हरिदत्त—प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २२६ और आगे

२. डे, नन्दोलाल—ज्योग्राफिकल डिक्शनरी ऑफ ऐन्शेण्ट एण्ड मिडुवल इंडिया, पृ० १५९।

होंगे। जहाँ तक इस नगरी के वीरक्षेत्र होने का प्रश्न है, यक्ष, ब्रह्म और वीर एक ही माने जाते हैं।^१ काश्मीर से कन्याकुमारी और सौराष्ट्र से बंगाल तक सम्पूर्ण भारतवर्ष में यक्षपूजा का आज भी किसी न किसी रूप में प्रचलन है।^२ लोकधर्म के प्रभाव से ही ब्राह्मणीय, बौद्ध और जैन परम्परा में भी यक्ष पूजा का प्रचलन हुआ।^३ इन वीरों (यक्षों) की संख्या ५२ मानी जाती है।^४ यक्षों का निवास स्थान ब्रह्मपुरी माना जाता है।^५ चूँकि प्रतिष्ठान नगरी का एक नाम ब्रह्मपुरी भी है,^६ जो यहाँ प्रचलित यक्ष-पूजा का एक स्पष्ट प्रमाण है। यही बात जिनप्रभ ने भी कही है। जहाँ तक मुनिसुव्रत के भृगुकच्छ जाने का प्रश्न है, इस सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है कि आधुनिक विद्वानों ने पार्श्वनाथ से पूर्ववर्ती तीर्थङ्करों को प्रागैतिहासिक माना है, इसलिये उनके सम्बन्ध में प्रचलित मान्यताओं की ऐतिहासिकता का प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु चूँकि श्वेताम्बर जैन परम्परा^७ में उक्त मान्यता का बड़ा महत्त्व है और जिनप्रभसूरि स्वयं एक श्रद्धालु जैन आचार्य थे, अतः उनके द्वारा उक्त मान्यता का उल्लेख होना स्वाभाविक ही है।

जैन ग्रन्थों में कालकाचार्य के सम्बन्ध में ७ घटनाओं की चर्चा मिलती है^८—

१—दत्त राजा के सामने यज्ञफल और दत्त मृत्यु-विषयक भविष्य-कथन (निमित्त कथन) ।

२—शक्र-संस्तुत निगोद व्याख्याता आर्य कालक ।

३—आजीविकों से निमित्त पठन और तदनन्तर सातवाहन राजा के ३ प्रश्नों का निमित्त ज्ञान से उत्तर देना ।

१. अत्रगाल, वासुदेवशरण—प्राचीन भारतीय लोकधर्म, पृ० १२३ ।
२. वही, पृ० ११८ ।
३. वही, पृ० ११८-११९ ।
४. वही, पृ० १२३ ।
५. वही
६. डे, नन्दोलाल—पूर्वोक्त, पृ० १५९ ।
७. क्राउझे, शार्लेटे-संगो० ऐन्शेष्ट जैन हीम्स, पृ० ५-६ ।
८. शाह, यू०पी०—सुवर्णभूमि में कालकाचार्य, पृ० २८ ।

४—अनुयोगग्रन्थ निर्माण ।

५—गर्दभ राजा का उल्लेख ।

६—प्रतिष्ठानपुर जा कर वहाँ सातवाहन की विनन्ती से पर्यूषणा पर्व की तिथि जो पंचमी थी, उसके बजाय चतुर्थी करना ।

७—अविनीतशिष्यपरिहार और सुवर्णभूमिगमन ।

मुनि कल्याणविजय ने दो कालकाचार्य होने की बात कही है और बताया है कि प्रथम दो घटनायें प्रथम कालक से सम्बन्धित हैं और ३-७ तक की घटनायें द्वितीय कालक से।^१ परन्तु यू०पी० शाह ने मुनि जी के उक्त मत का खंडन किया है और यह सिद्ध किया है कि एक से ज्यादा कालकाचार्य की उपस्थिति की समस्या बाद के ग्रन्थकारों के कारण और कालगणनाओं में होने वाली गड़बड़ के कारण खड़ी हुई है और वास्तव में एक ही कालकाचार्य हुए, ऐसा उनका स्पष्ट मत है।^२ अब प्रश्न उठता है कि कालकाचार्य किस सातवाहन राजा के समकालीन थे ? बृहत्कल्पभाष्य और आवश्यकचूर्णों के अनुसार नहपान (शक नरेश) और सातवाहनों में संघर्ष हुआ था और गौतमीपुत्र सातकर्णों ने नहपान के सिक्कों पर अपनी मुहर लगायी, अतः नहपान को जीतने वाला सातवाहनराजा कालक के समकालीनसातवाहन नरेश केबाद का है।^३ शाह का मत है कि कालक का समकालीन सातवाहन राजा ईस्वी पूर्व प्रथम शती के अन्तिम चरण या ईस्वी सन् के प्रथम चरण में हुआ होगा।^४ परन्तु जिनप्रभसूरि के अनुसार यह घटना वीरनिर्वाणसम्बत् ९९३/वि० सं० ४६६ में घटित हुई। इस सम्बन्ध में मुनि श्रीकल्याण विजय का मत है कि बारहवीं सदी में चतुर्थी की फिर पंचमी करने की प्रथा हुई, तब चतुर्थी पर्यूषणा को अर्वाचीन ठहराने के ख्याल से किसी ने यह गाथा रची;^५ जिसे परवर्ती ग्रन्थकारों ने, जिनमें जिनप्रभसूरि भी हैं, स्वीकार कर लिया ।

१. मुनि कल्याणविजय, "आर्यकालक" द्विवेदी अभिनन्दन ग्रन्थ, (नागरी प्रचारिणी सभा, काशी सं० १९९०) पृ० ११५ ।

२. शाह—पूर्वोक्त, पृ० ३१ ।

३. वही, पृ० ५० ।

४. वही, पृ० ५० ।

५. मुनि कल्याणविजय—वीरनिर्वाण सम्बत् और जैन कालगणना, पृ० ४६-४८, पादटिप्पणी ।

जिनप्रभसूरि द्वारा उल्लिखित कपिल, बृहस्पति, आत्रेय और पांचाल की चर्चा तो श्वेताम्बर जैन साहित्य^१ में प्राप्त होती है, परन्तु उन लोगों द्वारा मिलकर अपने-अपने सिद्धान्तों को एक श्लोक में समाविष्ट करने की ग्रन्थकार ने जो बात कही है उसका आधार क्या है ? यह कहना कठिन है । उन्होंने इस नगरी में स्थित मुनिसुव्रत के चैत्यालय और उसमें रखी प्रतिमाओं का जो उल्लेख किया है, वह सत्य प्रतीत होता है ।

५. श्रीपुरअन्तरिक्षपार्श्वनाथकल्प

महाराष्ट्र राज्य के अकोला जिलान्तर्गत सिरपुर (प्राचीन श्रीपुर) नामक एक ग्राम है, जहाँ पार्श्वनाथ स्वामी का एक प्राचीन जिनालय है, जो आज अन्तरिक्ष पार्श्वनाथ पवली जिनालय के नाम से प्रसिद्ध है । जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप में इस तीर्थ के बारे में यथाश्रुत विवरण प्रस्तुत किया है, जो इस प्रकार है—

“पूर्व काल में प्रतिवासुदेव रावण के दूत मालि और सुमालि एक-बार कार्यवश आकाश-मार्ग से कहीं जा रहे थे । जिनप्रतिमा के दर्शनोपरान्त ही वे भोजन ग्रहण करते थे, परन्तु वे उसे घर पर ही भूल गये थे, अतः भावी तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ की बालुकामय प्रतिमा उन्होंने निर्मित कर उसकी पूजा की और तत्पश्चात् तालाब में उसे डाल दिया, जहाँ बहुत काल तक वह प्रतिमा पड़ी रही । समय के साथ-साथ वह तालाब एक छोटे से गढ़वे में बदल गया और उसका जल भी बहुत अल्प परिमाण में अवशिष्ट रहा । एकबार चिउगल देश के चिउगल नगर का राजा श्रीपाल, जिसका सर्वाङ्ग कुष्ठ रोग से ग्रसित था, प्यास से व्याकुल होकर वहाँ आया और हाथ-मुंह धोकर जल ग्रहण किया । इससे उसके रोग का प्रकोप कुछ कम हुआ और उसने उसी जल से स्नान किया जिससे उसे पूर्ण आरोग्यता प्राप्त हुई । राजा को स्वप्न में शासनदेवता ने सरोवर में पार्श्वनाथ की प्रतिमा होने की जानकारी दी और उसे जल से निकाल कर अपने नगर में स्थापित करने का आदेश दिया । स्वप्नादेश से राजा ने वहाँ से प्रतिमा निकलवायी और

१. विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—“मेहता और चन्द्रा”—प्राकृत प्रापर-नेम्स, भाग १-२ ।

उसे गाड़ी में रखकर चला। कुछ दूर चलने के पश्चात् उसने पीछे मुड़कर देखा तो प्रतिमा वहीं स्तंभित हो गयी, राजा ने वहीं जिनालय बनवाया और उसे स्थापित करा दिया। वह प्रतिमा वहीं अधर में स्थिर रही। पहले प्रतिमा और भूमि के बीच इतना अन्तर रहा कि एक स्त्री जल के घड़े को सिर पर रखे हुए उसके नीचे से निकल जाती थी, परन्तु अब केवल वस्त्र ही निकल पाता है। यहाँ यात्रीगण महोत्सव करते हैं। जिन प्रतिमा के न्हवण कराये गये जल से सिंचित आरती नहीं बुझती और उससे शरीर के विभिन्न चर्मरोगादि नष्ट होते हैं।”

सोमप्रभसूरि द्वारा रचित उपदेशसप्तशती^१ (रचनाकाल वि०सं० १५०३) में भी कल्पप्रदीप के समान ही विवरण प्राप्त होता है। तपागच्छीय आचार्य लावण्यसमय द्वारा वि०सं० १५८५ में रचित अन्तरिक्षपाश्वर्नाथछंद^२ में भी इसीप्रकार का विवरण है, परन्तु कथा में रावण के स्थान पर कुम्भकर्ण का नाम दिया है। भावविजयगणि ने वि० सं० १७१५ में रचित अन्तरिक्षमाहात्म्य नामक रचना में भी इसी प्रकार का विवरण दिया है और कहा है उक्त मंदिर में मूर्ति की प्रतिष्ठा वि०सं ११४२ माघ शुक्ल पंचमी रविवार को मलधारगच्छीय आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा सम्पन्न हुई।^३ किन्तु शीलविजय ने अपनी तीर्थमाला^४ (रचनाकाल वि०सं० १७४६) में इसे एक दिगम्बर तीर्थ के रूप में उल्लिखित किया है।

दिगम्बर सम्प्रदाय में इस तीर्थ के बारे में श्वेताम्बरों से प्राचीन और विस्तृत विवरण प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में सबसे पहले जिस रचना का उल्लेख किया जा सकता है वह है मदनकीर्ति द्वारा रचित

१. उपदेशसप्तशति २।१०। २१-२४।

२. देसाई, मोहनलाल दलीचंद—जैन साहित्यतो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ५२५।

३. वही,
पृ० २२९।

४. सूरिविजयधर्म—संपा० प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, पृ० १०१-१३१।

शासनचतुस्त्रिंशिका^१ (रचनाकाल—ई० सन् की तेरहवीं शती) । इसके पश्चात् उदयकीर्ति—(१३वीं शती) द्वारा रचित **तीर्थवन्दन**^२ में भी इस तीर्थ का विवरण है। १५वीं शती में दिगम्बराचार्य गुणकीर्ति ने स्वचरित **तीर्थवन्दन**^३ में भी इस तीर्थ का वर्णन किया है। इसके अलावा १६वीं से १९वीं शती के अनेक दिगम्बर आचार्यों (ग्रन्थकारों) ने इस तीर्थ का चर्चा की है।^४

अब हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि राजा श्रीपाल कौन था ? तथा वह जैन धर्म के किस आम्नाय से सम्बन्धित रहा ? जहाँ तक राजा श्रीपाल का सम्बन्ध है, कुछ विद्वानों ने उसे राष्ट्रकूट नरेश इन्द्र 'चतुर्थ' (१०वीं शती का अन्तिमचरण) का सामन्त माना है।^५ जिला बैतूल के खरेला नामक ग्राम से शक-सम्बत् १०७९ एवं १०९४/ई० सन् ११५७ और ११७२ के दो लेख प्राप्त हुए हैं, जिनमें श्रीपाल की वंश परम्परा में नृसिंह, बल्लाल और जैत्रपाल नाम दिये गये हैं।^६ खरेला ग्राम श्रीपाल के राज्य के अन्तर्गत ही स्थित रहा होगा।^७

जहाँ तक इस तीर्थ के श्वेताम्बर या दिगम्बर-सम्प्रदाय से संबंधित होने का प्रश्न है; उसके सम्बन्ध में हमें निम्न उल्लेख मिलते हैं—

सर्वप्रथम १३वीं शती में मदनकीर्ति इस तीर्थ को एक दिगम्बर तीर्थ के रूप में उल्लिखित करते हैं। इसके पश्चात् भानुकीर्ति (१३वीं शती ई०) भी इसे दिगम्बर तीर्थ ही बतलाते हैं। १४वीं शताब्दी में श्वेताम्बराचार्य जिनप्रभसूरि इसे मात्र एक जैन तीर्थ के रूप में उल्लिखित

१. यत्र यत्र विहायसि प्रविपुले स्थातुं क्षणं न क्षमस् ।
तत्रास्ते गुणरत्नरोहणगिरिर्योदेवदेवो महान् ॥
चित्रं नात्र करोति कस्य मनसो दृष्टः पुरे श्रीपुरे ।
स श्रीपाश्र्वजिनेश्वरो विजयते दिग्वाससां शासनम् ॥ ३ ॥

—शासनचतुस्त्रिंशिका

२. जोहरापुरकर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १७९ ।
३. वही, पृ० १७९ ।
४. वही,
५. जैन, बलभद्र—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, खंड ४, पृ० २९४ ।
६. वही, पृ० २९४ ।
७. वही

करते हैं। इसीप्रकार सोमप्रभ ने भी इसे जैन तीर्थ के रूप में ही उल्लिखित किया है, श्वेताम्बर या दिगम्बर तीर्थ के रूप में नहीं। वि०सं० १७१५ में भावविजय इसे एक श्वेताम्बर तीर्थ के रूप में उल्लिखित करते हैं, परन्तु वि०सं० १७४६ में ही एक अन्य श्वेताम्बराचार्य शील-विजय इसे स्पष्ट रूप से दिगम्बर तीर्थ बतलाते हैं। सभी दिगम्बर ग्रन्थकारों ने इसे दिगम्बर तीर्थ माना है।

ग्राम के बाहर स्थित पवली मंदिर की खुदाई से एक स्तम्भ एवं कई जैन प्रतिमायें मिली हैं। कुछ जिन-प्रतिमाओं पर लेख भी उत्कीर्ण हैं, जिनमें दिगम्बर आचार्यों के नाम हैं।^१ इन पुरातात्विक प्रमाणों से यह तीर्थ दिगम्बर सम्प्रदाय से ही सम्बद्ध लगता है। जहाँ तक भावविजय के उक्त उल्लेख का प्रश्न है, दिगम्बर लोग उसे श्वेताम्बरों की अपनी कृत्रिम उपज बतलाते हैं। यह सत्य है कि भावविजय को छोड़ कर किसी भी अन्य श्वेताम्बराचार्य ने इसे श्वेताम्बर तीर्थ नहीं बतलाया है।

६. सूपारिक

आचार्य जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के “चतुरशीतिमहातीर्थनाम संग्रहकल्प” के अन्तर्गत इस नगरी का उल्लेख करते हुए यहाँ जीवन्त-स्वामी ऋषभदेव के जिनालय होने की चर्चा की है।

सूपारिक कोंकण जनपद की राजधानी और प्राचीन भारतवर्ष की एक प्रसिद्ध नगरी थी। महाभारत,^२ ब्राह्मणीय परम्परा के पुराणों^३ तथा बौद्ध^४ और जैन साहित्य^५ में इस नगरी का उल्लेख प्राप्त होता है। इस नगरी के कई नाम मिलते हैं, यथा—सोपारग, सोपारक, सोर-पारक, सौरपारक और सुप्पारिक इत्यादि।^६ अशोक के १४मुख्य शिला-

१. जैन, बलभद्र—पूर्वोक्त, पृ० २९८।

२. काणे, पी०वी०—धर्मशास्त्र का इतिहास, जिल्द ३, पृ० १४९१।

३. वही, पृ० १४९१।

४. लाहा, विमलाचरण—प्राचीनभारत का ऐतिहासिक भूगोल, पृ० ४९८

५. जैन, जगदीशचन्द्र—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ६५।

६. लाहा, विमलाचरण—पूर्वोक्त, पृ० ४९८।

लेखों में से एक शिलालेख यहीं से प्राप्त हुआ है।^१ शक क्षत्रप उषा-बद्धात के एक अभिलेख में इस नगरी की चर्चा है।^२ एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र और बन्दरगाह होने के कारण भी इसका बड़ा महत्त्व रहा। यहाँ बहुत से व्यापारी निवास करते थे और व्यापार के लिये भृगुकच्छ और सुवर्णभूमि तक जाते थे।^३

मध्यकालीन जैन साहित्य में इस नगरी का एक जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख प्राप्त होता है। जैन परम्परानुसार आचार्य नागेन्द्रसूरि, चन्द्रसूरि, निवृत्तसूरि और विद्याधरसूरि का यहाँ जन्म हुआ था, इसी-लिये यह नगरी जैन तीर्थ के रूप में प्रसिद्ध हुई।^४ आचार्य वज्रसेन, आर्य समुद्र और आर्य मंगु ने यहाँ विहार किया था।^५

सिद्धसेनसूरि द्वारा रचित सकलतीर्थस्तोत्र (१०६७ ई० सन्)^६ में कोंकण देश का जैन तीर्थ के रूप में उल्लेख मिलता है। चूँकि इस देश (कोंकण) की राजधानी सूर्यारक नगरी थी, अतः यह अनुमान लगाया जा सकता है कि अप्रत्यक्ष रूप से उक्त उल्लेख इसी नगरी के लिये प्रयुक्त हुआ होगा।

पुरातनप्रबन्धसंग्रह^७ (प्रति-बी०, तिथि वि०सं० १५०० लगभग) और प्रबन्धकोश^८ (वि०सं० १४०५) में यहाँ जीवन्त स्वामी ऋषभदेव के जिनालय होने का उल्लेख है। मुनिप्रभसूरि द्वारा रचित “अष्टोत्तरीतीर्थमाला”^९ (१४वीं शती वि० सं०), विनयप्रभउपाध्याय कृत तीर्थयात्रास्तवन^{१०} (१४वीं शती वि०सं०) और मेघाकृत तीर्थमाला (१५वीं शती वि०सं०) आदि में भी यहाँ स्थित जीवन्तस्वामी ऋषभदेव

१. माथुर, विजयेन्द्र कुमार—ऐतिहासिक स्थानावली, पृ० ९०६-९०७।
२. वही, पृ० ९०६।
३. जैन, जगदीशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ६५।
४. त्रिपुठी महाराज—जैनपरम्परानो इतिहास, खंड २, पृ० ३३७।
५. जैन, जगदीशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ६५।
६. पत्तनस्थप्राच्यजैनभण्डागारीयग्रन्थसूची, पृ० १५५-५६।
७. “कुमारपालदेवतीर्थयात्राप्रबन्ध” पुरातनप्रबन्धसंग्रह, पृ० ४२।
८. “हेमसूरिप्रबन्ध” प्रबन्धकोश, पृ० ४८।
९. जैनसत्यप्रकाश,—जिल्द १९, पृ० ६४-६६।
१०. वही,—जिल्द १७, पृ० १५-२२।

की चर्चा है। जिनप्रभसूरि ने भी इसी तथ्य का उल्लेख किया है। इसप्रकार स्पष्ट है कि विक्रमीय १५ वीं शती तक यह नगरी एक जैनी तीर्थ के रूप में विद्यमान रही।^१

आज यहाँ कोई भी (प्राचीन और मध्यकालीन) जैन पुरावशे विद्यमान नहीं है। यहाँ स्थित जिनालय भी अर्वाचीन है।^२ ऐसा प्रतीत होता है कि जब इस नगरी का महत्व कम होने लगा, तो यहाँ के जैन श्रावक दूसरे स्थानों पर चले गये और यह नगरी प्रायः उज सी गयी।

सूरारक की पहचान वर्तमान महाराष्ट्र प्रान्त की राजधानी बम्बईइ से ३७ मील दूर उत्तर में ठाणा जिलान्तर्गत वर्तमान सोपारा से क जाती है।^३

आ-आन्ध्रप्रदेश

- (१) आमरकोण्डपद्मावतीदेवीकल्प
- (२) कुल्लपाकमाणिक्यदेवकल्प
- (३) श्रीपर्वत

१०. आमरकोण्डपद्मावतीदेवीकल्प

पूर्व मध्ययुगीन दक्षिण भारतीय राजनीति में काकतीयों का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रारम्भ में ये पूर्वी चालुक्यों का सामन्त थे; परन्तु जब उनकी शक्ति क्षीण होने लगी, तब इन्होंने अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित कर लिया। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के “आमरकोण्डपद्मावतीदेवीकल्प” के अन्तर्गत इस राजवंश की उत्पत्ति, वंश-परम्परा आदि का सुन्दर विवरण प्रस्तुत किया है, जो संक्षेप में इस प्रकार है—

“तैलंग देश में आमरकोण्ड नामक एक नगरी है। यहाँ मेघचन्द्र नामक एक दिगम्बर जैनाचार्य रहते थे। देवी पद्मावती उन्हें प्रत्यक्ष थीं, जिनकी कृपा से आचार्य के एक शिष्य “माधव” को राज्य लक्ष्मी प्राप्त हुई, तत्पश्चात् माधवराज ने आमरकोण्ड में देवी का मंदिर बनवाया और १२ ग्राम भेंट में दिये। माधवराज के वंश में पुरटिरि-

१. जैनयुग—जिल्द २, पृ० १५२-१५८।
२. त्रिपुटी महाराज,—पूर्वोक्त, पृ० ३३७।
३. जैन, जगदीशचन्द्र—पूर्वोक्त, पृ० ६५।

त्तमराज, पिण्डिकुण्डमराज, प्रोल्लराज, रुद्रदेव, गणपतिदेव हुए । गणपतिदेव के पश्चात् उसकी पुत्री रुद्राम्बा ने ३५ वर्ष तक शासन किया और इसके बाद प्रतापरुद्रदेव ने राज्य किया । ये काकती ग्राम के मूल निवासी थे, इसीलिए यह वंश काकतीयवंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।^१

आमरकोण्ड को वर्तमान आन्ध्रप्रदेश के वारङ्गल जिलान्तर्गत स्थित अनमकोण्ड से समीकृत किया जाता है । यहाँ कदलालय देवी का मंदिर है, जो इस समय ब्राह्मणों के अधिकार में है । इस मंदिर से ई० सन् १११७ का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है^१ जिसमें प्रोल 'द्वितीय' (ई० सन् ११५०) के मंत्री पैगडे की पत्नी मेलाम्बा द्वारा इस मंदिर का निर्माण कराने और कुछ भूमि दान में देने एवं उग्रवाडि के 'मेळरस' द्वारा भी भूमिदान देने का उल्लेख है । इसी लेख में मेळरस को माधववर्मा का, जिसके पास कई लाख हाथी-घोड़े थे, पूर्वज बतलाया गया है ।

उक्त अभिलेख से जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित माधवराज की ऐतिहासिकता सिद्ध होती है, परन्तु काकतीयों की मुख्य शाखा की जो वंशावली हमें प्राप्त होती है उसमें इस राजा का नाम नहीं मिलता और दूसरे किसी भी अन्य साक्ष्य से काकतीयों को किसी जैन आचार्य के प्रभाव से सत्ता में आने की कोई सूचना नहीं मिलती । अतः ऐसी परिस्थिति में यही मानना चाहिए कि माधवराज काकतीयों की मुख्य शाखा का न होकर किसी उपशाखा से सम्बन्धित था और जैन आचार्यों के प्रभाव से ही उसे राजसत्ता प्राप्त हुई । जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित पुरंठिरित्तमराज और पिण्डिकुण्डमराज भी काकतीयों की उपशाखा से ही संबद्ध रहे । इसी उपशाखा के मेळरस को हम प्रोल^२ के महामण्डलेश्वर के रूप में देखते हैं जो अपने पूर्वजों को बड़े आदर के साथ उल्लिखित करता है । इस आधार पर यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि काकतीयों की यह उपशाखा एक दिगम्बर जैन आचार्य के सहयोग से ही राजसत्ता प्राप्त कर सकी थी । जिनप्रभ द्वारा उल्लिखित प्रोल से प्रतापरुद्र तक के राजा काकतीयों की मुख्य शाखा के ही हैं । इसी प्रकार उन्होंने रुद्राम्बा के ३५ वर्षीय शासन का जो उल्लेख किया है, वह भी इतिहाससिद्ध है ।^२

१. एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द ९, पृ० २५६ ।

२. मजुमदार और पुसालकर—द स्ट्रिंगिल फार एम्पायर, पृ० ८६३ ।

माधवराज द्वारा निर्मित पद्मावती का मंदिर, जिसका जिनप्रभ ने उल्लेख किया है, आज विद्यमान नहीं है। परन्तु उसके वंशज मेळरस के समय "अनमकोण्ड" की पहाड़ी पर ही निर्मित कदलालय (पद्मावती) देवी का मन्दिर आज अवश्य विद्यमान है,^१ जो माधवराज (माधववर्मा) के गौरव का आज भी स्मरण दिला रहा है।

काकतीय नरेश वैष्णव धर्मावलम्बी थे, अतः इसी धर्म को उन्होंने प्रश्रय दिया। यद्यपि जैन धर्म का भी यहाँ अस्तित्व था, जैसा कि उक्त लेख से स्पष्ट होता है। परन्तु वैष्णव और शैवधर्मों से अपेक्षाकृत उसकी स्थिति दुर्बल थी। गणपतिदेव (ई० सन् ११९९-१२६२) के शासनकाल में तो टिक्कन सोमैय्य, जो तेलगू महाभारत का रचयिता माना जाता है, ने जैनों को एक शास्त्रार्थ में बुरी तरह परास्त कर दिया गया था।^२ इस घटना से जैनों की प्रतिष्ठा को बड़ा धक्का लगा। इस प्रकार हम देखते हैं कि आन्ध्रप्रदेश के अन्य स्थानों की भाँति १२-१३ वीं शती में अनमकोण्ड में भी जैन धर्म अपने प्रतिद्वन्दियों के विरोध के कारण विषम स्थिति से गुजर रहा था।

२. कुल्पाकमाणिक्यदेवकल्प

कुल्पाक जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है, जो वर्तमान आन्ध्रप्रदेश की राजधानी हैदराबाद से ४५ मील उत्तर-पूर्व में स्थित है। जिनप्रभ सूरि ने कल्पप्रदीप के अन्तर्गत इस तीर्थ पर एक स्वतन्त्र कल्प लिखा है, जिसमें उन्होंने इसकी उत्पत्ति एवं माणिक्यस्वामी की प्रतिमा का पौराणिक इतिहास दिया है। उनके विवरण की प्रमुख बातें इस प्रकार हैं—

“पूर्व काल में भरत चक्रवर्ती ने अष्टापद पर्वत पर जिन ऋषभदेव की माणिक्य की एक प्रतिमा निर्मित करायी, जो माणिक्यदेव के नाम से प्रसिद्ध हुई। इस प्रतिमा को सर्वप्रथम विद्याधरों, फिर इन्द्र और उसके पश्चात् रावण ने अपने-अपने यहाँ लाकर उसकी

१. जोहरापुरकर, विद्याधर—संपा० जैन शिलालेख संग्रह, भाग ४, पृ० १४५।

२. सालेटोर, बी०ए०—मिडुवल जैमिज्म, पृ० २७२।

भूजा की। लंकादहन के समय वह प्रतिमा समुद्र में डाल दी गई। बहुत काल बीतने पर कन्नड़ देशान्तर्गत कल्याण नगरी के राजा शंकर ने पद्मावती के सहयोग से उक्त प्रतिमा प्राप्त की और उसे तैलंग देश के कुल्पाक नामक नगरी में एक नवनिर्मित जिनालय में स्थापित कर दी और उसके व्यय हेतु १२ ग्राम प्रदान किया। वि० सं० ६८० पर्यन्त यह प्रतिमा अधर में रही, तत्पश्चात् यवन राज्य स्थापित हो जाने पर यह प्रतिमा सिंहासनारूढ़ हुई। प्रतिमा अत्यन्त चमत्कारी है, उसके नण्हव कराये गये जल से सिंचित आरती नहीं बुझती और चर्मरोगादि नष्ट हो जाते हैं।”

जिनप्रभसूरि के उपरोक्त विवरण में ऐतिहासिक तथ्य इतना ही है कि कल्याणी के राजा शंकर द्वारा तैलंगदेश के कुल्पाक नगरी में माणिक्यस्वामी की प्रतिमा स्थापित की गई। कल्याणी का राजा शंकर कौन था? कुछ विद्वानों^१ के अनुसार यह राजा कल्याणी का कल्चुरीवंशीय संकम ‘द्वितीय’ था, जिसने ई० सन् ११७७ से ई० सन् ११८० तक राज्य किया।^२ परन्तु पर्याप्त कारणों के अभाव में यह मत पूर्णतया स्वीकार नहीं किया जा सकता। उदयकीर्ति-१२वीं-१३वीं शती, गुणकीर्ति-१५वीं शती, सुमतिसागर-१६वीं शती, जयसागर-१७वीं शती एवं ज्ञानसागर-१६-१७ वीं शती आदि दिगम्बर^३ तथा शीलविजय-१७ वीं शती जैसे श्वेताम्बर जैन ग्रन्थकारों^४ ने इस तीर्थ को एक दिगम्बर केन्द्र के रूप में उल्लिखित किया है। यद्यपि जिनप्रभ इसका उल्लेख मात्र एक जैन तीर्थ के रूप में करते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि इस तीर्थ का सबसे प्राचीन उल्लेख १२-१३वीं शती का है। संभवतः इसी समय यह तीर्थ अस्तित्व में आया होगा। जिनप्रभ ने प्रतिमा के चमत्कारों एवं वि० सं० ६८० के पश्चात् यहाँ राज्य स्थापित होने का जो उल्लेख किया है उसे उनकी व्यक्तिगत श्रद्धा एवं कल्पना पर ही आधारित माना जा सकता है।

१. जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १३२।

२. मजुमदार और पुसालकर—द स्ट्रगिल फार एम्पायर, पृ० १८१-१८२

३. जोहरापुरकर—वही, पृ० १३२।

४. शीलविजयकृत—“तीर्थमाला” प्राचीनतीर्थमालासंग्रह (संपा० विजय धर्म-सूरि) के अन्तर्गत प्रकाशित।

आज यहाँ जो जिनालय विद्यमान है वह प्राचीन तो है, परन्तु बार-बार के पुनर्निर्माण से उसकी मौलिकता पूर्णतया लुप्त हो गई है। जिनालय में वि०सं० १३३३ से लेकर वि० सं० १७६७ तक के लेख विद्यमान हैं,^१ जो यहाँ आये तीर्थयात्रीसंघों द्वारा कराये गये निर्माण एवं पुनर्निर्माण के अवसरपर उत्कीर्ण कराये गये हैं। वर्तमान युग में इसका पुनर्निर्माण वि० सं० १९५५-५६ में शान्तिविजयसूरि द्वारा सम्पन्न कराया गया है।^२

३. श्रीपर्वत

श्रीपर्वत जिसे श्रीशैलपर्वत भी कहते हैं, आन्ध्रप्रदेश के कर्नूल जिले में विद्यमान है। इसकी गणना १२ प्रसिद्ध ज्योतिर्लिङ्गों में की जाती है। जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रह-कल्प के अन्तर्गत इस तीर्थ की चर्चा की है और यहाँ स्थित मल्लिनाथ और घण्टाकर्ण महावीर के जिनालयों का उल्लेख किया है।

श्रीशैलपर्वत आज एक प्रसिद्ध शैव केन्द्र के रूप में विख्यात है। आज यहाँ जैनों का कोई अस्तित्व भी विद्यमान नहीं है। परन्तु यहाँ स्थित शिवालय में मुखमंडप के दोनों ओर के स्तम्भों पर शक सं० १४-३३ माघ वदि १४/ई० सन् १५१२ का संस्कृत भाषामय एक लेख उत्कीर्ण है^३ जिसके अनुसार उक्त शिवालय के पुजारी ने श्वेताम्बरों के शीश कटवा दिये। इस बात को उक्त लेख में बड़ी प्रशंसा के साथ लिखा गया है। इसी प्रकार यहीं से प्राप्त एक अन्य अभिलेख^४ में, जो ई० सन् १५२९ में उत्कीर्ण कराया गया, एक शैव भक्त स्वयं को “श्वेताम्बरों के लिये काल” के रूप में उल्लिखित करता है। इन उल्लेखों से जिनप्रभसूरि की बात का अप्रत्यक्ष रूप से समर्थन होता है और यह स्पष्ट हो जाता है कि १६वीं शती के प्रथमचरण के पूर्व तक यहाँ श्वेताम्बरों का अस्तित्व रहा। परन्तु शैव धर्मावलम्बियों विशेषकर

१. विस्तार के लिए द्रष्टव्य—जैनसत्यप्रकाश, (गुजराती शोधपत्रिका)

जिब्द ६ में प्रकाशित श्री ज्ञानविजय जी का लेख “श्रीकुल्पाकतीर्थ”।

२. वही।

३. सालेटोर, बी०ए०—मिडुवल जैनज्म, पृ० ३१९।

देसाई, पी०बी०—जैनज्म इन साउथ इंडिया, पृ० २३।

४. देसाई—वही पृ० ४०२।

वीरशैवों को एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शैव तीर्थस्थान के निकट जैनों की उपस्थिति असह्य हो गयी होगी और उन्होंने यहाँ के समस्त श्वेताम्बरो की हत्या कर दी।^१ इस प्रकार श्रीशैलम् (श्रीपर्वत) से सदैव के लिये जैनों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया।

स-कर्णाटक

- (१) किष्किन्धा
- (२) दक्षिणापथ गोम्मटेश्वर बाहुबलि
- (३) शंखजिनालय

१. किष्किन्धा

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत लंका, पाताललंका आदि के साथ किष्किन्धा का भी उल्लेख किया है और यहाँ भगवान् शान्तिनाथ के मंदिर होने की बात कही है।

जैन पौराणिक साहित्य और रामायण में उल्लिखित किष्किन्धा को वर्तमान में पम्पा (कर्णाटक प्रान्त के बेलारी जिलान्तर्गत आधुनिक हम्पी) के निकट स्थित माना जाता है।

जैन पौराणिक साहित्य में इस स्थान का उल्लेख तो मिलता है, परन्तु जिनप्रभसूरि को छोड़कर किसी अन्य जैन ग्रन्थकार ने स्पष्टरूप से जैन तीर्थ के रूप में इस स्थान का उल्लेख नहीं किया है। चूँकि जैन पौराणिक कथाओं में वर्णित होने के कारण ये स्थान पवित्र माने जाते रहे होंगे, अतः जिनप्रभसूरि ने वहाँ जैन तीर्थ होने की कल्पना कर ली होगी।

१. वीर शैवों द्वारा जैनों के बस्तियों को नष्ट करने, उनके मंदिरों एवं प्रतिमाओं को क्षतिग्रस्त करने, उन्हें शास्त्रार्थ में अनीतिपूर्वक पराजित कर अपमानित करने आदि ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिससे सिद्ध हो जाता है कि उनके द्वारा जैनों को अत्यधिक क्षति पहुंचायी गयी। इस सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य—सालेटोर, बी०ए० “मिडुवल जैनजम” पृ० २८०-२८२।
 २. सरकार, दिनेशचन्द्र—स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ ऐन्शेंट एण्ड मिडुवल इण्डिया (द्वि० संस्करण) पृ० ३०८।
 ३. पउमचरिउ—विमलसूरि (ई० सन् छठीं शती) ८।२२९; ९।२४; ४७।१, ३३; ९०।१६; आदि;
- जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १२८।

२. दक्षिणापथ गोम्मटेश्वरबाहुबलि

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत दक्षिणापथ के गोम्मटदेव का भी उल्लेख किया है।

वर्तमान में कर्णाटक प्रदेश के ३ स्थानों-श्रवणवेलगोला, कारकल और वेणूरु में गोम्मट प्रतिमायें हैं। श्रवणवेलगोला स्थित गोम्मट प्रतिमा को ई० सन् १८३ में गंग नरेश के सेनापति चामुण्ड राय द्वारा निर्मित कराया गया। शेष दो प्रतिमायें ई० सन् १४३२ और ई० सन् १५०४ में स्थापित करायी गयीं।^१ चूंकि जिनप्रभसूरि के समय तक केवल श्रवणवेलगोला के गोम्मटदेव ही अस्तित्व में आये थे, अतः यह मानने में कोई आपत्ति नहीं कि जिनप्रभ ने दक्षिणापथ के जिस गोम्मटदेव का उल्लेख किया है वह श्रवणवेलगोला के गोम्मटेश्वर बाहुबलि ही हैं।

श्रवणवेलगोला दिगम्बर जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। इसे जैन-बद्री, जैन काशी और गोम्मटतीर्थ भी कहा जाता है।^२ यहाँ स्थित गोम्मटदेव की प्रतिमा ५७ फुट ऊँची है।^३ दिगम्बर परम्परानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त मौर्य ने यहीं आकर तपस्या की^४ और सल्लेखना विधि से यहीं पर शरीर का भी त्याग किया। श्रवणवेलगोला और उसके समीपवर्ती ग्रामों से लगभग ५०० शिलालेख प्राप्त हुए हैं, जो ई० सन् की छठीं शती से लेकर ई० सन् की १८वीं शती तक के हैं।^५ इसप्रकार स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही यह स्थान एक प्रसिद्ध दिगम्बर तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित रहा है।

३. शंखाजिनालय

जिनप्रभसूरि ने कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रहकल्प के अन्तर्गत शंख जिनालय का भी उल्लेख किया है और यहाँ नेमिनाथ के मंदिर होने की बात कही है।

१. शर्मा, एस०आर०—जैनज्म एण्ड कर्णाटक कल्चर, पृ० १०३।
२. वही, पृ० १०३।
३. जैन, जगदीश चन्द—भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, पृ० ६७।
४. वही, पृ० ६७।
५. जैन, हीरालाल—संपा० जैन शिलालेख संग्रह, प्रथमभाग में यहां से प्राप्त प्रायः सभी लेख प्रकाशित हैं। श्रवणवेलगोला के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण के लिये द्रष्टव्य—उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना।

शंख जिनालय को कर्णाटक प्रान्त के धारवाड़ जिलान्तर्गत लक्ष्मेश्वर तीर्थ में स्थित शंखवसति से समीकृत किया जा सकता है। लक्ष्मेश्वर दिगम्बर जैनों का एक प्रसिद्ध तीर्थ है। पूर्वकाल में इसे पुरिकरनगर, पुरिगेरे, पुलिगेरे आदि नामों से जाना जाता रहा।^१ मध्य-युगीन कुछ दिगम्बर जैन ग्रन्थकारों ने इस तीर्थ का उल्लेख किया है।^२ मध्ययुग में यहाँ कई प्राचीन जिनालय विद्यमान थे, जिनके खंडहरों से अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं, जो ८वीं से १६वीं शती ई०सन् के मध्य के हैं।^३ इन लेखों में जैन आचार्यों और उनके गच्छों, शाखाओं आदि का तथा तत्कालीन शासकों एवं निर्माताओं का उल्लेख मिलता है।^४ इन लेखों से पता चलता है कि यहाँ अनेक जिनालय विद्यमान थे, जिनमें से कुछ के नाम इस प्रकार हैं—शंखवसति, तीर्थवसति, मुक्करवसति, राचमल्लवसति गंगकण्डरप्पजिनालय, गंगपरमादिचैत्यालय अथवा परमादि वसति, श्रीविजयवसति, मरुदेवीमंदिर, धवलजिनालय, गोगियवसति, अनिसेज्जयवसति और शान्तिनाथजिनालय आदि। यह उल्लेखनीय है कि उक्त जिनालयों के नामों में अधिकांश तो गंग राजकुमारों के नाम के आधार पर हैं; जैसे गंग परमर्दी वेतुग 'द्वितीय' की उपाधि थी और राचमल्ल गंग नरेश था। इसी प्रकार गंग कन्दरप्प मारसह की उपाधि थी।^५ ऐसा प्रतीत होता है कि इनमें शंखवसति सबसे अधिक प्राचीन और महिम्न जिनालय था, ऐसी परिस्थिति में १४वीं शती में उत्तर भारत के एक ऐसे जैन ग्रन्थकार द्वारा, जिन्होंने निष्पक्ष भाव से जैन तीर्थों पर एक विशिष्ट ग्रन्थ लिखा हो, इस तीर्थ का उल्लेख करना स्वाभाविक है। उपरोक्त वसतियों (जिनालयों) में से शंखवसति तथा कुछ अन्य वसतियाँ ही आज विद्यमान हैं।^६

१. देसाई, पी०वी०—जैनज्म इन साउथ इण्डिया, पृ० ३८८।

२. जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दनसंग्रह, पृ० १७१-७२।

३. देसाई, पी०वी०—पू०कोश, पृ० १३५-३७; १४४, २५१, ३८८।

४. वही, पृ० ३८८।

५. वही, पृ० ३८८।

६. वही, पृ० ३८८।

केरल

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इस प्रान्त के केवल एक तीर्थ का उल्लेख है और वह है 'मलयगिरि'।

१. मलयगिरि

कल्पप्रदीप के चतुरशीतिमहातीर्थनामसंग्रह कल्प के अन्तर्गत इस पर्वत का भी उल्लेख है और कहा गया है कि यहाँ श्रेयांसनाथ और पार्श्वनाथ के जिनालय विद्यमान हैं।

मलयगिरि को पूर्वी और पश्चिमीघाट के मध्य ट्रावनकोर की पहाड़ियों से समीकृत किया जाता है।^१ जैन पौराणिक साहित्य में इस स्थान का उल्लेख तो मिलता है^२, परन्तु जैन तीर्थ के रूप में जिनप्रभ सूरि के पूर्ववर्ती किसी अन्य जैन ग्रन्थकार ने इसका उल्लेख किया हो, ऐसा अभी तक देखने में नहीं आया है। पौराणिक कथाओं में उल्लिखित होने के कारण इस पर्वत की पवित्रता और महत्त्व तो निर्विवाद है, अतः ऐसी स्थिति में वहाँ जिनालयों के होने की जिनप्रभ की मान्यता को पूर्णतः अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता है, हो सकता है उनके समय में यहाँ उक्त तीर्थङ्करों के जिनालय विद्यमान रहे हों किन्तु उनका आज कोई भी अवशेष नहीं मिलता।

१. सरकार, दिनेशचन्द्र—स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ ऐन्शेंट एण्ड मिडुवल इण्डिया, पृ० ११५।

२. पउमचरिउ (विमल—ई० सन् ६ठीं शती) ३३।१४१, आदिपुराण (रचनाकार-जिनसेन-ई० सन् ९वीं शती का उत्तरार्द्ध) २१।८८; ३६।२६।

सहायक ग्रन्थसूची

प्रस्तुत सूची में उन सभी ग्रन्थों और शोधपत्र आदि का समावेश है जिनका लेखक ने शोधप्रबन्ध तैयार करने में सदुपयोग किया है। ग्रन्थसूची मुख्यतः दो भागों में विभाजित है - मूल स्रोत और आधुनिक साहित्य। मूल स्रोत सामग्री, जैन आगम, आगमबाह्यजैनग्रन्थ, ग्रन्थ-प्रशस्तियां, ग्रन्थसूची, पट्टावली और वंशावली, जैन अभिलेख सम्बन्धी ग्रन्थ और ब्राह्मण तथा बौद्ध ग्रंथों के रूप में विभाजित है। इनमें से प्रत्येक वर्ग में ग्रंथों को उनके नाम के वर्णमालाक्रम के अनुसार संग्रहीत किया गया है। आधुनिक ग्रंथ सूची में सामग्री का संकलन लेखकों के नाम के क्रम के अनुसार है और सुविधा के लिये प्रत्येक लेखक के ग्रंथों और शोधपत्रों को एक साथ ही रखा गया है।

जैन आगम

- अन्तऋद्दशा (अन्तगडदसाओ), संपा०पी०एल० वैद्य, पूना, १९३२ ई०;
— टीका (अभयदेव), संपा०एम० सी० मोदी, अहमदाबाद १९३२ ई०।
- आचाराङ्ग (आयाराङ्ग), संपा० मुनि श्री जम्बूविजय, बम्बई, ई० १९७७
— नियुक्ति, (भद्रबाहु), सूरत, १९४१ ई०;
— चूर्णी, (जिनदासगणि), रतलाम, १९४१;
— वृत्ति, (शीलाङ्क), सूरत, १९३५ ई०;
— अंग्रेजी अनुवाद, हर्मेन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स अफ द ईस्ट, जिल्द २२, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६४ ई०।
- आवश्यक (आवस्सय), संपा० मुनि कन्हैयालाल, अनुवादक, घासी-लाल, राजकोट (सौराष्ट्र), द्वितीय संस्करण, १९५८ ई०।
— नियुक्ति, (भद्रबाहु) भाग १-२, सूरत, १९४१ ई०
— चूर्णी, (जिनदासगणि) भाग १-२; रतलाम, १९२८-२९ ई०
— टीका, (हरिभद्र), आगमोदय समिति, बम्बई, १९१६ ई०;

- टीका (मलयगिरि), भाग १, बम्बई १९२८ ई०;
भाग २, बम्बई १९३२ ई०;
भाग ३, सूरत १९३६ ई० ।

उत्तराध्ययन (उत्तरज्ज्ञयण), संपा० साध्वी चन्दना, आगरा, १९७२ ई०;

- निर्युक्ति (भद्रवाहु)
- चूर्णी (संघदासगणि), रतलाम, १९३३ ई०;
- टीका (शान्तिसूरि), बम्बई, १९१६ ई०;
- अंग्रेजी अनुवाद, हर्मन जैकोबी, सैक्रेट बुक्स ऑफ द ईस्ट, जिल्द ४५, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६४ ई० ।

उपासगदशा (उवासगदसाओ)--संपा० मुनि मधुकर, व्यावर, १९८० ई०;

औपपातिक (उववाई सूत्र), संपा० अनुवादक, अमोलकऋषि, हैदराबाद, वीर सम्बत् २४४२-४६ ।

कल्पसूत्र (पञ्जोसणाकप्प), संपा० और हिन्दी अनुवादक-महोपाध्याय विनयसागर, जयपुर, १९७७ ई०;

- टीका (समयसुन्दर गणि), बम्बई, १९३९ ई०;
- अंग्रेजी अनुवाद, हर्मन जैकोबी, सैक्रेट बुक्स ऑफ द ईस्ट, जिल्द २२, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९६४ ई० ।

ज्ञानधर्मकथा (नायाधम्मकहा) संपा० मुनिमधुकर, व्यावर १९८० ई०;

- टीका (अभयदेव), आगमोदय समिति, बम्बई, १९१९ ई०

दसवैकालिक (दसवेयालिय), संपा० अनुवादक--आत्माराम जी, लाहौर, १९४६ ई०;

- चूर्णी, (जिनदासगणि), रतलाम, १९३३ ई० ।
- वृत्ति (हरिभद्र), बम्बई, १९१८ ई०;

निरयावलिया--संपा० मुनि कन्हैयालाल जी, हिन्दी अनु०, घासीलाल जी, राजकोट (सौराष्ट्र), द्वि०सं० १९६० ई०;

निशीथ--

- चूर्णी (जिनदासगणि), संपा० उपाध्याय अमर मुनि तथा मुनि कन्हैयालाल, भाग १-४, आगरा, १९५७-६० ई०;

बृहत्कल्प (कप्प), संपा० और हिन्दी अनुवादक—अमोलकऋषि,
हैदराबाद, वीर सम्बत् २४४५;

— भाष्य (संघदासगणि)

— टीका (मलयगिरि तथा क्षेमगिरि), संपा० मुनि पुण्य-
विजय, भाग १ ६, भावनगर, १९३३-३८ ई० ।

मरणसमाधि (मरणसमाहि) आगमोदय समिति, बम्बई, १९२७ ई० ।

राजप्रश्नीय (रायपसेणइ) संपा० — मुनि कन्हैयालाल जी; भाग १-२,
हिन्दी अनुवादक, घासीलाल जी, राजकोट, (मौराष्ट्र)
१९६५ ई० ।

विपाकयूत्र (वियागसुय) मूल और हिन्दी अनुवाद, संपा० अनु०-
मुनि आनन्द सागर, कोटा (राजपूताना), १९३५ ई०;

— टीका (अभयदेव), बड़ौदा, वि०सं० १९२२;

व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती) मूल और वक्ति (अभयदेव) सहित, द्वितीय
संस्करण, रतलाम, १९३७ ई० ।

समवायांग — संपा० मुनि मधुकर, व्यावर, १९८२ ई०;

— टीका (अभयदेव), अहमदाबाद, १९३८ ई०;

सूत्रकृताङ्ग (सूयगडं), संपा० मुनि मधुकर, व्यावर, १९८२ ई०;

— निर्युक्ति, (भद्रबाहु)

— चूर्णी (जिनदासगणि), रतलाम, १९४१ ई०;

— अंग्रेजी अनुवाद, हर्मन जैकोबी, सैक्रेड बुक्स ऑफ द
ईस्ट, जिल्द ४५, द्वि०सं० दिल्ली, १९६४ ई० ।

स्थानाङ्ग (ठाणांग), संपा० मुनि मधुकर, व्यावर, १९८१ ई०;

— टीका (अभयदेव), अहमदाबाद, १९३७ ई० ।

अंग बाह्य जैन साहित्य

अभिधानचिन्तामणि (हेमचन्द्र), संपा०—हरगोविन्द दास बेचरदास,
भाग १-२, भावनगर, वीर सं० २४४१-६ ।

अभिधानराजे द्रकोश (विजयराजेन्द्रसूरि), रतलाम, १९१३-३४ ई० ।

अष्टोत्तरीतीर्थमाला (महेन्द्रसूरि), विधिपक्षीय पंचप्रतिक्रमणसूत्राणि,
वि० सं० १९८४ ।

- आख्यानक्रमणिकोश (आम्रदेवसूरि), संपा० मुनि पुण्यविजय, वाराणसी, १९६२ ई० ।
- आदिपुराण (जिनसेन), संपा० पन्नालाल जैन, वाराणसी, १९६३ ई०
- उत्तरपुराण (गुणभद्र), संपा० पन्नालाल जैन, वाराणसी, १९६८ ई०।
- उपदेशतरंगिणी (रत्नमन्दिरगणि), वाराणसी वीर सं० २४३७ ।
- उपदेशप्रासाद (विजयलक्ष्मीसूरि), राजनगर, १९३८ ई० ।
- उपदेशसप्तति: (सोमधर्मगणि), अहमदाबाद, वि०सं० १९९८ ।
- कुवलयमाला (उद्योततसूरि), संपा० ए० एन० उपाध्ये, भाग १-२, बम्बई, १९५९-७५ ई० ।
- कीर्तिकौमुदी (महाकवि सोमेश्वर) संपा० मुनि पुण्यविजय, बम्बई, १९६१ ई० ।
- कुमारपालचरितसंग्रह, संपा० जिनविजय मुनि, बम्बई, १९५६ ई० ।
- कुमारपालप्रतिबोध (सोमप्रभाचार्य) गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज नं० १४, बड़ौदा १९२० ई० ।
- गुर्वावली (मुनिसुंदरसूरि), यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, वाराणसी, वीर सम्बत् २४३७ ।
- चन्द्रप्रभचरित (वीरनन्दी), संपा० अमृत लाल शास्त्री, शोलापुर, १९७१ ई० ।
- जैनस्रोतसंदोह, संपा० अमर विजय मुनि, खण्ड १, अहमदाबाद, १९३२ ई० ।
- तत्त्वार्थसूत्र (उमास्वाति), संपा० पं० सुखलाल जी, बनारस, १९५२ ई० ।
- तिलोप्रपण्णति (यतिवृषभ ?), संपा० ए० एन० उपाध्ये, भाग १-२, शोलापुर, १९४३ ई० ।
- तीर्थमालास्तवन (विनयप्रभसूरि) संपा० अगरचन्द नाहटा, भंवरलाल नाहटा, जैनसत्यप्रकाश, वर्ष १७, पृ० १५-२२ ।
- धर्माभ्युदयमहाकाव्य (उदयप्रभसूरि), संपा० चतुर विजय एवं पुण्य-विजय, बम्बई, १९४२ ई० ।

- धर्मोपदेशमालाविवरण (जयसिंहसूरि), संपा० लालचन्द भगवान-
दास गांधी, बम्बई, १९४९ ई० ।
- निर्वाणकलिका (पादलिप्तसूरि), संपा० मोहनलाल भगवान दास,
बम्बई, १९२६ ई० ।
- पउमचरिउ (विमल), संपा० मुनि पुण्यविजय, भाग १-२, वाराणसी,
१९६२-६८ ई० ।
- पद्मपुराण (रविसेण) संपा०— पद्मा लाल जैन, भाग १-३ वाराणसी
१९५९ ई० ।
- परिशिष्टपर्व (हेमचन्द्र), संपा० हर्मन जैकोबी, कलकत्ता, १९३२ ई०
पार्श्वनाथचरित्र (भावदेवसूरि), संपा० हरगोविन्ददास तथा बेचरदास,
वाराणसी, १९११ ई० ।
- पासनाहचरिउ (पद्मकीर्ति), संपा० पी० के० मोदी, वाराणसी
१९६५ ई० ।
- पाइयसट्टमहणवो (पं० हरगोविन्ददास) संपा० वासुदेवशरण अग्रवाल
तथा दलमुख मालवणिया, द्वि०सं० वाराणसी, १९६३ ई० ।
- पुरातनप्रबन्धसंग्रह—संपा० मुनि जिनविजय, कलकत्ता, १९३६ ई० ।
- प्रतिष्ठासारोद्धार (आशाधर), संपा० मोहनलाल शास्त्री, बम्बई,
वि०सं० १९७४ ।
- प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग), संपा० मुनि जिनविजय, शान्तिनिकेतन,
१९३३ ई० ।
- प्रभावकचरित (प्रभाचन्द्र), संपा० मुनि जिनविजय, अहमदाबाद
कलकत्ता १९४० ई० ।
- प्रबन्धकोश (राजशेखर), संपा० मुनि जिनविजय, कलकत्ता, १९३५ ई०
प्राचीनतीर्थमालासंग्रह, संपा०—त्रिजयधर्मसूरि, भावनगर, वि० सं०
१९७८ ।
- वृहत्कथाकोश (हरिषेण), संपा० ए०एन० उपाध्ये, बम्बई, १९४३ ई०
वसुदेवहिण्डी (संघदासगणि), संपा० मुनिपुण्यविजय, भाग १-२, भाव-
नगर, १९३०-३१ ई० ।
- त्रिविधतीर्थकल्प (जिनप्रभसूरि), संपा० मुनि जिनविजय, कलकत्ता,
१९३४ ई० ।

- शासनचतुस्त्रिंशिका (मदनकीर्ति), संपा० दरबारी लाल कोठिया,
सरसावा, १९४९ ई० ।
- सकलतीर्थस्तोत्र (मुनिसुंदरसूरि) संपा० सी० डी० दलाल, गायकवाड़
ओरियण्टल सिरीज, जिल्द ७६, पृ० १५६-७ ।
- समराइच्चकहा (हरिभद्रसूरि), संपा० हर्मन जाकोबी, कलकत्ता,
१९२६ ई० ।
- सत्यपुरमहावीरजिनोत्साह (धनपाल), जैन साहित्य संशोधक, वर्ष
३, अंक ३, अहमदाबाद ।
- सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी (उदयप्रभसूरि), संपा० मुनिपुण्यविजय, बम्बई
१९६१ ई० ।
- सुकृतसंकीर्तन (अरिसिंह) संपा० मुनिपुण्यविजय, बम्बई, १९६१ ई० ।
- हरिवंशपुराण (जिनसेन), संपा० पन्नालाल जैन, वाराणसी,
१९६२ ई० ।
- त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित (हेमचन्द्र), अंग्रेजी अनुवादक-एच०
जानसन, भाग १-६, बड़ौदा १९३९-६२ ई० ।

प्रशस्तियाँ

- श्री प्रशस्तिसंग्रह, संपा० अमृतलाल मगनलाल शाह, अहमदाबाद,
सं० १९९३ ।
- जैनपुस्तकप्रशस्तिसंग्रह, संपा० मुनि जिनविजय, अहमदाबाद,
१९४९ ई० ।
- प्रशस्तिसंग्रह, संपा० पं० भुजबल शास्त्री, आरा, वि० सं० १९९९ ।
- जैनग्रन्थप्रशस्तिसंग्रह, संपा० जुगुल किशोर मुस्तार, दिल्ली, १९५४ ई० ।

ग्रन्थ सूची

- ए डिस्ट्रिक्टिव कैटलॉग ऑफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द जैन भण्डार्स ऐट
पाटन, संपा० सी० डी० दलाल, बड़ौदा, १९३७ ई० ।
- कैटलॉग ऑफ पाम-लीफ मैनुस्क्रिप्ट्स इन द शान्तिनाथ जैन भण्डार,
कैम्बे, भाग १-२ । संपा०-मुनि पुण्यविजय, बड़ौदा,
१९६१-१९६६ ई० ।
- कैटलॉग ऑफ संस्कृत एण्ड प्राकृत मैनुस्क्रिप्ट्स : जैसलमेर कलेक्शन,
संपा० मुनि पुण्यविजय, अहमदाबाद, १९७२ ई० ।

पट्टावलियाँ

पट्टावलीसमुच्चय, भाग १-२, संपा० त्रिपुटी महाराज, अहमदाबाद,
१९३३-१९५० ई० ।

खरतरगच्छबृहद्गुर्वावली, संपा० मुनि जिनविजय, अहमदाबाद,
१९५६ ई० ।

विविधगच्छीयपट्टावलीसंग्रह, संपा० मुनि जिनविजय, बम्बई १९६१ ।

विदेशी यात्रियों के विवरण

ह्वेनसांग ट्रवेलस इन इंडिया, थामस वाटर्स, प्रथम भारतीय पुनर्मुद्रण,
दिल्ली, १९६२ ई० ।

बुद्धिस्ट रिकार्ड ऑफ द वेस्टर्न वर्ल्ड सैमुवल वील, भाग १-४, प्रथम
भारतीय पुनर्मुद्रण, कलकत्ता, १९५७-१९५८ ई० ।

जैन अभिलेख सम्बन्धी ग्रन्थ

अर्बुदप्राचीनजैनलेखसंदोह, संपा० मुनि जयन्तविजय, उज्जैन,
वि० सं० १९९४ ।

अबुंदाचलप्रदक्षिणाजैनलेखसंदोह, मुनि जयन्तविजय, भावनगर
वि० सं० २००५ ।

जैनप्रतिमायन्त्रलेखसंग्रह, संपा० बाबू छोटेलाल जैन, कलकत्ता,
१९२३ ई० ।

जैनधातुप्रतिमालेख, संपा० मुनि कान्तिसागर, सूरत, १९५० ।

जैनलेखसंग्रह-भाग १-३, संपादक पूरनचन्द नाहर, कलकत्ता,
१९१८-२९ ई० ।

जैनशिलालेखसंग्रह, भाग १-५, संपा० डॉ० हीरालाल जैन तथा अन्य
बम्बई और वाराणसी १९२८-७१ ई०

प्रतिष्ठांशलेखसंग्रह, संपा० महोपाध्याय विनयसागर, कोटा १९५३ ई०
प्राचीनलेखसंग्रह, भाग १-२, सं० मुनि जिनविजय, भावनगर,
१९२१ ई० ।

बीकानेरजैनलेखसंग्रह, संपा० अगरचन्द्र नाहटा, भंवरलाल नाहटा,
कलकत्ता, १९५५ ई० ।

राधनपुरजैनलेखसंग्रह, संपा० मुनि विशालविजय, भावनगर,
१९६० ई० ।

श्रीजैनप्रतिमालेखसंग्रह, संपा० दौलत सिंह लोढ़ा, धामणिया मेवाड़,
१९५१ ई० ।

ब्राह्मणीय ग्रन्थ

अष्टाध्यायी (पाणिनि), संपा० श्रीशचन्द्र बसु, दिल्ली, १९६२ ई० ।

कथासरित्सागर (सोमदेव), बम्बई, १९३० ई० ।

हिन्दी अनुवाद, भाग १-२, अनुवादक—पंडित केदारनाथ
शर्मा, पटना, १९६०-६१ ई० ।

दशकुमारचरित (दण्डी), संपा० गोडवोले और शर्मा, बम्बई, १९३६
ई० ।

महाभारत (संपा०) बी० एस० सुकथणकर और एस० के० वेलवरकर
भाग १-१७, पूना, १९३३-६१ ई० ।

महाभाष्य (पतंजलि) संपा० कील हार्न, बम्बई, १८९२-१९०९ ई० ।

रामायण—अंग्रेजी अनुवादक, एम० एन० दत्त, कलकत्ता, १८९५-
१९०५ ई० ।

स्कन्दपुराण (भाग १-७), वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई वि० सं० १९०५-
१९६६ ।

विष्णुपुराण—अंग्रेजी अनुवादक, एच० एच० विल्सन, भाग १-५,
लन्दन, १८६४-७० ई० ।

बौद्ध ग्रंथ

डिक्शनरी ऑफ पाली प्रापर नेम्स—(भाग १-२), जी० पी० मलाल-
सेकर, लंदन, १९३७-३८ ई० ।

बुद्धचर्या—संपा० राहुल सांकृत्यायन, सारनाथ, बनारस, १९५२ ई० ।

आधुनिक ग्रंथ और लेख सूची

अग्रवाल, वासुदेवशरण—ए शार्ट गाइड बुक टू दि आर्कियोलॉजिकल सेक्सन ऑफ द प्राविन्सियल म्यूजियम, लखनऊ, १९५३ ई० ।

— 'जैन और वैष्णवों के मेल-मिलाप का एक शासनपत्र' प्रेमोअभिनन्दनग्रन्थ (टीकमगढ़ १९४६ ई०) पृ० २९०-९२ ।

— प्राचीन भारतीय लोकधर्म, अहमदाबाद, १९६४ ई० ।

— भारतीय कला, वाराणसी, १९७७ ई० ।

— 'मथुरापुरीकल्प', चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ (आरा १९५४ ई०) पृ० ३९७-४०२ ।

अनन्तकुमार—बुद्धकालीन राजगृह, पटना, १९७४ ई० ।

अमरचन्द—हस्तिनापुर, वाराणसी, १९५२ ई० ।

अमीन, जे० पी० खम्भातनुं जैन मूर्ति निधान, खम्भात, १९७९ ई० ।

अल्तेकर, ए० एस० — 'ए हिस्ट्री ऑफ इम्पार्टेंट ऐंशेंट टाउन्स एण्ड सिटीज ऑफ गुजरात एण्ड काठियावाड़', इण्डियन एन्टी-क्वेरी, जिल्द ३, ई० सन् १९२४-२५ पृ० १-५४ ।

— राठकूटाज एण्ड देयर टाइम्स द्वि० सं०, पूना, १९६७ ई० ।

आचार्य, जे० बी०, सं० हिस्टोरिकल इन्स्ट्रुप्सन्स ऑफ गुजरात, भाग १-३, बम्बई, १९३३-४२ ई० ।

आयंगर, रामास्वामी और राव, शेषगिरि—स्टडीज इन साउथ इंडियन जैनिज्म, भाग १-२, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, १९८२ ई० ।

उपाध्याय, भरत सिंह—बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, प्रयाग, वि० सं० २०१८ ।

कजिन्स, एच०—प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑफ आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, वेस्टर्न सर्किल, पूना, १८९९ ई० ।

- कर्निघम, ए०—द ऐन्शेंट ज्योग्राफी ऑफ इण्डिया, पुनर्मुद्रित, वाराणसी, १९६३ ई० ।
- काणे, पी० वी०—हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र (हिन्दी अनुवाद) भाग १-५, लखनऊ, १९६६-७५ ई० ।
- कालघाटगी, टी० जी०—जैनिज्म एण्ड कर्णाटक कल्चर, धारवाड़, १९७७ ई० ।
- क्राउझे, शार्लोटे संपा० ऐन्शेंट जैन हीम्स, उज्जैन, १९५२ ई० ।
- 'महाकाल मन्दिर और जैन धर्म' विक्रमसमृतिग्रन्थ, उज्जैन, वि० सं० २००१, पृ० ४०९-४४२ ।
- 'सिद्धसेनदिवाकर एण्ड जैनिज्म विक्रमवालयूम, उज्जैन १९४८ ई०, पृ० २१३-२८० ।
- कृष्णदेव—'मालादेवी टेम्पुल ऐट ग्यारसपुर,' श्रीमहावीर जैन विद्यालय गोलडेन जुबली वाल्यूम, बम्बई, १९६८ ई०, भाग २, पृ० २६०-६९ ।
- टेम्पुल्स ऑफ नार्थ इण्डिया, दिल्ली १९६९ ई० ।
- गुप्त, सरयू प्रसाद—महाभारत तथा पुराणों के तीर्थों का आलोचनात्मक अध्ययन, वाराणसी ।
- गोपानी, ए० एस०—'जैनिज्म इन गुजरात', भारतीय विद्या, वर्ष ९, बम्बई, (१९४८ ई०), पृ० २२९-४५ ।
- घोष, ए०—संपा० जैन कला और स्थापत्य, खंड १-३ नई दिल्ली, १९७५ ई० ।
- चक्रवर्ती, ए० — जैन लिटरेचर इन तमिल, नई दिल्ली, १९७४ ई० ।
- चटर्जी, ए० के०—ए काम्प्रिहेन्सिव हिस्ट्री ऑफ जैनिज्म, कलकत्ता, १९७८ ई० ।
- चन्दा, आर० पी०—'जैन रीमेन्स ऐट राजगृह', आर्कियोलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया-ऐनुवल रिपोर्ट, वर्ष १९२५-२६, पृ० १२१-२७ ।
- चन्द्रा, प्रमोद—स्टोन स्कर्लपचर्स इन इलाहाबाद म्यूजियम बम्बई, १९७० ई० ।

- चौधरी, जी० सी०—**पोलिटिकल हिस्ट्री आफ नार्थ इण्डिया फ्राम जैन सोर्सेज**, अमृतसर, १९६३ ई० ।
- जाकोबी, एच०—**जैन सूत्राज, भाग १, सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट** जिल्द २२, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, १९६४ ई० ।
- **जैन सूत्राज, भाग २; सैक्रेड बुक्स ऑफ द ईस्ट**, जिल्द ४५, पुनर्मुद्रित दिल्ली, १९६४ ई० ।
- जायसवाल, के० पी०—**“जैन इमेज ऑफ मौर्य पीरियड”** जर्नल ऑफ बिहार, उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी, खंड २३, भाग १, १९३७ ई०, पृ० १३०-३२ ।
- जिनविजय - **गुजरात का जैन धर्म, वाराणसी, १९४९ ई० ।**
- **जैन साहित्यनी झलक, बम्बई, १९६६ ई० ।**
- **राजर्षि कुमारपाल, वाराणसी, १९४९ ई० ।**
- जैन, कैलाशचन्द्र—**मालवा थ्रो द एजेज, दिल्ली, १९७२ ई० ।**
- **जैनिज्म इन राजस्थान, शोलापुर, १९६३ ई० ।**
- **ऐन्शेंट सिटीज एण्ड टाउन्स ऑफ राजस्थान, दिल्ली, १९७२ ई० ।**
- जैन, गोकुलचन्द्र—**यशस्वितलक का सांस्कृतिक अध्ययन, वाराणसी, १९६७ ई० ।**
- जैन, छोटेलाल—**जैन बिब्लियोग्राफी, प्रथम संस्करण, कलकत्ता, १९४२ ई० ।**
- जैन, जगदीशचन्द्र - **जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, वाराणसी, १९६५ ई० ।**
- **भारत के प्राचीन जैन तीर्थ, वाराणसी, १९५२ ई० ।**
- **प्राकृत साहित्य का इतिहास, वाराणसी, १९६१ ई० ।**
- **“जैन साहित्य का भौगोलिक महत्त्व” प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० २५०-२६८ ।**
- जैन, ज्योति प्रसाद - **हस्तिनापुर, लखनऊ, १९५५ ई० ।**
- **प्रमुख ऐतिहासिक जैन पुरुष और महिलायें, नई दिल्ली, १९७५ ई० ।**

- सं० श्रमण भगवान महावीर स्मृति ग्रन्थ, लखनऊ, १९७५ ई० ।
- जैन, बलभद्र—भारत के दिगम्बर जैन तीर्थ, भाग १-४, वाराणसी, १९७४-७८ ई० ।
- जैन भागचन्द्र—देवगढ़ की जैन कला, नई दिल्ली, १९७४ ई० ।
- जैन प्रेमसुमन - कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन, वैशाली, १९७५ ई० ।
- जैन, हीरालाल—भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, भोपाल, १९६२ ई० ।
- जैन, ज्ञानचन्द्र—निगंठ ज्ञातपुत्र, लखनऊ, १९७७ ई० ।
- जोशी, उमाशंकर—पुराणों मा ग्जरात, अहमदाबाद, १९४६ ई० ।
- जोशी, एन० पी० मथुरा की मूर्तिकला, मथुरा, १९६५ ई० ।
- जोहरापुरकर, विद्याधर—तीर्थवन्दन संग्रह, शोलापुर, १९६५ ई०
- भट्टारक सम्प्रदाय, शोलापुर, १९५८ ई० ।
- टाड, जेम्स—ट्रवेल्स इन वेस्टर्न इण्डिया (हिन्दी अनुवाद) जोधपुर, १९६५ ई० ।
- डे, नन्दोलाल—ज्योग्राफिकल डिक्सनरी ऑफ ऐन्शेंट एण्ड मिडुवल इण्डिया, पुनर्मुद्रित, नई दिल्ली १९७१ ई० ।
- ढाकी, एम०ए०--उज्जयन्तगिरि एण्ड जिन अरिष्टनेमि जर्नल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, न्यू सिरीज, जिल्द ६. कलकत्ता, १९८२ ई० पृ० १-३३ ।
- "द डेट ऑफ द डांसिंग हाल ऑफ द सन टेम्पुल मोढेरा", जर्नल ऑफ द एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बाम्बे, जिल्द ३८ (१९६३ ई०), न्यू सिरीज, पृ० २११-२२ ।
- "शान्तरा स्कल्पचर्स", जर्नल ऑफ इण्डियन सोसाइटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, जिल्द ४, (१९७०-७१ ई०), पृ० ७८-९७ ।
- 'लेट गुप्ता स्कल्पचर्स फ्राम अणहिलवाड़', बुलेटिन म्यूजियम एण्ड पिक्चर्स गैलरी, जिल्द १९, बड़ौदा, १९६५ ६६, पृ० १७-२८ ।

- 'द क्रोनोलाजी ऑफ सोलंकी टेम्पुल्स ऑफ गुजरात',
जर्नल ऑफ मध्यप्रदेश इतिहास परिषद, जिल्द ३, भोपाल
१९६१ ई० ।
- 'विमलवसहीनी तिथि समस्याओ', स्वाध्याय, जिल्द ९,
अंक ३, पृ० ३४९-६४ ।
- 'सम अर्ली जैन टेम्पुल्स ऑफ वेस्टर्न इण्डिया' श्रीमहावीर
जैन विद्यालय गोल्डन जुबली वाल्यूम, बम्बई, १९६८ ई०
भाग २, पृ० २९०-३४७ ।
- ढाकी, एम० ए० तथा भोजक, लक्ष्मण— शत्रुंजयगिरिना केटलाक
अप्रकट प्रतिमा लेखो' सम्बोधि, जिल्द ७, पृ० १३-२५ ।
- ढाकी, एम० ए० तथा शास्त्री, हरिप्रसाद— 'प्रभासपाटनमां प्राचीन जैन
मन्दिरो' स्वाध्याय, जिल्द ३, अंक ८ (बडौदा) १९६९ ई०,
पृ० ३२०-४१ ।
- 'वस्तुपाल तेजपालनी कीर्तिनात्मक प्रवृत्तियो' स्वाध्याय
जिल्द ४, अंक ३, पृ० ३०५-२० ।
- तिवारी, एम०एन०पी०— जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, १९८१ ई०।
- त्रिपुटी महाराज— जैन तीर्थोनो इतिहास, मेहसाणा, वि०सं० २००५ ।
- जैन परम्परानो इतिहास, भाग १-३, अहमदाबाद, १९६०-
६४ ई० ।
- त्रिवेदी, सी० बी०— दशपुर, भोपाल, १९७९ ई० ।
- दर्शनविजय, मुनि— पट्टावली समुच्चय, वीरग्राम, १९३३ ई० ।
- दवे, जे० एच०— इम्मार्टल इण्डिया, भाग १-४, बम्बई, १९५७-
६१ ई० ।
- द्विवेदी, हरिहरनिवास— ग्वालियर राज्य के अभिलेख, ग्वालियर,
१९४७ ई० ।
- देसाई, एम० डी०— गुर्जर जैन कविओ भाग १-३ बम्बई १९२८ ई०,
१९३१ ई०, १९४४ ई० ।
- जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९३३ ई० ।

देसाई, पी० बी०—जैनज्म इन साउथ इण्डिया, शोलापुर, १९५७ ई०
देव, एस० बी० हिरट्टी ऑफ जैन मोनाकिज्म, पूना, १९५६ ई० ।

— जैन मोनास्तिक ज्यूरिपडेंस, बनारस, १९६० ई० ।

दोशी, बेचरदास—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग १,
वाराणसी १९६६ ई० ।

नाहटा, अगरचन्द - “जैन साहित्य का भौगोलिक महत्त्व”, प्रेमी
अभिनन्दन ग्रन्थ, टीकमगढ़, १९४६ ई० पृ० ४७६-४८७ ।

नाहटा, अगरचन्द तथा नाहटा, भंवरलाल— खरतरगच्छ का इति-
हास, भाग १ अजमेर, १९५९ ई० ।

— सं० बीकानेर जैन लेख संग्रह, कलकत्ता, १९५५ ई० ।

— ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, कलकत्ता, वि०सं० १९९४ ।

— ‘तलघर से प्राप्त १६० जिन प्रतिमायें, अनेकान्स वर्ष १९
अंक १-२, १९६६ ई०, पृ० ८१-८३ ।

नाहटा भंवरलाल—‘तालागुडी की जैन प्रतिमा’, जैन जगत, वर्ष १३,
अंक ९-११, १९५९-१९६० ई०, पृ० ६०-६१ ।

न्याय विजय—‘गुजरातमां केटलीक प्राचीन जैन मंदिरों’ जैन सत्य
प्रकाश, वर्ष १३, अंक २ अहमदाबाद पृ० ३५-४३ ।

परीख, आर० सी० तथा शास्त्री, हरिप्रसाद - सं० गुजरातनो राजकीय
अने सांस्कृतिक इतिहास, भाग १-६, अहमदाबाद, १९७२-
७९ ई० ।

पाटिल, डी० आर०—कलचरल हेरिटेज ऑफ मध्य भारत, ग्वालियर
१९५२ ई० ।

— द एन्टीक्वेरियन रोमेन्स इन बिहार, पटना, १९६३ ई० ।

— द डिस्कृप्टिव एण्ड क्लासिफाईड लिस्ट ऑफ आर्कियो-
लाजिकल मानुमेन्ट्स ऑफ मध्यभारत, ग्वालियर,
१९५२ ई० ।

पाठक, विशुद्धानन्द - उत्तर भारत का राजनैतिक इतिहास, लखनऊ,
१९७२ ई० ।

पांथरी, भगवती प्रसाद—राजवंश, मौखरी और पुण्यभूति, पटना,
१९७३ ई० ।

पांडेय, चन्द्रभान—आन्ध्र सातवाहन साम्राज्य का इतिहास, दिल्ली
१९६३ ई० ।

पांडेय, राजबली—पुराणविषयानुक्रमणिका, वाराणसी, १९५७ ई० ।

— विक्रमादित्य ऑफ उज्जयिनी, वाराणसी, १९५१ ई० ।

पुरी, बी० एन०—हिस्ट्री ऑफ गर्जर प्रतिहार, बम्बई १९५७ ई० ।

प्रेमी नाथूराम—जैन साहित्य और इतिहास, प्रथम संस्करण, बम्बई,
१९४२ ई० ।

फुहरर, ए०—द मानुमेंटल एन्टीक्विटीज एण्ड इन्सक्रिप्शन्स इन द
नार्थ वेस्टर्न प्रोविन्स एण्ड अवध पुनर्मुद्रित, वाराणसी
१९६९ ई० ।

वर्जेस जेम्स तथा काजिन्स, एच०—द आर्किटक्चरल एन्टीक्विटीज
ऑफ नादर्न गुजरात, द आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ
वेस्टर्न इंडिया, जिल्द ९, पुनर्मुद्रित, वाराणसी, १९७५ ई० ।

वर्जेस, जेम्स—एन्टीक्विटीज ऑफ काठियावाड़ एण्ड कच्छ, आर्कि-
योलॉजिकल सर्वे ऑफ वेस्टर्न इण्डिया न्यू इम्पीरियल
सिरीज, जिल्द २, पुनर्मुद्रित, वाराणसी, १९६४ ई० ।

वाजपेयी, कृष्णदत्त—उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, आगरा,
१९५६ ई० ।

— संपा० ज्योग्राफिकल इन्साइक्लोपीडिया ऑफ ऐन्डो०
एण्ड मिडुवल इण्डिया, खंड १, वाराणसी, १९६७ ई० ।

— मध्यप्रदेश का पुरातरश्मि, भोपाल, १९७० ई० ।

— युगों-युगों में उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, १९५५ ई० ।

बुहलर, जार्ज—“ए लीजेण्ड ऑफ द जैन स्तूप ऐट मथुरा” वियना
ओरियण्टल जर्नल, वियना, १८९७ ई० ।

— आइफ ऑफ हेमचन्द्र कलकत्ता, १९३६ ई० ।

बैनर्जी, आर० डी०—“सम स्कल्पचर्स फ्राम कोसम” आर्कियो ला-
जिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, ऐनुअल रिपोर्ट, (१९१३-१४
ई०) पृ० २६२-६४ ।

— “न्यू ब्राह्मी इन्सक्रिप्सन्स ऑफ सीथियन पीरियड”, इपि-
ग्राफिया इण्डिका, जिल्द १०, पृ० १०७ ।

भट्टाचार्य, बी० सी०—जैन आइकनोग्राफी द्वितीय संस्करण, दिल्ली,
१९७४ ई० ।

भट्टाचार्य, पी० के०—हिस्टॉरिकल ज्योग्राफी ऑफ मध्यप्रदेश फ्राम
अर्ली रिकार्ड्स, दिल्ली, १९७७ ई० ।

भाटिया, प्रतिपाल—द परमार्स, नई दिल्ली, १९७० ई० ।

मजमूदार, एम० आर०—कल्चरल हिस्ट्री ऑफ गुजरात, बम्बई,
१९६५ ई० ।

मजुमदार, ए० के०—चौलुक्याज ऑफ गुजरात, बम्बई, १९५६ ई० ।

मजुमदार, आर० सी०—द क्लासिकल एकाउन्ट्स ऑफ इण्डिया,
द्वि० सं० कलकत्ता, १९८१ ई० ।

— कारपोरेट लाइफ इन ऐन्शेंट इण्डिया (हिन्दी अनुवाद),
सागर, १९६६ ई० ।

— ‘जैनिज्म इन ऐन्शेंट बंगाल’ श्री महावीर जैन विद्यालय
गोल्डेन जुबली वाक्यूम, बम्बई, १९६८ ई०, भाग १,
पृ० १३०-१३६ ।

मजुमदार, आर० सी० तथा पुसालकर, ए० डी०—संपा० द एज ऑफ
इम्पीरियल यूनिटी, बम्बई, १९५३ ई० ।

— द क्लासिकल एज, बम्बई, १९५४ ई० ।

— द एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, बम्बई, १९५५ ई० ।

— द स्ट्रुगिल फार एम्पायर, बम्बई, १९५७ ई० ।

— द दिल्ली सल्तनत, बम्बई, १९६० ई० ।

महोपाध्याय, विनयसागर—शासन प्रभावक आचार्य जिनप्रभ और
उनका साहित्य, बीकानेर, १९७५ ई० ।

माथुर, विजयेन्द्रकुमार—ऐतिहासिक स्थानावली, दिल्ली, १९६९ ई०।
मिराशी, वी० वी०—वाकाटक राजवंश का इतिहास और अभिलेख,
वाराणसी, १९६४ ई०।

- कल्चुरी नरेश और राजत्व उनका काल, भोपाल, वि० सं० २०२२।

मुकर्जी, आर० के०—चन्द्रगुप्त मौर्य एण्ड हिज टाइम्स, तृतीय संस्करण, वाराणसी, १९६० ई०।

मुनि कल्याणविजय—प्रबन्ध पारिजात, जालौर, १९६६ ई०।

- वीरनिर्वाणसम्बत् और जैनकालगणना, जालौर, वि० सं० १९८७।

मुनि कान्तिसागर - खण्डहरों का वैभव, वाराणसी, १९५९ ई०।

- खोज की पगडंडियां, वाराणसी, १९५३ ई०।

मुनि जयन्तविजय—आबू, भाग १, भावनगर, वि० सं० १९८५।

- अबु द प्राचीन जैन लेख संदोह, (आबू, भाग २), उज्जैन, वि० सं० १९९४।
- अचलगढ़, (आबू, भाग ३) भावनगर, वि० सं० २००४।
- अबु दाचलप्रदक्षिणा (आबू, भाग-४) भावनगर, वि० सं० २००४।
- अबु दाचल प्रदक्षिणा जैन लेख संदोह (आबू, भाग ५) भावनगर, वि० सं० २००५।
- शंखेश्वर महातीर्थ (भाग १-२) भावनगर, वि० सं० २००३।
- पूर्व भारतनी जैन तीर्थ भूमिओ, भावनगर, वि० सं० २००७।

मुनि विशालविजय—मुण्डस्थल महातीर्थ, भावनगर।

मुंशी०, के० एम०—द ग्लोरी दैट वाज गूर्जर देश, भाग १-२ बम्बई, १९५५ ई०।

- गुजरात एण्ड इट्स लिटरेचर, द्वितीय संस्करण, बम्बई, १९५४ ई०।

- मुसलगांवकर, वि० भा०—आचार्य हेमचन्द्र, भोपाल, १९७१ ई० ।
- मेहता, मोहनलाल—जैन साहित्य का बृहद् इतिहास, भाग ३-४, वाराणसी, १९६७-६८ ई० ।
- मेहता, मोहनलाल तथा चन्द्रा, के० आर—संपा० प्राकृत प्रापर नेम्स, भाग १-२ अहमदाबाद, १९७०-७२ ई० ।
- मोती चन्द्र—‘कुछ जैन अनुश्रुतियाँ और पुरातत्त्व’ प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ (टीकमगढ़, १९४६ ई०) पृ० २२९-२४९ ।
- सार्थवाह, पटना, द्वि० सं०, १९६६ ई० ।
- याजदानी, जी०—द अर्ली हिस्ट्री ऑफ डकन (हिन्दी अनुवाद) नई दिल्ली, १९७७ ई० ।
- रामचन्द्रन्, टी० एन०—जैन मानुमेंट्स एण्ड प्लेस ऑफ फर्स्टक्लास इम्पार्टेन्ट्स, कलकत्ता, १९४४ ई० ।
- रायचौधरी, पी० सी०—जैनज्म इन बिहार, पटना, १९५६ ई० ।
- रायचौधरी, हेमचन्द्र—भारत वर्ष का राजनैतिक इतिहास, इलाहाबाद, १९७८ ई० ।
- लाहा, विमलाचरण—इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड इन अर्ली टेक्स्ट आफ बुद्धिज्म एण्ड जैनज्म, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, १९८१ ई० ।
- मानुमेन्ट्स ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, १९४४ ई० ।
- सम जैन कैनानिकल सूत्राज, बम्बई, १९४९ ई० ।
- ‘स्टडीज इन विविधतीर्थकल्प’ जैन एन्टीक्वेरी जिल्द ५, अंक ४, पृ० १०९ और आगे ।
- ल्यूडर्स एच०—‘सम इन्सक्रिप्शन्स ऐट द टेम्पुल ऑफ नेमिनाथ एट माउंट आबू’ एपिग्राफिया इण्डिका, जिल्द ७, पृ० २००-२२९ ।
- विरजी, के० जे०—ऐंशेंट हिस्ट्री ऑफ सौराष्ट्र, बम्बई, १९५२ ई० ।
- शर्मा, दशरथ—‘पृथ्वीराज चौहान और उनका राजत्व काल’, जयपुर, १९७२ ई० ।

- शर्मा, दशरथ—राजस्थान थ्रो द एजेज, बीकानेर, १९६६ ई० ।
- शर्मा, वृजेन्द्रनाथ—जैन प्रतिमायें, दिल्ली, १९७९ ई० ।
- शर्मा, राजकुमार—मध्यप्रदेश के पुरातत्त्व का सन्दर्भ ग्रन्थ, भोपाल, १९७४ ई० ।
- शर्मा, एस० आर०—जैनिज्म एण्ड कर्णाटक कल्चर, धारवाड़, १९४० ई० ।
- शास्त्री, के० ए० एन०—हिस्ट्री ऑफ साउथ इण्डिया, (हिन्दी अनुवाद) पटना, १९७२ ई० ।
- संपा०-द एज ऑफ नन्दाज एण्ड मौर्याज, द्वि० सं०, वाराणसी, १९६७ ई० ।
- शास्त्री, कैलाशचन्द्र—जैन धर्म, मथुरा, वीर सम्वत् २४७४ ।
- जैन साहित्य का इतिहास, पूर्जपोठिका, वाराणसी, वीर सम्वत् २४८९ ।
- दक्षिण भारत में जैन धर्म, वाराणसी, १९६७ ई० ।
- शास्त्री, दुर्गाशंकर—गुजरातनो मध्यकालीन राजतूत इतिहास, (भाग १-२), अहमदाबाद, १९५२ ई० ।
- शास्त्री, देवेन्द्रमुनि—भगवान् पार्श्व, एक समीक्षात्मक अध्ययन, पूना १९६९ ई० ।
- शास्त्री नेमिचन्द्र—आदिपुराण में प्रतिपादित भारत। वाराणसी, १९६८ ई० ।
- शास्त्री, परमानन्द—'मध्य भारत का जैन पुरातत्त्व' मुनि हजारीमल स्मृति ग्रन्थ, (व्यावर, १९६५ ई०), पृ० ६९८-७१२ ।
- शास्त्री, हरि प्रसाद—सैत्रक कालीन गुजरात, भाग १-२ अहमदाबाद, १९५५ ई० ।
- शास्त्री, हरिशंकर प्रभाशंकर—'जूनागढ़ म्यूजियमना केटलाक अप्रकाशित शिलालेखो' स्वाध्याय, जिल्द १, अंक ४, पृ० ४२९-४३१ ।
- शापेन्टियर, जे०—'द हिस्ट्री ऑफ द जैन्स, द कॅम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ

इण्डिया, जिल्द १ (ऐन्शेंट इण्डिया) संपा—ई० जे०
रैप्सन, द्वितीय भारतीय पुनर्मुद्रण, दिल्ली १९६२ ई०, पृ०
१३४ १५१ ।

शाह, अम्बालाल पी०—जैन तीर्थ सर्वसंग्रह (भाग १, (खंड १-२)
भाग २) अहमदाबाद, वि० सं० २०१० ।

- 'सम जैन इन्सक्रिप्शन्स एण्ड इमेजेज ऑफ माउन्ट शत्रुंजय',
श्री महावीर जैन विद्यालय गोल्डेन जुबली वाल्यूम,
(बम्बई, १९६८), जिल्द १, पृ० १६२-१६९ ।

शाह, यू० पी०—'ए पार्श्वनाथ स्कल्पचर इन क्लीवलैंड' द बुलेटिन
ऑफ द क्लीवलैंड म्यूजियम ऑफ आर्ट, दिसम्बर १९७०
ई०, पृ० ३०३-३११ ।

- सुवर्ण भूमि में कालकाचार्य, वाराणसी, १९५५ ई० ।
- स्टडीज इन जैन आर्ट, वाराणसी, १९५५ ई० :

शाह, सी० जे०—उत्तर हिन्दुस्तानमां जैन धर्म, बम्बई, १९३७ ई० ।
सरकार, डी० सी०—सं० रेलिजन एण्ड कल्चर ऑफ द जैन्स,
कलकत्ता, १९७३ ।

- स्टडीज इन ज्योग्राफी ऑफ ऐन्शेंट एण्ड मिडुवल
इण्डिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, १९७८ ई० ।
- सेलेक्ट इन्सक्रिप्शन्स भाग १, द्वितीय संस्करण, कलकत्ता,
१९६५ ई० ।

सांकलिया, एच० डी०—आर्कियोलाजी ऑफ गुजरात, बम्बई,
१९४१ ई० ।

सांडेसरा, भोगीलाल—जैन आगम साहित्यमां गुजरात, अहमदाबाद,
१९५२ ई० ।

- महामात्य वस्तुपाल का साहित्य मंडल और संस्कृत
साहित्य में उसका योगदान, वाराणसी, १९५९ ई० ।

सालेटोर, बी० ए०—मिडुवल जैनिज्म, धारवाड़, १९३८ ई० ।

सिकंदर, जे० सी०—स्टडीज इन भगवती सूत्र, वैशाली, १९६४ ई० ।

सिंह, जे० पी०—आस्पेक्ट्स ऑफ अर्ली जैनिज्म, वाराणसी,
१९७२ ई० ।

सिंह, आर० बी० पी०—जैनिज्म इन अर्ली मिडुबल कर्णाटक, दिल्ली,
१९७५ ई० ।

सिंह, हरिहर—जैन टेम्पल्स, ऑफ बेस्टर्न इण्डिया, वाराणसी,
१९८२ ई० ।

सूरि, विजयधर्म—संपा० प्राचीन तीर्थमाला संग्रह, भावनगर,
वि० सं० १९७८ ।

सेठ, सी० बी०—जैनिज्म इन गुजरात, बम्बई, १९५३ ई० ।

सेन, मधु—ए कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथचूर्णि, वाराणसी,
१९७५ ई० ।

सोमपुरा, के० एफ०—स्ट्रक्चरल टेम्पल्स ऑफ गुजरात, अहमदाबाद,
१९६८ ई० ।

संघवे, वी० ए०—जैन कम्प्यूनिटी, बम्बई, १९५९ ई० ।

— द सेक्रेड श्रवणबेलगोला, नई दिल्ली, १९८२ ई० ।

स्मिथ, वी० ए०—जैन स्तूप एण्ड अदर ऐन्टीक्विटीज ऑफ मथुरा,
पुनर्मुद्रित, वाराणसी, १९६९ ई० ।

हन्दीकी, के० के०—यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर (द्वितीय संस्कर-
रण), शोलापुर, १९६८ ई० ।



अकारादि क्रम-सूची

१. मुनि-आचार्यादि सूची

- अकम्पित (महावीर के ८वें गण-
धर) १३७, १४०
अचलभ्राता ७७
अजितप्रभसूरि ५६
अजितसेनाचार्य ११२
अन्निकापुत्राचार्य ९५, १२९
अभयतिलकसूरि (ग्रन्थकार) ५६
अभयदेवसूरि (नवाङ्गीवृत्तिकार)
७५, ७८, २६२-६३
अभयदेवसूरि (मलधारगच्छीय)
२२४, २२५, २२६, २७७
अमरचन्द्रसूरि ५४
अमितगति (जैनआचार्य) ३८
अरिसिंह (कवि) २४१
अवन्तिसुकुमाल १५३
आत्रेय (वैदिक परम्परा के दार्श-
निक) २७३
आम्रदेवसूरि २५६
आर्यखण्डाचार्य २३१
आर्यमंगु (श्वेताम्बर आचार्य)
९९, २८०
आर्यमहागिरि १७२
आर्यरक्षित १३४, १६९, १७०
आर्यसमुद्र (श्वेताम्बर आचार्य)
२८०

- आसिमित्र (चतुर्थनिह्व) १३७,
१३९
इन्द्रदत्तउपाध्याय ११२
इन्द्ररक्षित ४७
उत्पल (पार्श्वपत्नीयमुनि) २७
उदयकीर्ति १४४, १५१, १८९
उदयकीर्ति (दि० मुनि एवं ग्रन्थ-
कार) २७८, २८४
उदयप्रभसूरि ५४, २४१
उद्योतनसूरि ३३, ४९
उमास्वामी १३०, १३२
उव्वट (आयुर्वेद के भाष्यकार)
२३७
ऋषिगुप्त ४६
कक्कसूरि (उपकेशगच्छीय) ५८,
७८, १८३, २५५, २२७
कक्कसूरि [कोरंटगच्छीय] १९९
कमलप्रभसूरि (पूर्णमागच्छीय) ५९
कपिल (वैदिक परम्परा के महान
दार्शनिक) २७३
कपिल (स्वयंबुद्ध) ११२, ११४
कर्णाटभट्ट दिवाकर १५३
कालक (जैन आचार्य) ३२
कालकाचार्य १५९, २७३-७५
कालवेशिकमुनि ९९
कीर्तिवर्मा १६१

कुबेर यक्ष (मल्लिनाथ का यक्ष)

१३७

कुमारगुप्त 'प्रथम' १७३

कुमुदचन्द्र ५२

कुलचन्द्रदेव (दिगम्बर आचार्य)

२६८

कृष्णर्षि १६७

केशीकुमार २७, ११२, ११३

कौशिकार्य १२६, १२८

क्षुल्लककुमार ११२

क्षेमकीर्तिसूरि ५७

खपुटाचार्य २१४

गर्दभिल्ल ३२

गांगेय २७

गुणकीर्ति १४४, १५१

गुणकीर्ति (दि० मुनि एवं ग्रन्थकार)

२७८, २८४

गुणचन्द्र (दिगम्बर मुनि) ३९

गुणभद्र (दिगम्बर आचार्य) ८२

गोविन्दसूरि ३६, ५१, २४५

गोष्ठामिहिल १७१

गोश्रमण १७३

गौतमगणधर ११२, ११३

चण्डप्रद्योत १७०, १७२

चन्दनबाला ९०, ९१, १२८

चन्दना (साध्वी) १२६

चन्द्रतिलकसूरि (खरतरगच्छीय)

५७

चन्द्रसूरि २८०

चन्द्रसूरि (मलधारगच्छीय) ३९

चित्रांगदसोरिया १५७

जगचन्द्रसूरि (तपागच्छीय) ५५

जज्जिगसूरि २०२

जयघोष १०५, १०७

जयचन्द्रसूरि ५४, ५७

जयत्रिजय १४४

जयसागर १४४

जयसागर (श्वे० मुनि, ग्रन्थकार)

१०४

जयसिंहसूरि १६७, २२५, २२७

जामालि ११२, ११४

जिनकुशलसूरि ६०, २३९

जिनदत्त ९९

जिनदत्तसूरि ६०

जिनदत्तसूरि (वायडगच्छीय) २५१

जिनदासगणिमहत्तर ४९

जिनदेवसूरि (खरतरगच्छीय) १६

जिनपाल २२७

जिनप्रभसूरि २

जिनभद्रगणिक्षमाश्रमण ४९

जिनमण्डनगणि २०३

जिनमण्डनसूरि २००

जिनवर्धनसूरि १४४

जिनसिंहसूरि (लघुखरतरगच्छ के

प्रवर्तक) १५

जिनसेन ५०

जिनसेन (दि० जैन आचार्य) ३५

जिनसेन (दि० भट्टारक) २६८

जिनहर्षगणि १७८, २१३, २१५,

२३५, २४१, २५९

जिनेश्वरसूरि ५१, ५७

जिनेश्वरसूरि (खरतरगच्छीय)

५६, ५७

ज्ञानचन्द्रसूरि (धर्मघोषगच्छीय)

५८

ज्ञानमागर १४४, १४६

ज्ञानमागर (द्विग० मुनि एवं ग्रन्थ-
कार) २८४

ठक्करफेर ५९

तोमलीपुत्र १७०

दण्डी २४७

दुर्बलिकपुष्यमित्र ९९, १०२,

देवचन्द्र (तपगच्छीयसाधु) ५५, ५६

देवप्रभसूरि ५६, ८२

देवप्रभसूरि (मलधारगच्छीय)

२५८

देवभद्रसूरि (खरतरगच्छीय) २१४

देवद्विगणिकक्षमाश्रमण २४८

देवसेन (द्वि० जैन मुनि) ३८

देवाणंदसूरि (मलधारगच्छीय)

२२५, २२७

देवेन्द्रकीर्ति (भट्टारक) १६२

देवेन्द्रसूरि ७५, ७८, ७९

देवेन्द्रसूरि (तपगच्छीय) ५७

देवेन्द्रसूरि (नागेन्द्रगच्छीय) ७९,
८०

धनपाल (कवि) २०३, २०४

धनपाल (जैन मुनि) ३८

धनेश्वर (जैन आचार्य) ३८

धनेश्वरसूरि २४०

धनेश्वरसूरि (नाणावालगच्छीय)

१९४

धरसेनाचार्य ४७

धर्मघोष (मुनि) १०५

धर्मघोषसूरि २१, ५५, २१९

धर्मघोषसूरि (तपगच्छीय) ५५, ५७,

२५४, २५६

धर्मघोषसूरि (राजगच्छीय) ३९,

१९५, १९६

धर्मतिलकसूरि ५७

धर्मरत्नि ८६, ८८

धर्मरत्नि (जैनमुनि) १०५

धर्मसागर १९६

धर्मसिंहसूरि १७८

धृतपुष्यमित्र ९९, १०२

नन्दश्री (साध्वी) १०५

नन्नसूरि ३५, २४५

नमि (प्रत्येकबुद्ध) १३७

नयनन्दी २८

नरचन्द्रसूरि ५४, ५७

नरेन्द्रप्रभसूरि ५४

नागार्जुनसूरि २४८

नागार्जुन (सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ)
२६२

नागेन्द्रसूरि २८०

निवृत्तसूरि २८०

नेमिचन्द्र (द्विगम्बर आचार्य) ६७

पद्मशेखरसूरि (रुद्रपत्नीय गच्छी-
यमुनि) १६

परमदेवसूरि (पूर्णिमागच्छीय
आचार्य) ५४

परमानन्दसूरि ५६

पाणिनि २४७
 पादलिप्त (आचार्य) २५३, २५४
 पादलिप्तसूरि २१४
 पुष्पचूल १६६
 पुष्पचूला १६६
 पुष्पदन्त (दिगम्बर आचार्य) ८२
 पुष्पदन्त (मुनि) ४७
 पूर्णकलश (ग्रन्थकार) ५६
 पृथ्वीचन्द्रसूरि (धर्मवोषगच्छीय)
 ३९
 पेढालपुत्र २७
 प्रतिपदाचार्य १३०
 प्रतिष्ठासोम २३३
 प्रद्युम्नसूरि ५७
 प्रबोधचन्द्रगणि ५७
 प्रभाचन्द्रसूरि (राजगच्छीय) ५७,
 १००, २१३
 प्रभाचन्द्राचार्य १५५
 प्रभास (गणधर) १४२
 बप्पभट्टिसूरि ३५, ४९, ५०, ९९
 बल (हरिकेशबल) १०८
 बालचन्द्रसूरि ५४, २४५
 बालचन्द्रसूरि (नागेन्द्रगच्छीय)
 २६६
 भद्रबाहु २९, ४१, ४६, ६४, ६५,
 ८४, १३०, १३३, २४५
 भद्रबाहु 'द्वितीय' २३६, २८७
 भद्राचार्य १७३
 भद्रेश्वरसूरि १५४
 भानुकीर्ति (दि० मुनि एवं ग्रन्थ-
 कार) २७८

भावविजय (श्वेताम्बर मुनि एवं
 ग्रन्थकार) २७९
 भृकुटियक्ष (नमिनाथ का यक्ष)
 १३७
 भूतबलि (दि० मुनि) ४७
 भूतानन्द ८२
 मदनकीर्ति ९, १५१, १८९, २७७
 मदनचन्द्रसूरि (बडगच्छीय) ५७
 मनु ६३
 मल्लवादिशूरि २४८
 मल्लिसेनसूरि ५७
 मल्लिसेनसूरि (नागेन्द्रगच्छीय
 मुनि) १६
 महागिरि १३०, १३२, १३३,
 १३९
 महासेन (जैन आचार्य) ३८
 महेन्द्रसूरि ५१
 महेन्द्रसूरि (अंचलगच्छीय) १९८,
 २१३, २१५
 महेन्द्रसूरि (नाणावालगच्छीय)
 १९४
 मांडलिक (कवि) २५५
 माणिक्यचन्द्रसूरि (राजगच्छीय)
 ५४
 मुनिचन्द्र २७, १९७
 मुनिदेवसूरि (वडगच्छीय) ५७
 मुनिप्रभसूरि २८०
 मुनिरत्नसूरि (पूर्णमागच्छीय)
 २६५
 मुनिसुन्दरसूरि (तपगच्छीय) ५५,
 १९०, २४६
 मुनीश्वरसूरि २१

मृगावती १०, ११

मेरुतुंग १५४

मेरुतुंगसूरि (नागेन्द्रगच्छीय) ५९,
२१३

यतिवृषभ २९, ६६

यशोदेव ग्रन्थकार) ५६

यशोभद्रसूरि १८४

यशोभद्रसूरि (ब्रह्माणगच्छीय)
२०९

याज्ञवल्क्य ६३

रत्नप्रभसूरि (बृहद्गच्छीय) २१४

रत्नप्रभाचार्य (पूर्णमापक्षीय) ५९

रत्नमंडनगणि ५५

रत्नमंदिरगणि १९६

रविसेण ९६

राजशेखरसूरि (मलधारगच्छीय)
१६, ५९, २२५

रामगुप्त १७३

रुप्यकुम्भ स्वर्णकुम्भ १२५

रुद्रक १२६, १२८

लक्ष्मीतिलक (ग्रन्थकार) ५६

लक्ष्मीतिलकसूरि (खरतरगच्छीय)
५६

लावण्यसमय (तपगच्छीयआचार्य)
२७७

वङ्कचूल १६६-१६७

वज्रनन्दि (दि० जैन आचार्य) ४३

वज्रसेन (प्रसिद्ध श्वे० आचार्य)
२८०

वज्रस्वामी १३०, १३२-३३

बरदत्त (दि० मुनि०) २३४

वराङ्ग (दि० मुनि) २३४

वर्धमानसूरि ५१, २४४

वसहपुष्यमित्र ९९, १०२

वादिदेवसूरि ५२, २१२

वादिदेवसूरि (वडगच्छीय) १९६

वादिराज ८२

विजयघोष १०५, १०७

विजयचन्द्र (तपगच्छीयसाधु) ५५

विजयसिंहसूरि (नागेन्द्रगच्छीय)
२१७, २३०, २६६

विजयसेनसूरि ५४, २३३

विद्यातिलक (रुद्रपल्लीयगच्छ के
मुनि) ६०

विद्यातिलकसूरि २१

विद्यातिलकसूरि (खरतरगच्छीय)
१९

विद्याधरसूरि २८०

विद्यानन्दसूरि (तपगच्छीय) ५७

विनयचन्द्रसूरि ५७

विनयप्रभउपाध्याय २८०

विमलयश १६६

विमलसूरि २००, २०१

वीरप्रभसूरि ५६

वीरसेनाचार्य ४७

वृद्धवादीसूरि १५३

वैरुत्यादेवी (मल्लिनाथ की यक्षी)
१३७

शय्यभवसूरि १२६

शान्तिसूरि २७०, २७१

शांतिसूरि (नाणकीयगच्छ के प्रव-
र्तक) १९४

शान्तिसूरि (वादिवेताल) ५१
 शालिभद्रधन्नाश्रुषि १४०-१४१
 शीलगुणसूरि ४९
 शीलभद्रसूरि (राजगच्छीय) १९५
 शीलविजय १४५, २४६
 शीलविजय (श्वेताम्बर मुनि एवं
 ग्रन्थकार) २७७, २७९, २८४
 शीलाङ्काचार्य २५८
 शुभचन्द्रसिद्धान्तदेव (दि० आचार्य)
 २६८
 शुभशीलगणि १५५
 श्रीचन्द्रसूरि २१४
 श्रीतिलकसूरि १६
 संघतिलकसूरि १९, १५५
 संघतिलकसूरि (रुद्रपल्लीयगच्छ
 के एक मुनि) १६, ६०
 संवदासगणि १००
 सतीसुभद्रा १२६
 सर्वदेवसूरि (कोरंटगच्छीय) १९९
 सर्वाणंदसूरि (पूर्णिमागच्छीयमुनि)
 ५४, २५९
 सर्वानन्दसूरि (मुधर्मागच्छीय) ५६
 सागरदत्त (दि० मुनि) २३४
 सागरनन्दसिद्धान्तदेव (दिगम्बर
 आचार्य) २६८
 सिंहतिलकसूरि ५७
 सिंहनन्दि (जैन आचार्य) ४३
 सिद्धसेनदिवाकर ८३, १५३-१५४,
 १५७-१५८
 सिद्धसेनसूरि २०१, २२८, २३७,
 २४३, २८०

सिद्धसेनसूरि (नाणावालगच्छीय)
 १९४
 सुधातिलक (मलधारगच्छीय)
 ५९
 सुमतिसागर (दि० मुनि एवं ग्रन्थ-
 कार) २८४
 सुस्थिताचार्य १३०
 सुहस्ति ४६, १३०, १३२-१३३,
 १३५, १७२
 सूर्याचार्य ५१
 सोमचन्द्रसूरि ५७
 सोमतिलकसूरि (रुद्रपल्लीय
 गच्छीय) ६०
 सोमतिलकसूरि (खरतरगच्छीय)
 १९
 सोमतिलकसूरि (तपगच्छीय) ५९
 सोमदेवसूरि १००, २४७
 सोमधर्मगणि २१३
 सोमधर्मसूरि १७८, १९६
 सोमप्रभसूरि ५७, ११९, २१३,
 २७४, २७९
 सोमसुन्दरसूरि २३३
 सोमसेन १४४
 सोमेश्वर (कवि) २४१
 सौभाग्यविजय १४५, १४६
 स्कन्दाचार्य ११२
 स्कन्दिलसूरि २४८
 स्थूलभद्र १२९, १३२, १३४
 हंससोम १४४
 हरिभद्र ४९
 हरिषेण ५०, १००, १२७
 हेमचन्द्र ५२, ८२

हेमचन्द्रसूरि २१३
 हेमचन्द्रसूरि (पूर्णतल्लगच्छीय)
 ५६, २४०, २४५, २५८, २६५
 हेमचन्द्रसूरि (मलधारगच्छीय)
 ३९, २२४, २२५, २५८
 हेमहंससूरि २०१

२-गण-गच्छ

उपकेशगच्छ १८३
 काशहृदगच्छ २२३
 खरतरगच्छ १५, १६५
 चन्देरीपट्ट १६२
 चन्द्रकुल २०९, २६३
 चन्द्रगच्छ २०९
 ज्ञानकीयगच्छ १९४
 द्रविणसंघ ४३
 धर्मघोषगच्छ ३९
 नाणकीयगच्छ १९४
 नाणगच्छ १९४
 नाणागच्छ १९४
 नाणावालगच्छ १९४
 नागेन्द्रगच्छ १६
 निर्ग्रन्थधर्म २८
 निर्ग्रन्थसंघ ३०
 पुत्राटसंघ ५०
 पुस्तकगच्छ २६८
 प्रश्नवाहनकुल २२४
 ब्रह्माणगच्छ २०९
 मलधारगच्छ ३९, २२५
 मूलसंघ २६८

राजगच्छ ३९
 रुद्रपल्लीयगच्छ १६, ६०
 वायडगच्छ २५१
 वीरशैव (शैवधर्म का एक सम्प्र-
 दाय २८६
 सोधतिवालगच्छ २००, २०१
 सौराष्ट्रिका शाखा ४६
 हर्षपुरीयगच्छ १६, २२४

३-ग्रन्थ नाम

अजितशान्तिवस्तु ५७
 अथर्ववेद ६१, ६२
 अनुयोगद्वार १७१
 अभयकुमारचरित ५७
 अष्टोत्तरीतीर्थमाला ८, १९८,
 २१३-१५, २८०
 आइन-ए-अकबरी १६२
 आचारांगनिर्युक्ति ६५, ८५
 आदिपुराण १११
 आवश्यकचूर्णि ३०, ७७, ७८, ८५,
 ८७, ८८, ९१, ९२, ९६,
 १०७, १०८, ११३, ११८, ११९,
 १२७, १२८, १३१, १३३,
 १३९, १४२, १४३,
 १६९-७१, २७५
 आवश्यकटीका ९७
 आवश्यकनिर्युक्ति २८, ६५, ७५,
 ७६, ८१, ८७, ९५, ९७, १०४,
 १०५, १०७, १०८, ११३,
 १२६-२७, १३९, १४२-४३,
 १६९

- आवश्यकभाष्य ११४
 आवश्यकसूत्रवृत्ति (मलयगिरि)
 ११३-१४, ११८, १४४
 उत्तरपुराण ८२, ९२, ११३, १४३
 उत्तराध्ययनचूर्णी ८८, १०७,
 ११४, १२७
 उत्तराध्ययननिर्युक्ति १०७, ११४
 उत्तराध्ययनवृत्ति (कमलसंयम)
 ११९
 उत्तराध्ययनवृत्ति (शांतिसूरि)
 १३२
 उत्तराध्ययनसूत्र ८५, ८८, १०६-८,
 ११३-१७
 उपकेशगच्छगुर्वावली १८४
 उपकेशगच्छचरित्र १८३
 उपकेशगच्छपट्टावली १८४
 उपदेशतरंगिणी ५५, १७८, १९६,
 २४२
 उपदेशप्रासाद १५५
 उपदेशमालावृत्ति २१४
 उपदेशसप्तति १४, १५, १९६,
 २१३
 उपदेशसप्ततिका १७८
 उपदेशसप्तशती २७७
 ऋग्वेद ६१
 एकाक्षरनाममाला ५९
 ऐतरेयब्राह्मण ८७
 ओघनिर्युक्तिवृत्ति ११६
 कथानुयोग १७१
 कथावली १५४-५५
 कथासरित्सागर २४७
 कल्पप्रदीप २
 कल्पप्राभृत २५४
 कल्पसूत्र ४६, ८१, ८२, १०१,
 ११६, १२६-२७, १३८,
 २३६, २४८
 कल्पसूत्रटिप्पण ३९
 कल्पसूत्रवृत्ति ३२
 कल्पसूत्रवृत्ति (धर्मसागर) ११८
 कल्पसूत्रवृत्ति (विनयविजय) ११८,
 १२७
 कल्याणमंदिरस्तोत्र ८२
 कल्याणमंदिरस्तोत्रटीका १५५
 कीर्तिकौमुदी ८, ९, २४१
 कुमारपालप्रबन्ध २१०, २१३
 कुवलयमाला ३४
 कुवलयमालाकहा ३३
 क्षेत्रसमास ५९
 खरतरगच्छपट्टावली ५१, २२७
 खरतरगच्छवृहद्गुर्वावली १४, १५,
 २३९
 गणितानुयोग १७१
 गिरनारकल्प २१९
 गीता ६३
 गुर्वावली १९०, २४६
 गोम्मटसार ६७
 चउपन्नमहापुरुषचरियं २५८
 चन्द्रप्रभचरित ५६, ७९, ८०
 चरणानुयोग १७१
 चैत्यवन्दन ९
 चैत्यवन्दनकुलकवृत्ति ६०
 जगद्भूचरित महाकाव्य ५४, २५९

जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति ७७
जयतिहुअणस्तोत्र २६२
(श्री) जिनचन्द्रसूरिकबरव्रतिबो-
धरास २०१
ज्ञाताधर्मकथा २७, ४७, ८१, १३८,
१४१, १४३

तत्त्वार्थसूत्र १३०
तपगच्छपट्टावली ५५, १९६
तरंगिणीवृत्ति ६०
तिलोयपण्णत्ति ८
तिलोयपण्णत्ती २८, २९, ६६, ६७,
७७, ९२, १०४, १०७, ११३,
११६, ११९, १२६, १३३,
१३८, १४२, १४३

तीर्थजयमाला ९
तीर्थमालाचैत्यवन्दन २०७
तीर्थयात्रास्तवन २८०
तीर्थयात्रास्तोत्र २३९
तीर्थवन्दन ९
तीर्थवन्दना १०८, १०९, १८९

त्रिशष्टिशलाकापुरुषचरित ८२, २१३
दशनसार ३८
दशकुमारचरित २२८, २४७
दशवैकालिकचूर्णी ८८
दशवैकालिकसूत्र १२६
द्रव्यानुयोग १७१

धर्मरत्नटीका ५६
धर्माभ्युदयमहाकाव्य ९, २४१
धर्मोपदेशमाला ५६
धर्मोपदेशमालालाविवरण ९६,
१३१, १६७

धर्मोपदेशमालाविवरणवृत्ति २२५
धर्मोपदेशमालावृत्ति ५७
नागहृदपाश्वर्चनाथस्तोत्र १९०
नाभिनन्दनजिनोद्धारप्रबन्ध ५८,
७८, ७९, १८३, २३९, २५५,
२५७

नारदीयपुराण ६३
निर्वाणिकाण्ड ९, १४४, १८९, २३४
निर्वाणभक्ति १४३
निशीथचूर्णी ३२, ६५, ७७, ७८,
९६, १३२, १७०

नेमिनाहचरिय २५८
पउमचरिउ १११, १२५
पद्मपुराण ६३, ७७, ९२, ९६, १२४,
२२८

परिशिष्टपर्व ९६, १३१-१३२
पर्युषणकल्पटिप्पनक ३९
पाण्डवचरितमहाकाव्य २५८
पाश्वर्चनाथचरित ८२
पुण्डरीकचरित ५९

पुरातनप्रबन्धसंग्रह १५४-५५, १५९,
१७८, १९५-९६, २१३, २१७-
१९, २२२-२३, २२९, २३२,
२४०-४४, २४९-५१, २६३

पृथ्वीराजरासो १६२
पेथड़रास २५५
प्रज्ञापनासूत्र ११६
प्रबन्धकोश १५४-५५, १६७-१६८,
१७८, २७७, २२९-३०, २४५
२४८, २५१, २६३, २८०
प्रबन्धचिन्तामणि ५९, १५४-५५,

- १५९, २१०-११, २१३-१४,
२१८-१९, २२२, २२६, २२८,
२३२, २४०-४१, २४८-४९,
२५५, २६३
- प्रबन्धपञ्चशती १४, १५
- प्रभावकचरित ३५, ३६, १००,
१५४, २१३-१४, २१९, २२२,
२२९, २३२, २३९, २४४,
२४८, २५०-५१, २६३
- प्रवचनपरीक्षा २१०
- प्राकृतद्वयाश्रय ५६
- प्राकृतद्वयाश्रयकाव्य २४०
- प्राकृतद्वयाश्रयवृत्ति २२५
- बुद्धचर्या ६४
- बृहत्कथाकोश २९, ५०, १००,
१२७, १३३
- बृहत्कल्पभाष्य १००, १२५
- ब्रह्मपुराण ६३
- भगवतीसूत्र २७, १११, १२०
- मत्स्यपुराण ६३
- महापरिनिब्बानसुत्त ६४
- महाभारत ६३, ८२, ८५, ९५,
९८, १६१
- महानिशीथसूत्र ९९-१००
- यशस्तिलकचम्पू १००
- युगप्रधानाचार्यगुर्वावली २२९
- रामायण ९५, ९८
- रैवंतगिरिरासु ९, २१७, २३०
- लोकविभाग ४३
- वाराङ्गचरित ७७, ९३, १०४,
- १०७, ११६, ११९, १३८,
१४२-४३
- वसन्तविलासमहाकाव्य २४५, २६६
- वस्तुपालचरित १७८, २१३, २१५,
२३५, २४१, २५९, २६३
- वास्तुसार ५९
- वाराहपुराण ६३
- विक्रमचरित १५५
- विचारश्रेणी २१०
- विचारसूत्र ५९
- विद्यानन्द (व्याकरणग्रन्थ) ५७
- विधिमार्गप्रपा २३९
- विविधतीर्थकल्प २
- विवेकविलास २५१
- विशेषावश्यकभाष्य ११९, १३९,
२४८
- वीरकल्प ६०
- वृद्धाचार्यप्रबन्धावली १५, २५२
- शत्रुञ्जयकल्प २५४, २५६
- शत्रुञ्जयप्रकाश २४२
- शत्रुञ्जयमहात्म्य २४०
- शान्तिनाथचरित ५६, ५७, २२३
- शासनचतुस्त्रिशिका ९, १५१,
१८९, २७८
- श्रावकदिनकृत्य ५६
- षट्खण्डागम ४७, ६६
- षट्दर्शनसूत्रटीका ६०
- षट्शीतिप्रकरणवृत्ति २२७
- संगीतोपनिषद् ५९
- संदोहदोहावली ५७

संस्कृतद्वयाश्रयटीका ५६
 सकलतीर्थस्तोत्र ८, २२८-२९,
 २३७, २४३, २५०, २८०
 सत्यपुरमहावीरजिनोत्साह ८, २०३
 सप्ततिस्थानक ५९
 समरारासु २५६
 समवायाङ्गसूत्र ८५
 सम्यकत्वसप्तशतिकाटीका १५५
 सुकृतकीर्तिकल्लोलिनी ९, २१०
 सुकृतसंकीर्तन ८, ९, २१०, २४१
 सुकृतसागर ५५
 सुदर्शनचरित ३८, ५६
 सूत्रकृताङ्गचूर्णी २४३
 सूत्रकृताङ्गवृत्ति ११६, २४३
 सोमसौभाग्यकाव्य २३३
 स्कन्दपुराण २४३, २५१
 स्थानाङ्गवृत्ति २७१
 स्याद्वादरत्नाकर २१२
 हम्मीरमदमर्दनकाव्य २६६
 हरिवंशपुराण ३५, ५०, ९१, ९२,
 ९६, १०४, १०७, ११३,
 ११६, १२४, १२६, १३८,
 १४३, २४९
 हितोपदेशमाला ५६

४-देवतादि

अग्नि ६३
 अचलेश्वरमहादेव १७६-७७
 अजितनाथ २१, ७५-७६, १६०,
 १६४, २३१, २३३-३४, २५३

अद्भुदजी १९१
 अनन्तनाथ २२, ७५-७६
 अभिचंद्र (कुलकर) ७६
 अभिनन्दनदेव २१, ७५-७६, १५०-
 १५२
 अम्बिकादेवी २०८, २७३
 अरनाथ २२, ११७-२०, १२४
 अरिष्टनेमि २५७
 अलाउपार्श्वनाथ १९०
 अवन्तिपार्श्वनाथ १६०
 अवन्तिदेशस्थअभिनन्दनदेव १५०
 अश्वमित्र ८५, ८७
 आदिनाथ २१, ४८, ९६, १५४,
 १५६, २२०, २२२-२३, २३०-
 २३१, २५०, २५३, २६५
 आमरकुण्डपद्मावतीदेवी २६७
 इन्द्र ६३, २८३
 ऋषभदेव ७५-७६, ७८, ८०, ९५,
 ९७, ११७-१८, १२२, १४३,
 १४९, २४६, २५३
 कक्खुम (कुलकर) ७६
 कदलालयदेवी (वैदिक परम्परा
 की देवी) २८२
 कपर्दीयक्ष २१६, २५३, २७३
 कन्दर्पा १०३
 कमठ ८१-८३
 करकण्डु (प्रत्येकबुद्ध) १२७
 किन्नर (यक्ष) १०३
 कुंडुगेश्वर १५३, १५८-५९
 कुंडुगेश्वरऋषभदेव १५६
 कुंडुगेश्वरनाभेयदेव १५०, १५३

कुंडुगेश्वरपार्श्व १५६
 कुण्डिगेश्वर १५९
 कुन्धुनाथ ११७-२०, १२३, २६२
 कुल्पाकमाणिक्यदेव २६७, २८१,
 २८३
 कृष्ण (नवम् वासुदेव) ४७, ८५,
 १२३
 केशीगणधर १९८
 कोकावसतिपार्श्वनाथ १७४, २२४-
 २२५
 कौडिन्य ८५, ८६
 गंग ८७
 गोमुखयक्ष ७५, ८०, १७५
 गोम्मटदेव २८७
 गोम्मटेश्वरबाहुबलि २६७, २८६-
 २८७
 गोष्ठामिहिल ८७
 गौतमस्वामी ८६
 घण्टाकर्णमहावीर २८५
 चक्रायुध (शांतिनाथ के प्रथम
 गणधर) १२३
 चक्रेश्वरीदेवी ७५, २५३
 चन्द्रप्रभ २१, ९२, ९४, २४०,
 २४२, २४७, २७०
 चेल्लणदेव १८१
 चेल्लणपार्श्वनाथ १६७
 जरासन्ध (प्रतिवासुदेव) २५७
 जसम (कुलकर) ७६
 जामालि ८७
 जीवन्तस्वामी ६३, १५९, १७०,
 १७२, १९२

जीवन्तस्वामीऋषभदेव २८०
 तारादेवी (बौद्धदेवी) २३१
 तिष्यगुप्त ८७
 धरणेन्द्र ८३-८४
 धर्मनाथ २२, १०३
 नन्दिवर्धन १७५
 नमिनाथ २२, १२४, १३७-३८,
 १४०, १९०
 नमुचि ११८-१९
 नाभि (कुलकर) ७६
 नारद २५३
 नेमिनाथ २२, ४६, ४७, ५२, ६७,
 २१६-१७, २३९, २५३, २६१
 पद्मप्रभ २१, ९०
 पद्मावतीदेवी १६३, २८१
 परशुराम ११८-१९
 पसेणीय (कुलकर) ७६
 पार्श्वनाथ ३, २२, २७, ४७-४८,
 ८१-८२, ८४, १०५-६, १०९-
 ११०, ११२-१३, १२६, १५२,
 १५५, १६३, १६६, १७३,
 १८३-८४, १८९, १९५-९६,
 २००, २२४-२५, २५०, २५४,
 २५७, २६५, २७६
 पीपलादेवी १८२
 पुण्डरीकस्वामी २५३
 प्रत्येकबुद्ध ८६, १२६
 प्रतिवासुदेव २५७
 फलवर्द्धिकादेवी १९५
 बाहुबलि ११७-१९, २५३
 बुद्ध ८९, ९८, १११

बृहस्पति ६३
 ब्रह्मशांतिपक्ष २०२, २४५
 भगवान् महावीर १७, २८
 भरत चक्रवर्ती ११८, २५३, २८३
 मत्तगयंदयक्ष ७५
 मरुदेव (कुलकर) ७६
 मरुदेवी २१७
 मल्लिनाथ २२, १२४, १३७-३८,
 १४०, २८५
 महाकालान्तरपातालचक्रवर्ती १५६
 महादेव १९८
 महापद्म ११८, ११९
 महालक्ष्मी २६९
 महावीर ३, ६२, २७, ४७-४८,
 ८५-९१, १११-१३, १२२-
 १२३, १२६, १३५, १३७,
 १६६-६७, १७०, १७९, १८३,
 १८५-८६, १९१-९२, १९८,
 २०२, २०७, २२९, २३८,
 २४३-४४, २४६, २५०, २५२-
 २५३
 माणिक्यस्वामी २८३
 मुनिसुव्रत २२, १११, १४१, २०८,
 २१२, २४१, २७३, २७६
 राम २५३, २७०
 रावण २७०, २७६, २८३, २८६
 लक्ष्मण २७०
 वरुण ६३
 वशिष्ठ १७६
 वासुदेव २५७
 वासुपूज्य २२, १२५-२७, १४३

विदेह (जनक) १३७-३८
 विदेहपुत्र १२२
 विदेहसुकुमार १२२
 विन्ध्यवासिनीदेवी १११
 विमलनाथ २२, ८५-८६, २६१
 विमलवाहन ७६
 विष्णु ६३, ११९, २७०
 वीरब्रह्म ६२
 शंखेश्वरपार्ष्वनाथ २५७
 शंबर ८२
 शक्रेन्द्र ७५
 शान्तिनाथ २२, ४५, ११७-२०,
 १२३, १६४, १९०, २२३,
 २५३
 शीतलनाथ २१, १५, १४५
 शोभनाथ ११५
 श्रीगुप्त १११
 श्रीपद्म (आठवें बलदेव) २००
 श्रीपुरअन्तरिक्षपार्ष्वनाथ २७६
 श्रीमाता १७५-७६
 श्रेयांसनाथ २१, ११०, ११७, २५३,
 २६१
 सनत्कुमार ११८-१९
 सम्भवनाथ २१, १११-१२, ११४-
 ११५, २५२
 सीता २७०
 सुपार्ष्वनाथ २१, ९८, १०५-६,
 ११०
 सुमतिनाथ २१, ७५-७६, २०७
 सुविधिनाथ २१
 सुव्रतनाथ १२४

सुभूम ११८-१९
सोमनाथ २०२

५. राजा-श्रावकादि

अकबर २५९
अजयपाल ५३, २०५, २०९
अजयराज ३९
अजातशत्रु २८, १२८, १३१
अभया (रानी) १३०
अमरसिंह १९१
अमोघवर्ष 'प्रथम' ४२
अरासन्ध १४०-४२
अरिसिंह ५३
अर्जुनदेव २०९
अर्णोराज ३९
अलपखान २५६
अलाउद्दीनखिलजी ११४ १५, १७९,
२०३, २०५, २११, २५६,
२५९
अवन्तिपुत्र ९८
अशोक ३१, ६४, १३०, १३२,
२७९
अश्वत्तेन १०५
अहमदशाह २६०
आम (ग्वालियरनरेश) ३५, ९९,
२५३-५४
आम्मड २१६, २३२
आम्रभट्ट २१२, २१४
आर्यरक्षित ९९, १०२
आल्हण २०५
इन्द्र 'चतुर्थ' २७८

इन्द्रदत्त (पुरोहित) ९९, १०२
इरुगण्ण ४५
इल्लुत्तिमश १५२, १९०
उदयन २५४, २६५
उदायन ९१
उदायी २८, १२९, १३१
उलगूखान २०२, २०५
कंस ९८
कक्कुक १८०
कनिष्क १०१
कर्णदेव २०२, २०९, २११, २१४
कर्ण १२६, १२८
कल्कि १३२
काण्हदेव १९९
कामदेव १२६, १२८
कार्तिक श्रेष्ठी ११८, १२०
काश्यप (पुरोहित) ११२, ११४
कुणिक १२६, १२८-२९, १४२
कुतुबुद्दीन ऐबक २२४, २२६-२७
कुन्ती २७०
कुमारगुप्त ३४
कुमारपाल ५२, ५३, ७५, १५४,
१७६, २२०, २३१, २३४,
२४०; २५०-५१, २५४, २६३,
२६५
कुरु (नृप) ११७-१८
कृतवर्मा ८५
कृष्णदेवराय ४५
कृष्ण 'द्वितीय' २२१
कोशा (गणिका) १३३

क्षेमराज (चापोत्कटवंशीय राजा)
२०९-११

खारवेल २९, ३१

गंगदत्त ११८, १२०

गणपतिदेव (काकतीयनरेश) २८२-
२८३

गण्डरादित्य (शिलाहारवंशीय-
राजा) २६८

गयासुद्धीनतुगलक २१५

गर्दभिल्लअणगार ८५

गुणधर (श्रेष्ठी) २२२

गुणराज (श्रेष्ठी) २०७

गोतिपुत्र १०१

गोविन्द 'तृतीय' (राष्ट्रकूटवंशीय-
राजा) २६४

चण्डप्रद्योत (उज्जयिनी नरेश)
९०

चण्डिसिंह १७६

चन्द्रगुप्तमौर्य २९, ३१, १३०,
१३३, २८७

चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ३४

चन्द्रदेव (गहड़वालशासक) ८०,
९३

चाणक्य १३०

चामुण्डराज (चौलुक्यवंशीयशासक)
५१, २०९, २११

चाहड़ २११

जगड़शाह ५४

जगसिंह १६

जयतुगी १५२

जयदामन (क्षत्रपवंशीय शासक)
३३

जयभट्ट 'प्रथम' (चापोत्कटवंशीय-
शासक) ४९

जयसिंहसिद्धराज (चौलुक्यसम्राट)
५१-५३, २०९, २१४, २१६,
२१८, २२४-२६, २३५, २५८,
२६५

जयसिंह (परमारनरेश) १५१-
१५२

जसवती ८५

जावड़ २५३-५४

जितशत्रु ११२, ११४, १३२, २७३

जिनचन्द्र ५७

जितला २६५

जेसलशाह ५८

जैत्रसिंह २६६

जोगराज २०९-१०

झांझड़ ५५

ठक्कुरअचल १७

दद्द 'द्वितीय' (चापोत्कटवंशीय
शासक) ४९

दधिवाहन १२६, १२८

दशरथ ७७, २००

दुमुह ८८

दुर्जनशाल २५९

दुर्लभराज (चौलुक्यशासक) ५१,
२०९

तेजपाल १७६, १७९, २१५-१७,
२३८, २४१

तेवणीपुत्र १०१

तोरमाण (हूणनरेश) ३३

त्रिभुवनपाल (चौलुक्यवंशीय
शासक) २११
त्रिशला १२२
देपाल २१७
देवदत्ता १३०, १३४
देवराय 'प्रथम' ४५
देवराय 'द्वितीय' ४५
देशल ५४
द्रुपद ८६
द्रौपदी ८८
धरसेन 'द्वितीय' (मैत्रकवंशीय
शासक) २२८
धर्मदत्त १३२
धांधल १९१, १९५, १९९
धारिणीदेवी ११२
ध्रुवसेन ४८
ध्रुवसेन 'प्रथम' २३६, २४८
ध्रुवसेन 'द्वितीय' २२१
ध्रुवसेन 'तृतीय' २२०
नन्द १०५, १०७
नन्दराज ३१
नवधन २१८
नागादित्य १८९
नागभट्ट 'द्वितीय' (प्रतिहार
शासक) ३५
नागावलोक ३५
नानक (कवि) ५३
नाहड़राय २०२-३
पद्मवती १२६
परमर्दी २७०
पालक ११२

पालित्त (श्रेष्ठी) १२६, १२८
पालहणपुत्र (कवि) ५४
पिंढर ८५
पिण्डिमकुण्डिराज (काकतीय
शासक) २८२
पुलकेशिन 'द्वितीय' ४२
पुष्पचूला १२९
पृथ्वीदेवी १०५
पृथ्वीराज 'प्रथम' ३९
पेयड़शाह १६, ५४-५५, १९०,
२४२, २५३, २७२
प्रतापरुद्रदेव २८२
प्रभावती १३७
प्रियदर्शना ११२
प्रोल 'द्वितीय' २८२
प्रोल्लराज (काकतीय शासक)
२८२

भौगोलिक नाम सूची

(क) नगर-ग्रामादि
अंगदिका २१
अङ्ग जनपद १२५
अउज्ज्वा ७५
अजमेर ३९
अजारी १७४, २०७
अजाहरा २२, ७०, १७०, २०७
अणहिल्लपुर ७०, १७४, २०८,
२१०, २२४, २२६, २६३
अणहिलवाड़ ५५, २०४, २२७
अथुर्णा ८४
अनतपुर ४४

अपापापुरी १३५
 अमरकोण्ड ७२
 अम्बुरिणीग्राम २१, ५३, ७०,
 १७४, २०८
 अयोध्या २१-२२, ६८, ७४-७५,
 ७९-८०, २००
 अर्कस्थल ९९
 अर्बुदगिरि ५५, ७०, १७४-७६,
 २२३
 अर्बुदमण्डल १९८, २०९
 अवज्ज्ञा ७५
 अश्ववावबोध ७१, १७४, २१२
 अष्टापद २०-२१, ७२
 अहिच्छत्र २२, २७, २९, ६८, ७४,
 ८१, ८३-८५
 आनन्दपुर २३६ ३७, २५८
 आंध्र ३१
 आबू ५, ५१, १७६-७७, १९७,
 १९९
 आमरकोण्ड ७२, २८१-८२
 आमरण १७४, २०८
 आरंग ४०
 आलंभियानगरी २८
 आशापल्ली २०२
 इक्ष्वाकुभूमि ७५
 इलाहाबाद ९२
 इसीगिरी १२५
 ईडर २३३
 उग्रसेनगढ़ २३०
 उज्जैन ५, ५७

उज्जयिनी ३१-३२, १५२, १५४,
 १५६, १५९
 उत्तरापथ ६६
 उदयपुर १७३, २०७
 उपकेशपुर २२, ७०, १७४, १७९-
 ८१, १८३-८४
 उज्जयन्त ६५
 उज्जयन्तगिरि ४६-४७, ७१, १७४,
 २१६
 उवएसपुर १८०
 ऊकेश १८०
 ऊना २०७
 ऊर्जयन्त १४७
 ऋषभपुर १४०
 ऋषिगिरि १४०
 ऐहोल ८४
 ओंकारेश्वर ६९-७०, १५२-५३
 ओसिया ३५, ७०, १८०-८१,
 १८४
 कच्छ ५४
 कनपुर १३७
 कन्नड़देश २८४
 कन्नौज २०८
 करहेटक २२, ७०, १७४, १८४
 करेड़ा १७४, १८४
 कर्णावती ५५
 कर्नूल ४४
 कल्याणकटक २७०
 कलिङ्गदेश २१, ६९, १४८-४९
 कलिकुण्डनागहूद २२
 कांचनपुर १४८

कांची ४४
 कान्तिपुरी ७९
 कामिकवन ९९
 काम्पल्य २२, २७, ६८, ७४, ८५-
 ८७, ८९
 कायंद्रा २२३
 कायाद्वार २१
 कालिञ्जर १६१
 कालिञ्जरतीर्थ ९९
 काशहृद २१, ७१, १७४, १९७,
 २२०-२४
 काशी ८६, १०४ १०६
 काश्मीर २१६
 किष्किन्धा २२, ७२, २६७, २८६
 कुंभारिया ५
 कुक्कुटेश्वर २२, ७३
 कुण्डग्राम २२, ६९
 कुण्डुगेश्वर ६९
 कुमुदवन ९९
 कुल्पाक ७२, २८४
 कुण्डग्राम १२१-२३
 कुण्डलपुर १२२
 कुम्भकारकडनगर ११२
 कुरुक्षेत्र ११८
 कुरु-जाङ्गल ८१
 कुणाला १११-११२
 कुशला ७५
 कुशस्थल ९९
 कुशस्थली २३५
 कुशाग्रपुर १४०
 केथुली १७१

कोंकण २७९-८०
 कोटिभूमि २२, १४७
 कोटिवर्ष ६९, १४७
 कोटिशिला ६९, १२१, १२३-२५
 कोथड़ी १७१
 कोरंटवन ११२
 कोलवन ९९
 कोल्लपाकपत्तन २१
 कोल्हापुर २१, २३, ७१-७२, २६७-
 ६८
 कोल्हुआ पहाड़ १४५
 कोशल ९, ६६, १०३
 कोसम ९१-९२
 कोहला १७१
 कौशाम्बी २१, २७, ४०, ६८, ७४,
 ८९-९२, ११२
 क्रौञ्चद्वीप २१, ७३
 क्षत्रियकुण्डपुर १२२
 क्षितिप्रतिष्ठपुर १४०
 खङ्गारगढ़ २१, ७१, १७४, २३०-
 ३१
 खंभात ४९, ५४, ५८, ७१, २०९,
 २६४
 खजुराहो २४-२५, ३७
 खादिरवन ९९
 खम्भायत २६४
 खरेला २७८
 खेटक ४९, ७१, १७४, २२८-२९
 खेटक मण्डल २२८
 खेड़ २२
 खेड़ा ७१, १७४, २२९
 खैय्यात २६४

गंगाहृद २२	चैनपुर १७१
गजनी २०३	छतरपुर २४
गजाग्रपद ६५	जंभियग्राम २८
गिरनार २०, ४७, ४९-५०, ७१, १४३, १७४, २१६-१७, २६३	जगई १३५, १३८
गिरिनगर ४७	जगथाण २७०
गुन्दूर ४४	जनकपुर १४०
गोकुल ८५	जनकस्थान २७०
गोधरा १५७	जम्बूद्वीप ८१, ८५
गोहृद १५७	जालौर १७९, २०५
ग्यारसपुर ८४, १७३	जीर्णदुर्ग २३०
ग्वालियर ४०	जूनागढ़ ४७, ७१, १७४, २०७, २३०
घुसइ १७१	झांसी २४
चक्रतीर्थ ९९	टंका २२
चणकपुर १४०	डाकिनीभीमशंकर २२, ७१-७२, २६७, २६९
चन्देरी २१, ३७, ६९-७० १५०, १६०-६५	ढींपुरी २०, १५०, १६५, १६८
चन्द्रपुर १६२	तक्षशिला २१
चन्द्रपुरी ९२, १०६, ११०	तलाजा ५३
चन्द्रावती २१, ५५, ६८-६९, ७४, ९२-९४, १६१, २०४	ताम्रलिप्ति २६४
चमरोत्पात ६५	तारङ्गा ४९, ५५, १७४, २३१, २३४
चम्पा २२, ८७	तारण २१, ७१, १७४, २३१
चम्पापुरी २२, ६९, १२१, १२५, १२९	ताराउर २३१
चांदपुर ३७	तारापुर २३१
चिउंगलदेश २७६	तारापुरनगर २३४
चित्तीड़ २०५	तारावरनगर २३१
चित्रकूट ५५, १५७, २०२	तालवन ९९
चित्रकूटमंडल १५६	तीरभुक्ति १२५, १३८
चिप्पगिरि ४५	तिरहुत १२५, १३७
	तीर्थराज २५२

तुंगिया नगरी २७
 तेजलपुर २१६
 तैलङ्गदेश २८१, २८४
 त्रिकूटगिरि २२, ७२
 त्रिपुरी ४०
 थरपाकर ७२
 थामणा ७१
 दक्षिणमथुरा ४३
 दर्भावती २६३
 दर्शाणजनपद १७१
 दशपुर २१, ७०, १५०, १६९-७१
 दातारग्राम १४६
 दिल्ली १६
 दुधई ३७
 दुर्जनपुर १७३
 दूबकुण्ड ४०
 देवगढ़ २४, ३७
 देवगिरि १९, १६८
 देवपत्तन ५२, २४०
 देववागणसी १०६, १०९
 दौलताबाद १६, १६८
 द्वारका २२, ४९, ७१, १७४, २३५,
 ३५७
 द्वारवती ४९
 द्वारिका २२
 धनपुर ४०
 धवलक्क २६३, २६५
 धार २०४
 धारवाड़ २८८
 धारा ३८
 धारासेणकग्राम ७५

नगर २३६-३७
 नगरमहास्थान २१, ७१, १७४,
 २३६
 नन्दिग्राम १८६
 नन्दिपुर १८६
 नन्दिवर्धन २२, ७०, १७४, १८५
 नन्दूरीपुर ५४
 नांदिया ७०, १७४, १८५
 नागदा ७०, १७४, १८९
 नागहृद १७४, १८९
 नागहृदतीर्थ १८९
 नागहृदेश्वर १८९
 नाडोल ४०
 नाणा ७०, १७४, १९१, १९४
 नाना १७४, १९१
 नालन्दा २८, १२१, १३५, १४०
 नासिक ७१, २६७, २७०
 नासिक्य २१, ७१
 नेपाल २९
 नेल्लोर ४४
 पंचकल्याणकनगर ८५-८६
 पणियभूमि २८
 पद्मपुर ४०, २७०
 पद्मस्थल ९९
 पम्पा २८६
 पल्ली ७०, १७४
 पांचाल ८५
 पाटलानगर २२, ७१, १७४, २३८-
 ३९
 पाटलिपुत्र ६९, ९५, १२१, १२९,
 १३१-३४

पाडलीपुत्र २९
 पाताललंका २२, ७३, २८६
 पापवतीनगरी २६४
 पारस्कर २१, ७२
 पाली २२, ७०, १७४
 पावा २२, २८, १३६
 पावापुरी २०, १२१, १३५-३६
 पिट्ठिचम्पा ८६
 पीडवाड़ा २०७
 पुण्डरीक २५३
 पुण्ड्रपर्वत २२, १४७
 पुण्ड्रवर्धन ३६, ३९
 पुरिकरनगर २८८
 पुरिगेरे २८८
 पुरिमताल २१
 पुलिगेरे २८८
 पुष्पभद्रपुर ९५
 पूरागिलाना १७१
 प्रतिष्ठान २१, २६७, २७२-७५
 प्रतिष्ठानपुरी २१२
 प्रभास २१, २४०, २४३
 प्रभासपाटन ७१, १७४, २४०-४१
 प्रयाग २१-२२, ६८-६९, ७४,
 ९५-९६
 प्रह्लादनपुर ५५
 फर्ख़ाबाद ८९
 फलवर्धिका ७०, १७४, १९५
 फलौधी २२, ७०, १७४, १९५,
 १९७
 बढवाण ५०
 बटेश्वर ११७
 बडोह १७३

वत्स जनपद ८९
 बरेली ८५
 बलभी २२८
 बागड़ २०२
 बालापुर ५५
 बाहुबलि (शत्रुञ्जय का एक नाम)
 २५२
 बीजापुर ५४
 बूहीचन्देरी ३७, १६२-१६३
 बृद्धनगर २३६-३७
 बेलग्राम ४३
 बेल्लारी ४४
 ब्रह्मगिरि २७०-७१
 ब्राह्मणकुण्डग्राम १२२
 भड़ौच २६४
 भद्रियानगरी २८
 भद्रिलपुर १४५
 भरुअच्छ २१२
 भरुकच्छ २१२
 भरुच २१०
 भाइलस्वामिगढ़ १७२
 भाइलस्वामिन १७२
 भावनगर ५, २६१
 भातुण्टक २२
 भारुकच्छ २१२
 भुवनेश्वर ३१
 भृगुकच्छ ४९, १५३, २१२, ७३२,
 २८०
 भृगुपत्तन २२
 भृगुपुर २६३
 भोगावतीनगरी २६४

भोदलगांव १४५
 मंगलपुर १५०-५२
 मगध २९, ३१
 मचलपुर १७१
 मदनवाराणसी १०६, १०९
 मथुरा ११, १७, २१-२२, २७, ३१,
 ३३, ४०, ६६, ६८, ७४, ८५,
 २४८
 मदनपुर ३७
 मदुरा ४३-४४
 मधुमतीनगरी २२८, २५३
 मधुवन ९९
 मन्दसौर १६९
 मरुदेश २६
 मल्हार ४०
 महानगर ७३
 महानगरी २१
 महाराष्ट्र १६, ३१
 महाराष्ट्र मंडल १६
 महावन ९९
 महीनगर २६४
 महोबा ३७
 माण्डवगढ़ १९०, २४२
 माण्डवदुर्ग ५५
 मांधाता १५३
 माणिक्यदंडक २२, ७३
 मालवा ३१
 मिथिला २८, ६९, १२१, १३७,
 १३९, १४०
 मुंगथला ७०, १७४, १९८
 मुंगावली १६३

मुक्तिनिलय २५३
 मुण्डस्थल २२, ७०, १७४, १९८
 मूडबिंद्री २६८
 मेड़तानगरी १९५
 मेलकूट २६८
 मेहसाणा २०२
 मैसूर २९
 मोक्षतीर्थ २१, ७३
 मोढ़ेर २२
 मोढ़ेरक ७१, १७४, २४३
 मोढ़ेरा ४९, ७१, १७४, २४३,
 २४५
 मोहिलवाड़ी १५
 योगिनीपत्तन १८
 रत्नपुर ४०
 रत्नवाहपुर २२, ६८, ७४, १०३-४
 राजगृह २२, २७-२८, ११२, १२५-
 २६, १२८, १४०-४२, २५७
 राजधानी वाराणसी १०६, १०९
 राणकपुर २०७
 राधनपुर ५, २५८
 रामनगर ८५
 रामसैन २२, ७१, २४५-४६
 रामसैन्य २४६
 रामापुरी ७५
 रोहगुप्त ८७
 लंका २२, २८६
 लक्ष्मेश्वर तीर्थ २८८
 लछुआड़ १२२
 लवणखेट २२९
 लाट १५३

लुम्बिनी ६४
 लोहवन ९९
 वडनगर ७१, १७४, २३६-३७
 वडसम ५१
 वढवाण ४९
 वणियग्राम २८
 वत्स १६१
 वरनगर १७३
 वरमाण २०९
 वलभी २१, ४८-४९, ७१, १७४,
 २०३, २४७-५०
 वादामी ४२, ८४
 वामनस्थली २०२
 वायड २२, ४९, ७१, १७४, २५०,
 २५२
 वायडमहास्थान २५१
 वाराणसी २१-२२, ६८, ७४, ९३,
 ९४, १०४-१०६, १०८, ११०,
 २६९
 विजयवाराणसी १०६, १०९
 विदिशा ७०, १५०, १५२, १७१-
 ७३
 विदेह १२२
 विनीता ७५
 विपुलगिरि १४०
 विमलाचल २५२
 विल्ववन ९९
 विशाखापत्तनम् ४४
 विश्रांतिक तीर्थ ९९
 वीतभयपत्तन २२
 वीतभयपुर ७२

वीरस्थल ९९
 वैशाली २८, १२२-२३
 शंखजिनालय २२
 शंखपुर ४९, २५७
 शंखावती ८१
 शंखेश्वर ५, ४९, ७१, २३९, २५८
 शाकपाणि २२
 शाकम्भरी ३९
 शुक्तमती १६१
 शुद्धदन्ती ७०, १७४, २००-२०१
 शूकरक्षेत्र ८५-८६
 शूरसेन ९८
 शौरीपुर २२, ६९, ११५-१६
 श्रवणबेलगोला ४१, ४४-४५, ७२,
 २६८, २८७
 श्रावस्ती २१, २८, ४०, ६९, १११-
 १२
 श्रीपुर २२, ७२, २६७, २७६
 श्रीमाल २०४
 श्रीमालपत्तन २२
 श्रीरत्नमालनगरी १७५
 श्रीलंका ७२
 सठियांव १३६
 सत्यपुर २२, ७०, १७४, २०२,
 २०४, २०६
 सन्धारा १७१
 सपादलक्ष १९५
 सरस्थान २२, ७३
 सहेट-महेट ११५
 सांचौर ७०, १७४, २०२, २०६
 साकेत २७, ७५-७६

सिंहपुर २२, ४९, ७१, २६१
 सिंहलद्वीप २१, ७२, २१२
 सिद्धक्षेत्र २५२
 सिद्धवरकूट १५३
 सिन्धु ७२
 सिन्धुदेश १२५
 सिन्धुसौवीर १७०
 सिरपुर ४०, ७२
 सिरोंज ३७
 सिवाना २०५
 सिहोर ४९
 मुन्दन्ती ४३
 मुष्पारिक २७९
 सुवर्णभूमि २८०
 सूर्पारिक २१, ७२, २६७, २७९
 सेगमतीग्राम २१
 सेरिसयपुर ७५
 सोजत ७०, १७४, २०१
 सोपारक २७९
 सोपारग २७९
 सोपारा ७२
 सोमेश्वरपत्तन २४२
 सोरपारक २७९
 सोहावल १०४
 सौरपारक २७९
 सौराष्ट्र ३१
 स्तम्भतीर्थ २२, ४९, ५७, ७१,
 २६३-६५
 स्तम्भनक २२, ४९, ७१
 स्तम्भनकतीर्थ २६२-६३
 हंसद्वीप २१, ७३

हर्षपुर २२१
 हस्तिनापुर १७, १९-२०, ६९, ७४,
 ८९, ११७-२०
 हाटकेश्वरतीर्थ २३७

भौगोलिक नाम सूची

[ख] नदी-पर्वत
 अचिरावती ११५
 अटेर १६२
 अर्बुद १७५
 अष्टापद ६५, ७७, २८३
 उदयगिरि १७३
 उज्जयन्तगिरि ५२
 ओंकार पर्वत २२, १५०-५१
 ऋजुवालिका २८
 कालगिरि १२६
 कालशिला १२५
 कैलाश २२, ७२
 खण्डार पहाड़ी १६२
 गंगा १०५-१०६, १२०, १२९
 गंगा-यमुना ९५
 गिरनार ५५
 गुरिल का पहाड़ १६२
 गोदावरी २७१, २७३
 गृद्धकूटगिरि १४०
 घाघरा १०३
 चर्मणवती १६६-६८
 ठंकपर्वत २६२
 दर्शाणपर्वत १२४
 नर्मदा १५३, २१२
 पाण्डवगिरि १४०
 पारसनाथहिल १४५-४६

पुण्ड्रपर्वत १२१
 बेतवा १६०
 मलयगिरि २१-२२, ७२
 मंदाकिनी १७५-७७
 माहेन्द्र पर्वत १२१, १४८-४९
 रणथम्भौर ३९
 राप्ती ११५
 रोहणाचल २२
 लूणी २०६
 विन्ध्याचल २१-२२, ६८-६९, ७४,
 ११०
 वैभारगिरि ६९, १२१, १४०-४२
 शत्रुञ्जय ४९, ५५, ५८, ७१,
 १४३, १४७, २०७, २३९,
 २५२-५६
 श्रीपर्वत २२, ७२, २६७, २८१,
 २८५-८६
 श्रीशैलपर्वत ७२, २६९, २८५
 सम्मेतशिखर ६९, ११७, १२१,
 १२५, १४२, १४५-४६
 सरयू ७१, १०४
 सरस्वतीनदी ९५
 सह्याद्रिपर्वत २६९
 सेढीनदी २६२
 सिद्धशिखर २५३
 सिद्धिपर्वत २५३
 हिमाचल २२
 हिमालय १७५

भौगोलिक नाम सूची

[ग] मंदिर-चैत्यादि
 अनिसेज्जयवसति २८८

अष्टापदजिनालय २५३
 अष्टापदप्रासाद २४१-४२
 अष्टापदसम्मेतशिखरमंडप २१६
 आमदत्तमंदिर २१४
 आसराजविहार २१६
 उदयनवसही २६५
 कंकालीटीला ३३
 कपर्दिनिवास २५३
 कुमरसरोवर २१६
 कोकावसतिपार्श्वनाथचैत्य २२५-
 २६
 कोकावसति ७१
 कोष्ठकचैत्य ११४
 गुणशीलचैत्य १४०, १४२
 गूढमहाकालमंदिर १५५
 गोमिगयवसति २८८
 गोमुखकुण्ड १७६
 घृतवसही २२४
 चण्डिकाभवन ८१
 चन्द्रगुहा ४७
 जिनवरविहार ३८
 जेतवनविहार ११४
 तिन्दुकउद्यान १०५, ११२-१३
 तीर्थवसति २८८
 दण्डखाततालाब १०६, १०९
 देवनिर्मितस्तूप ६६, ९८-९९
 द्वारकाधीशमंदिर २३६
 धर्मक्षास्तूप १०६, ११०
 धवलजिनालय २८८
 नेमिनाथप्रासाद २६३
 नेमिनाथवसति ४५
 पार्श्वनाथवाटिका ७५

पूर्णभद्रचैत्य १२६
 ब्रह्मकुण्ड ८१
 बाबाप्यारामठ ४७
 महाकालमंदिर २२, १५४, १६०
 मुक्करवसति २८८
 राचमल्लवसति २८८
 लक्ष्मीधरचैत्य ८७, १३७, १३९
 लूणवसही ५८, १७६, १७९, १९९
 वशिष्ठाश्रम १७५-७६
 विमलवसही ५१, ५८, १७५, १७७-
 १७९
 शंखजिनालय २६७, २८६-८७
 शंखवसति २८८
 शकुनिकाविहार १५३, २१५

शत्रुञ्जयावतारमंदिर २१६
 शान्तिनाथजिनालय २८८
 शावन्तवसति २८८
 श्रीविजयवसति २८८
 सत्यपुरीयावतारमंदिर २०६, २५३
 सहस्त्रधारा ७५, ८०
 साकल्लकुण्ड १३७
 सामलियाविहार २४१
 सिंहपल्ली १६६
 सीताकुण्ड ७५, ८०
 स्वर्गद्वार ७५, ८०
 हाथीगुम्फा २९, ३१
 हिख्यगर्भ ८१



लेखक परिचय

डॉ० शिवप्रसाद का जन्म सन् १९५७ में वाराणसी में हुआ । आपकी शिक्षा भी वाराणसी में हुई । आपने १९७७ ई० में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग से प्रथम श्रेणी में एम० ए० और १९८३ ई० में पी-एच० डी० की उपाधि प्राप्त की । आप अपने शोधकार्य के समय से ही पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान से जुड़े रहे तथा संस्थान में सह-शोधाधिकारी के रूप में कार्य किया । सम्प्रति आप विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के रिसर्च एसोसिएट के रूप में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व विभाग में "श्वेताम्बर श्रमणों के गच्छों के इतिहास" पर शोधकार्य में संलग्न हैं । आपके कई शोध-पत्र विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं ।